नवीनतम पाठ्यक्रम पर आधारित

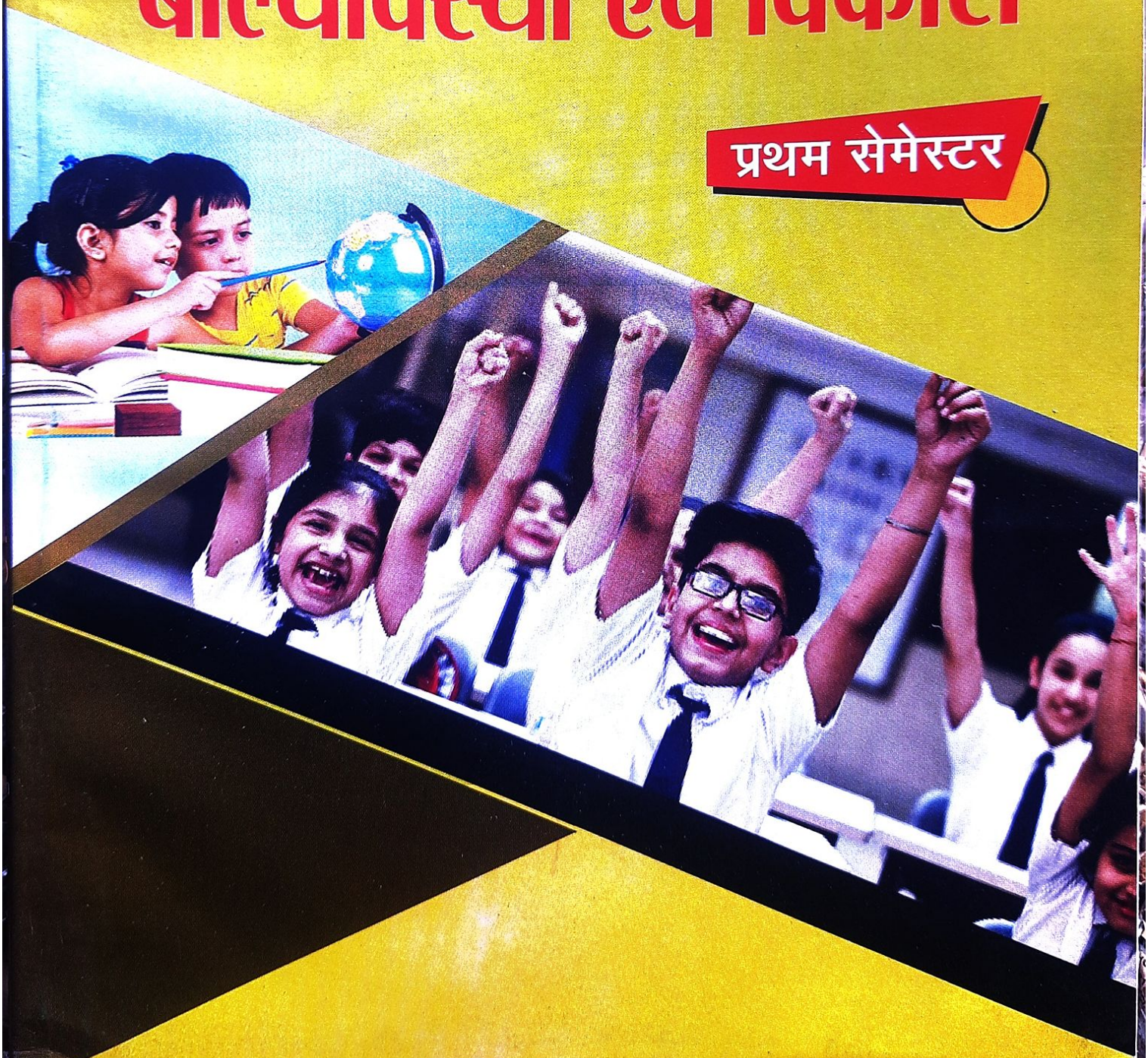
Navbodh
मध्यप्रदेश संस्करण

नवबोध

बी.एड. सरल अध्ययन

बाल्यावस्था एवं विकास

प्रथम सेमेस्टर



पाठ्यक्रम

बाल्यावस्था एवं विकास (म.प्र.)

बी. एड. प्रथम सेमेस्टर

M.M. 75

CC1 : CHILDHOOD & GROWING UP

Unit 1. Perspectives in Development

- Concept, Meaning, Scope and Function and Educational Psychology.
- Introduction to development : Concept and introduction to perspectives in development, humanistic psychology and development theory.
- Enduring themes in the study of development : Development as multidimensional and plural; Development as continuing through the life span; ways in which development is continuous/ discontinuous ?; Socio-cultural contexts influencing development.
- Gathering data about children from different contexts : Naturalistic observations; interviews; reflective journals about children; anecdotal records and narratives; clinical methods with reference to piaget.
- Method : Longitudinal, Cross Sectional, Sequential, Cohort methods : Biographical, Case study and Observational method.

Unit 2. Stages of Human Development

- Child as a developing individual; a psycho-social entity; stages of development.
- Developmental characteristics of a child and an adolescent : Physical, cognitive, social, emotional, moral and language; their interrela-tionships.
- Developmental tasks of childhood and adolescence and their implications.
- Factors influencing development such as heredity and environment, media, nutrition, child-rearing practices, siblings and peers.
- Commonalities and diversities within the notion of childhood and how multiple childhoods are constructed with particular reference to the indian context-living in an urban slum, growing girl and growing up in dalit household.

Unit 3. Social and Emotional Development

- Basic understanding of emotions, how differential gender socialization occurs.
- Personality development : Freud; psycho-social development-Erikson; influence of early childhood experiences on later personality.

- Social theories and gender development : Meaning of gender roles; influences on gender roles, stereotypes, gender in the playground.
- Development of emotions : Functions of emotions, attachment-Bowlby.

Unit 4 : Contexts of Socialization

- Concept of socialization : Family and child relationships; parenting, child rearing practices.
- Schooling : Peer influences, school culture, relationships with teachers, teacher expectations and school achievement; being out of school, overage learner.
- Relationships with peers : Friendships and gender; competition and cooperation, competition and conflict; aggression and bullying from early childhood to adolescence.
- Social, economic and cultural differences in socialization : Implications for inclusion.

●●●

प्रश्न-सूची

बाल्यावस्था एवं विकास (म.प्र.)

बी. एड. प्रथम सेमेस्टर

प्र.क्र.	विवरण	पृष्ठ सं.
	इकाई 1. विकास में परिप्रेक्ष्य	
	वस्तुनिष्ठ प्रश्न	11
	लघु एवं दीर्घ उत्तरीय प्रश्न	
1. (a)	शिक्षा मनोविज्ञान की अवधारणा को स्पष्ट करें।	11
1. (b)	मनोविज्ञान एवं शिक्षा मनोविज्ञान में अंतर स्पष्ट कीजिए।	12
2.	शिक्षा मनोविज्ञान का महत्व स्पष्ट करें।	12
3.	शिक्षा मनोविज्ञान की प्रकृति लिखिए।	14
4.	शिक्षा मनोविज्ञान का क्षेत्र स्पष्ट कीजिए।	14
5.	एक अध्यापक के लिए शिक्षा मनोविज्ञान का ज्ञान क्यों आवश्यक है ?	15
6.	शिक्षा मनोविज्ञान के विभिन्न कार्यों की संक्षिप्त में व्याख्या कीजिए।	16
7.	शिक्षा में शिक्षा मनोविज्ञान के कार्य समझाइए।	18
8.	अभिवृद्धि एवं विकास से क्या आशय है ?	19
9.	वृद्धि या अभिवृद्धि एवं विकास में अंतर स्पष्ट करें।	20
10.	वृद्धि एवं विकास के विभिन्न सिद्धांत और उनके शैक्षणिक महत्व की चर्चा कीजिए।	21
11.	विकासात्मक मनोविज्ञान पर टिप्पणी लिखिए।	22
12.	शारीरिक, संज्ञानात्मक, सामाजिक, संवेगात्मक, नैतिक तथा भाषात्मक विकास में संबंध लिखिए।	24
13.	विकास के सामान्य सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।	26
14.	विकास के अन्तर्गत सामाजिक व सांस्कृतिक संदर्भों का महत्व लिखिए।	27
15.	विकास बहुआयामी एवं एकाधिक होता है। बताइये।	28
16. (a)	"विकास एक बहुआयामी तथा बहुमुखी प्रक्रिया है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।	29
16. (b)	विकास की अवस्थाओं के वर्गीकरण की व्याख्या कीजिए।	30
17.	मैसलो द्वारा प्रतिपादित आवश्यकताओं के पदानुक्रमिक मॉडल का वर्णन कीजिए।	32
18.	विकासात्मक कार्य (Developmental Task) से क्या आशय है ? स्पष्ट कीजिए।	33
19.	एक शिक्षक के लिए मानव विकास एवं अभिवृद्धि का अध्ययन क्यों आवश्यक है ?	34
20.	कोहलबर्ग के अनुसार नैतिक विकास के चरण कौन–कौन से हैं ?	35
21.	बेन्डूरा का "सामाजिक व्यक्तित्व विकास सिद्धांत" लिखिए।	36
22.	बालकों के विषय में आँकड़े एकत्रित करने की प्राकृतिक निरीक्षण विधि को स्पष्ट कीजिए।	38
23.	आँकड़ें एकत्रीकरण के लिए साक्षात्कार विधि के उपयोग पर प्रकाश डाले।	39
24.	साक्षात्कार (Interview) क्या होता है ? साक्षात्कार विधि पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।	41
25.	बच्चों के बारे में चिंतनशील पत्रिका (Reflective journal about children) से आप क्या समझते हैं ?	42

26.	आकस्मिक/एनेकडोटल/उपाख्यानात्मक अभिलेख को समझाइये।	43
27.	पियाजे के अनुसार बालक के संज्ञानात्मक विकास की विवेचना कीजिए तथा इसका शैक्षिक निहितार्थ लिखिए।	44
28.	बालक के विकास प्रक्रिया को समझने में जीन पियाजे के योगदान का संक्षेप में परिचय दीजिए।	46
29.	अन्तर्दर्शन अवलोकन/आत्म–निरीक्षण विधि का अर्थ स्पष्ट करते हुए इनके गुण एवं दोषों का वर्णन कीजिए।	47
30.(a)	अनुदैर्ध्य उपागम/विधि (Longitudinal Method) का अर्थ स्पष्ट करते हुए इस विधि के गुण एवं दोष की व्याख्या कीजिए।	48
30.(b)	प्रदत्त संकलन हेतु अनुदैर्ध्य और अनुप्रस्थ विधि से आप क्या समझते हैं? वे एक–दूसरे से कैसे भिन्न हैं ?	49
31.	प्रतिनिध्यात्मक विधि (Cross-sectional Method) का अर्थ स्पष्ट करते हुए इस विधि के गुण एवं दोष की व्याख्या कीजिए।	50
32.	निरीक्षण/अवलोकन विधि का अर्थ स्पष्ट करते हुए इस विधि के गुण एवं दोष की व्याख्या कीजिए।	50
33.	प्रेक्षण विधि के द्वारा बच्चों की जानकारी एकत्रित करने की प्रक्रिया को बताइये।	52
34.	"प्रयोगात्मक विधि एक प्रकार की नियन्त्रित निरीक्षण विधि है।" समझाइए।	53
35.	मनोविज्ञान में नैदानिक विधि (Clinical method) से आप क्या समझते हैं ?	54
36.	अनुक्रमिक डिजाइन विधि को समझाइए।	55
37.	दस्ता विधि को समझाइये।	56
38.	जीवनी (Biography) विधि की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं ?	56
39.	जीवन–इतिहास विधि का संक्षेप में वर्णन कीजिए।	57
40.	एक शिक्षक के रूप में आप किस प्रकार के छात्रों के लिए केस स्टडी (Case Study) का तरीका पसंद करेंगे ? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।	58
41.	निर्देशन को परिभाषित कीजिए। यह परामर्श से किस प्रकार भिन्न है ? निर्देशन की विशेषताएँ लिखिए।	59
42.	व्यावसायिक निर्देशन को परिभाषित कीजिए। भारत में व्यावसायिक निर्देशन की आवश्यकताओं पर प्रकाश डालिए।	60
	इकाई 2. मानव विकास की अवस्थाएँ	
	वस्तुनिष्ठ प्रश्न	62
	लघु एवं दीर्घ उत्तरीय प्रश्न	
1.	बचपन की अवधारणा को बताइए तथा उसकी विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।	62
2.	बालक के अभिवृद्धि एवं विकास के विभिन्न आयामों पर प्रकाश डालिए।	63
3.	बच्चों के शारीरिक विकास में शिक्षक की भूमिका की विवेचना कीजिए।	64
4.	बालक के सर्वांगीण विकास में खेल की अहम् भूमिका है। इस कथन की पुष्टि कीजिए।	65
5.	"बाल्यावस्था जीवन का अनोखा काल है।" स्पष्ट कीजिए।	66
6.	बाल्यावस्था में शारीरिक विकास का वर्णन कीजिए।	68
7.	नैतिक विकास से क्या आशय है ? नैतिक विकास के सिद्धान्त की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।	70
8.	नैतिक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए।	72
9.	बालकों के नैतिक विकास में शिक्षक की भूमिका स्पष्ट कीजिए।	73
10.	बालक के विकास पर माता–पिता के व्यक्तित्व, अभिवृत्तियों और व्यवहार का क्या प्रभाव पड़ता है ?	73

11.	ऐसी दो अवस्थाओं का वर्णन कीजिए जिसमें अभिभावकों को बच्चों के साथ विश्वास स्थापित करने की अधिक आवश्यकता पड़ती है।	74
12.	शैशवावस्था में मानसिक विकास का वर्णन कीजिए।	75
13.	किशोरावस्था की प्रमुख समस्याओं का उल्लेख कीजिए।	76
14.	विभिन्न प्रकार के विकासों में आपसी सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।	78
15.	विकास को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों की विस्तृत विवेचना करें।	79
16.	विकास पर सहपाठियों के प्रभाव का वर्णन कीजिए।	80
17.	संवेगात्मक विकास की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।	81
18.	आपके अनुसार बालक के लालन–पालन की कौन–सी विधि सर्वश्रेष्ठ है, क्यों ?	82
19.	किशोरों की विकासात्मक विशेषताओं का वर्णन कीजिए, संज्ञानात्मक विकास के चरणों के शैक्षिक निहितार्थ की चर्चा कीजिए।	83
20.	विकास की विभिन्न अवस्थाओं में गामक विकासक्रम का उल्लेख कीजिए।	84
21.	गामक क्रियाओं के विकासक्रम को विस्तार से समझाइये।	85
22.	बालक के शारीरिक गत्यात्मक विकास में खेलों की भूमिका का वर्णन कीजिये।	88
23.	गामक कौशल कितने प्रकार के होते हैं ? प्रत्येक पर टिप्पणी लिखिए।	88
24.	गामक विकास का बालक के विकास में क्या महत्व है ?	88
25.	गामक विकास की विशेषतायें लिखिये।	89
26.	बच्चे/हम भाषा का उपयोग किन–किन उद्देश्यों के लिए करते हैं ? दो उदाहरण देकर समझाइए।	89
27.	तर्क देकर समझाइए कि "भाषा संस्कृति का हिस्सा है।"	90
28.	"भाषा बच्चों के व्यक्तित्व विकास पर सीधा असर डालती है।" समझाइये।	90
29.	किशोरावस्था की प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।	90
30.	किशोरावस्था में आने वाली समस्याओं के समाधान में एक शिक्षक की क्या भूमिका होती है ?	91
31.	मानव विकास को प्रभावित करने वाले कारकों की व्याख्या कीजिए।	92
32.	"किशोरावस्था भीषण तनाव, तूफान और संघर्ष की अवस्था है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।	93
33.	किशोरावस्था में शारीरिक विकास की प्रमुख विशेषताऐं लिखिए।	93
34.	शैशवावस्था की प्रमुख विशेषताएँ बताइये।	95
35.	किशोरावस्था के प्रमुख विकासात्मक कार्यों का वर्णन कीजिए। शिक्षा के लिए विकासात्मक कार्यों का औचित्य भी बताइए।	96
36.	किशोरावस्था में शिक्षा का स्वरूप किस प्रकार का होना चाहिए ? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।	96
37.	विभिन्न अवस्थाओं में होने वाले शारीरिक विकास के विषय में एक निबंध लिखिए।	97
38.	भाषा विकास को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों की विस्तृत विवेचना कीजिए।	102
39.	बाल्यावस्था में शैक्षिक विकास के संदर्भ में विचार में लिए जाने वाले बिन्दुओं का उल्लेख कीजिए।	104
40.	किशोरावस्था में कौन–से शारीरिक परिवर्तन होते हैं ? किशोरों के उचित शारीरिक विकास के लिए कुछ गतिविधियों का सुझाव दीजिए।	105
41.	"बालक के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण का सापेक्षिक महत्व है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।	106
42.	शिक्षा प्रक्रिया में वंशानुक्रम तथा वातावरण का महत्व स्पष्ट कीजिए।	107
43.	गामक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों को स्पष्ट कीजिए।	108
44.	उदारीकरण एवं वैश्वीकरण का बचपन पर क्या प्रभाव पड़ता है ?	109

45.	शारीरिक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों की व्याख्या कीजिए।	110
46.	"विकास अधिगम व परिपक्वता का परिणाम है।" स्पष्ट कीजिए।	112
47.	'वंशानुक्रम' की अवधारणा की व्याख्या कीजिए।	112
48.	वातावरण क्या है ? बालक के विकास में इसका योगदान स्पष्ट कीजिए।	114
49.	बच्चों के सामाजिक एवं नैतिक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए।	115
50.	बाल विकास में जनसंचार की भूमिका पर चर्चा कीजिए।	117
51.	शारीरिक विकास में विभिन्न पोषक तत्वों की उपयोगिता एवं कार्य लिखिए।	118
52.	बालिकाओं की शैक्षिक समस्याओं का वर्णन कीजिए।	120
53.	सरकार द्वारा बालिका शिक्षा के प्रोत्साहन हेतु चलाई जाने वाली मुख्य योजनाओं का वर्णन कीजिए।	122
54.	संवेगों के विकास के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।	123
55.	गामक विकास का अर्थ स्पष्ट कीजिए।	125
56.	नगरीय मलिन बस्तियों में रहने वाले बच्चों की समस्याओं की व्याख्या कीजिए।	125
57.	नगरीय मलिन बस्तियों में रहने वाले बच्चों की समस्याओं को दूर करने के उपायों का वर्णन कीजिए।	126
58.	शहरी मलीन बस्ती तथा सामान्य क्षेत्र के बच्चों के विकासात्मक पक्ष में क्या असमानताएँ देखी जा सकती हैं ?	127
59.	बहुबचपन की संकल्पना स्पष्ट कीजिए।	128
	इकाई 3. सामाजिक एवं संवेगात्मक (भावात्मक) विकास	
	वस्तुनिष्ठ प्रश्न	129
	लघु एवं दीर्घ उत्तरीय प्रश्न	
1.	संवेग से क्या आशय है ? संवेग की विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।	129
2.	संवेग से आप क्या समझते हैं ? संवेग विचार और व्यवहार की प्रेरक शक्तियाँ हैं ? स्पष्ट कीजिए।	130
3.	फ्रायड के व्यक्तित्व विकास सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन कीजिए।	131
4.	फ्रायड के द्वारा प्रतिपादित मनोलैंगिक अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।	133
5.	मनोसामाजिक सिद्धान्त के शैक्षिक निहितार्थ लिखिए।	133
6.	बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था के संवेगों में क्या अंतर पाया जाता है ?	134
7.	'एरिक एरिक्सन के मनोसामाजिक सिद्धान्त' का विस्तृत वर्णन कीजिए।	135
8.	एरिक्सन तथा फ्रायड द्वारा प्रतिपादित व्यक्तित्व के सिद्धांतों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।	137
9.	व्यक्तित्व का आशय स्पष्ट करते हुए, व्यक्तित्व के निर्धारक तत्वों का वर्णन कीजिए ?	138
10.	व्यक्तित्व को परिभाषित कीजिए एवं व्यक्तित्व विकास को प्रभावित करने वाले कारक स्पष्ट कीजिए।	139
11.	बालक के विकास में परिवार की भूमिका का विस्तार से वर्णन कीजिए।	143
12.	बाल्यावस्था की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।	145
13.	मनोविश्लेषणवाद से आपका क्या मन्तव्य है? शिक्षा में इसका महत्व प्रतिपादित कीजिए।	147
14.	"एक मनोदैहिक इकाई" (a psycho-social entity) के रूप में बालक का अर्थ स्पष्ट कीजिए।	148
15.	विद्यालय की आवश्यकता एवं उसके सामाजिक और शैक्षिक उत्तरदायित्वों का वर्णन कीजिए।	149

16.	सामाजिक विकास से क्या आशय है ? सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों की व्याख्या कीजिए।	152
17.	लैंगिक भूमिका पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।	153
18.	लैंगिक भूमिकाओं को प्रभावित करने वाले कारकों का विस्तृत वर्णन कीजिए।	154
19.	लिंग भेद से आप क्या समझते हैं ? किस तरह लिंग पर आधारित पक्षपात बालक के विकास को प्रभावित करता है ?	154
20.	आप अपने शिक्षण के दौरान लैंगिक भिन्नता से उत्पन्न स्थितियों को कैसे नियंत्रित करेंगे ?	155
21.	लैंगिक समानता पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।	156
22.	लैंगिक समानता के निर्धारक कारकों की चर्चा कीजिए।	157
23.	समाज में लैंगिक समानता की आवश्यकता एवं महत्व पर प्रकाश डालिए।	157
24.	लैंगिक समानता को सुदृढ़ बनाने में शिक्षक की भूमिका स्पष्ट कीजिए।	158
25.	लैंगिक भूमिका (Gender role) में खेल के मैदान का महत्व स्पष्ट कीजिए।	159
26.	रूढ़िवादी व्यवहार (Stereotype behaviour) पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।	159
27.	जेण्डर पहचान एवं स्टीरियोटाइप (रूढ़िवादी व्यवहार) को प्रभावित करने वाले कारक का वर्णन कीजिए।	160
28.	स्टीरियोटाइप व्यवहार को कम करने में शिक्षकों की भूमिका पर प्रकाश डालिए।	161
29.	संवेगों के कार्यों पर प्रकाश डालिए।	162
30.	संवेगात्मक विकास में शिक्षक की भूमिका क्या है ?	163
31.	बाल्यावस्था में संवेगात्मक विकास का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।	164
32.	शैशवावस्था में होने वाले संवेगात्मक विकास को स्पष्ट करें एवं शिक्षा में उसका महत्व बताएँ।	165
33.	संवेगात्मक विकास का शैक्षिक महत्व स्पष्ट कीजिए।	166
34.	एक अधिगमकर्ता पर संवेगात्मकता का प्रभाव किस प्रकार पड़ता है ?	166
35.	संवेगात्मक विकास को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारक कौन–कौन से हैं ?	167
36.	जॉन बाल्बी (John Bowlby) के लगाव के सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।	168
37.	संवेगों के विकास में परिपक्वता की क्या भूमिका है ?	169
38.	बोल्वी के लगाव का सिद्धांत मानव लगाव के प्रति हमारी समझ को किस प्रकार प्रभावित करता है ?	170
	इकाई 4. समाजीकरण के सन्दर्भ	
	लघु एवं दीर्घ उत्तरीय प्रश्न	
1.	समाजीकरण से क्या आशय है ? समाजीकरण की विशेषताएँ बताइए।	172
2.	समाजीकरण की प्रक्रिया की विवेचना कीजिए।	173
3. (a)	बालक के समाजीकरण में समुदाय की भूमिका क्या है ?	174
3. (b)	विकास की विभिन्न अवस्थाओं में समाजीकरण की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।	174
4.	'सामाजीकरण' की अवधारणा को समझाइए।	175
5.	समाजीकरण से आपका क्या आशय है ? बालक का समाजीकरण करने वाले तत्वों की विवेचना कीजिए।	177
6.	लैंगिक समानता लाने में परिवार एवं संस्कृति की भूमिका स्पष्ट कीजिए।	178
7.	माता–पिता के पालन–पोषण शैली का बच्चों के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है ?	179
8.	बालकों में सामाजिक विकास का विकास करने में शिक्षक की भूमिका का वर्णन कीजिए।	180
9.	अधिक आयु के अधिगमकर्ता (Over age learner) पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।	180

10.	अधिक आयु के अधिगमकर्ता की समस्याओं का वर्णन कीजिए एवं अध्यापक की भूमिका स्पष्ट करें।	181
11.	अधिक आयु वाले अधिगमकर्ताओं की क्या विशेषताएँ होती हैं ?	182
12.	बालक के समाजीकरण में संगी–साथियों की भूमिका बताइए।	183
13.	बच्चों के समाजीकरण को 'दोस्ती' किस तरह प्रभावित करती है ? तथा समाजीकरण के उद्देश्य लिखिए।	184
14.	बालक के सामाजीकरण में प्रतियोगिता की भूमिका पर प्रकाश डालिए।	185
15.	बालक में प्रतिस्पर्धा, सहयोग एवं संघर्ष की भावना का विकास किस प्रकार होता है? बताइए।	186
16.	सामाजिक विकास में सहयोग (Co-operation) का महत्व एवं विशेषता का वर्णन कीजिए।	188
17.	"सहयोग की प्रक्रिया सामाजिक जीवन के संगठन और विकास का आधार है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।	189
18.	प्रतियोगिता एवं अन्तर्द्वन्द्व (Competition and Conflict) में अंतर स्पष्ट कीजिए।	189
19.	संघर्ष से आप क्या समझते हैं ? संघर्ष के कारण तथा परिणामों का वर्णन कीजिए।	190
20.	द्वन्द्व (Conflict) को परिभाषित करते हुए उनके प्रकारों का वर्णन कीजिए।	191
21.	संघर्ष के अर्थ, परिभाषाएँ, विशेषताएँ एवं इनके पाँच प्रकार लिखिए।	196
22.	बममाशी पर टिप्पणी लिखिए।	201
23.	प्रतिस्पर्धा से क्या आशय है ? प्रतिस्पर्धा के प्रकार एवं परिणाम लिखिए।	201
24.	आक्रामकता से आप क्या समझते हैं ? बच्चों में आक्रामकता के क्या कारण हैं ? स्पष्ट कीजिए।	202
25.	बालक के आक्रामक व्यवहार के क्या कारण होते हैं ? तथा समाधान हेतु सुझाव दीजिए।	203
26.	आक्रामकता को दूर करने में शिक्षक की भूमिका की व्याख्या कीजिए।	204
27.	निम्न पर टिप्पणी लिखिए–1. विपरीत लिंग से मित्रता का बच्चों पर प्रभाव 2. प्रतियोगिता, सहयोग द्वंद्व एवं प्रतिस्पर्धा 3. आक्रामकता एवं बाल प्रताड़ना।	205
28.	दबंगता से क्या आशय है ? दबंग व्यवहार के कारणों की व्याख्या कीजिए।	207
29.	मानसिक स्वास्थ्य से क्या अभिप्राय है ? मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारक कौन–कौन से हैं ? इसकी व्याख्या कीजिए।	208
30.	बाल–अपराध के कारण क्या हैं ? इसकी रोकथाम के उपाय भी समझाइये।	209
31.	बालकों की समाजीकरण प्रक्रिया को सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक भिन्नता किस प्रकार प्रभावित करती है ? स्पष्ट कीजिए।	210
32.	सामाजिक व्यवहार के कोई पाँच प्रतिमानों का वर्णन कीजिए।	211
33.	संस्कृति पर एक टिप्पणी लिखिए।	211
34.	सामाजीकरण की प्रक्रिया में आर्थिक भिन्नता के प्रभाव को स्पष्ट कीजिए।	212
35.	समाजीकरण में सामाजिक अंतर पर टिप्पणी लिखिए।	213
36.	"समाजीकरण का समावेशन में अनुप्रयोग हो सकता है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए।	214
37.	सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विभिन्नताओं का समावेशन हेतु निहितार्थ का वर्णन कीजिए।	215

●●●

इकाई 1

विकास में परिप्रेक्ष्य
[PERSPECTIVES IN DEVELOPMENT]

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रश्न 1. सही उत्तर का चयन कीजिए–

1. शिक्षा मनोविज्ञान का केन्द्र बिन्दु है– **(जबलपुर 2022)**

(a) शिक्षक (b) बालक (c) पाठ्यक्रम (d) पाठ्य सामग्री।

उत्तर–1. (b).

लघु एवं दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. (a) शिक्षा मनोविज्ञान की अवधारणा को स्पष्ट करें।

(भोपाल 2018; छतरपुर 22; उज्जैन 22)

***अथवा*, शिक्षा मनोविज्ञान का अर्थ स्पष्ट करें।**

(ग्वालियर 2015, 18, 19, 21; रीवा 22; भोपाल 22)

***अथवा*, शिक्षा मनोविज्ञान को परिभाषित करें।** **(जबलपुर 2009; ग्वालियर 21)**

उत्तर–शिक्षा मनोविज्ञान में शिक्षा एवं मनोविज्ञान दोनों ही शामिल हैं। शिक्षण विधियों व तकनीकी का निर्माण, शैक्षिक कार्यक्रमों का विकास व परिमार्जन तथा शिक्षा क्षेत्र से संबंधित समस्याओं के समाधान हेतु मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों व तकनीकों का प्रयोग शिक्षा मनोविज्ञान में किया जाता है।

शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण चरों जैसे– बालक के विकास में घर एवं विद्यालय की भूमिका, उनकी मानसिक योग्यताएँ, शैक्षिक उपलब्धि, आकांक्षा, स्तर, प्रेरणा, आत्म सम्प्रत्यय आदि का अध्ययन अपनी पद्धति से किया है।

क्रो एवं क्रो के अनुसार–"शिक्षा मनोविज्ञान बालक के जन्म से लेकर वृद्धावस्था तक के सीखने के अनुभवों का वर्णन, प्रभाव तथा व्याख्या करता है।"

स्किनर के अनुसार–"शिक्षा मनोविज्ञान के अन्तर्गत शिक्षा से संबंधित सम्पूर्ण व्यवहार तथा व्यक्तित्व आ जाता है।"

कॉलसेनिक के अनुसार–"शिक्षा मनोविज्ञान, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों व अनुसंधान का शिक्षा में प्रयोग है।"

स्टीफेन के अनुसार–"शिक्षा मनोविज्ञान शैक्षणिक विकास का क्रमिक अध्ययन है।"

पील (Peel) के अनुसार–"शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षा का विज्ञान है जो शिक्षक को अपने शिष्यों के विकास, उनकी क्षमताओं के विस्तार एवं सीमाओं, उनके सीखने की प्रक्रियाओं तथा उनके सामाजिक संबंधों को समझने में सहायता कर सकता है।"

पील की परिभाषा से स्पष्ट है कि शिक्षा मनोविज्ञान निम्नलिखित चार बिन्दुओं का अध्ययन करता है–

1. सीखने की प्रकृति,
2. मानव व्यक्तित्व की अभिवृद्धि और उसका विकास,
3. वैयक्तिगत भेद,
4. सामाजिक संबंध के रूप में व्यक्ति का अध्ययन।

प्रश्न 1. (b) मनोविज्ञान एवं शिक्षा मनोविज्ञान में अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—शिक्षा मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की ही एक शाखा है। शिक्षा जगत् में बालक के व्यवहार को समझने के लिए शिक्षा मनोविज्ञान का जन्म हुआ। दोनों विषय परस्पर सम्बन्धित हैं, फिर भी इनमें कुछ मूलभूत अंतर भी पाये जाते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

आधार	मनोविज्ञान	शिक्षा मनोविज्ञान
व्यवहार अध्ययन	मनोविज्ञान मानव के व्यवहार का अध्ययन करता है।	शिक्षा मनोविज्ञान शैक्षिक प्रक्रिया में छात्रों के व्यवहार का अध्ययन करता है।
क्षेत्र	मनोविज्ञान का क्षेत्र व्यापक है।	शिक्षा मनोविज्ञान का क्षेत्र विशिष्ट और सीमित है।
विषय	मनोविज्ञान एक मुख्य विषय है।	शिक्षा मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की एक शाखा मात्र है।
अध्ययन	मनोविज्ञान मानव के साथ पशुओं के व्यवहार का भी अध्ययन करता है।	शिक्षा मनोविज्ञान का संबंध शैक्षिक वातावरण में बालक के अध्ययन से है।
विश्लेषण	मनोविज्ञान प्राणियों के बदलते वक्त में परिवर्तनशील व्यवहार का अध्ययन करता है।	शिक्षा मनोविज्ञान का संबंध केवल शैक्षिक स्थितियों में ही छात्रों का अध्ययन करना है।

प्रश्न 2. शिक्षा मनोविज्ञान का महत्व स्पष्ट करें। (भोपाल 2018, छतरपुर 21; जबलपुर 21)

उत्तर—आधुनिक युग में मनोविज्ञान ही शिक्षा का आधार है। अध्यापक, छात्र एवं अभिभावक सभी के लिए शिक्षा मनोविज्ञान का सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक महत्व है।

शिक्षा मनोविज्ञान का महत्व या उपयोगिता निम्नलिखित हैं—

1. बाल केन्द्रित शिक्षा (Child Centred Education)—प्राचीन समय में शिक्षा का केन्द्र छात्र न होकर शिक्षक होते थे। छात्र की रुचियों, अभिवृत्तियों तथा अभिरुचियों की परवाह किये बिना ही शिक्षण प्रक्रिया चलती थी परन्तु वर्तमान समय में मनोविज्ञान के ज्ञान ने सब बदल दिया है। अब शिक्षा का केन्द्र बिन्दु छात्र होते हैं। छात्र की योग्यता, क्षमता, रुचि, अभिक्षमता के अनुसार पाठ्यक्रम एवं शिक्षण विधियों का निर्माण किया जाता है।

2. स्वस्थ वातावरण (Healthy Atmosphere)—शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में वातावरण का बहुत योगदान होता है जो मनोविज्ञान के सिद्धान्तों द्वारा भी स्पष्ट होता है। अतः स्वस्थ शिक्षा के लिए स्वस्थ वातावरण का निर्माण करना चाहिए अर्थात् स्वस्थ वातावरण बालकों में विषय को सीखने की अधिक रुचि उत्पन्न करता है।

विद्यालय में कक्षा–कक्ष की दीवारों का रंग, बैठक व्यवस्था, खुली हवा, जगह–जगह पर प्रेरक कथन आदि वातावरण को उत्तम बनाने में सहयोग करते हैं जिसका ज्ञान शिक्षा मनोविज्ञान की देन है।

3. सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास (Development of Whole Personality)—वर्तमान शिक्षा का उद्देश्य बालक को केवल तथ्यों का ज्ञान प्रदान करना ही नहीं है वरन् अब शिक्षा के द्वारा बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करने का प्रयास किया जाता है। शिक्षा निर्देशन द्वारा बालक को उपयुक्त शिक्षा ग्रहण करने के लिए तैयार किया जाता है। व्यक्तित्व सुधार, समायोजन तथा संतुष्टि विकास के लिए अनेक प्रयास किये जाते हैं।

4. शिक्षण पद्धति में परिवर्तन (Change in Teaching Methods)—प्राचीन पद्धति में अध्यापक रटने पर अधिक बल देते थे। उनका विचार था कि रटने से बुद्धि का विकास होता है। मनोवैज्ञानिक परीक्षणों ने रटने को निरर्थक सिद्ध किया है और कई नवीन शिक्षण पद्धति का विकास किया है जो स्थायी अधिगम में सहायक सिद्ध होती है। जैसे—प्रयोजन विधि, प्रयोगात्मक विधि, खेल विधि, आगमन विधि आदि। ऐसे नवीन शिक्षण विधियों में विद्यार्थी सक्रिय होकर शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में हिस्सा लेते हैं और सीखते हैं।

5. पाठ्य–सहगामी क्रियाएँ (Co-curricular Activities)—शिक्षा मनोविज्ञान के विकास के कारण पाठ्यक्रम में अनेक महत्वपूर्ण पाठ्य–सहगामी क्रियाओं को स्थान दिया जाने लगा है। पहले यह समझा जाता था कि पढ़ाई के अतिरिक्त की क्रियाओं में बालक अपना समय नष्ट करते हैं। अब यह विचार बदल दिया गया है। वाद–विवाद प्रतियोगिता, निबंध, कहानी प्रतियोगिता, लेख, भ्रमण, खेलकूद, संगीत तथा इसी प्रकार की अन्य क्रियाओं को पाठ्यक्रम में स्थान मिलने के कारण बालकों के सर्वांगीण विकास में बहुत सहयोग मिला है।

6. अनुशासन (Discipline)—मारपीट एवं भय के बल पर छात्रों का सर्वांगीण विकास नहीं किया जा सकता, न ही उनमें अनुशासन का मूल्य विकसित किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक परीक्षणों ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि छात्र अपराध करने पर दण्ड से नहीं डरते, पर वे यह अवश्य चाहते हैं कि उन्हें दण्ड उनके अनुकूल दिया जाए। यही कारण है कि कोई छात्र कक्षा में या कक्षा से बाहर कोई अपराध करता है तो उसको डण्डे से न दबाकर उसके कारणों की खोज करके स्थायी उपचार किया जाता है। इस प्रकार प्रजातांत्रिक आधार पर स्व–अनुशासन बनाये रखने पर बल दिया जाता है।

7. मापन एवं मूल्यांकन (Measurement and Evaluation)—मापन तथा मूल्यांकन की विधियों का विकास तथा प्रयोग शिक्षा मनोविज्ञान का महत्वपूर्ण योग है। इन विधियों के माध्यम से यह प्रयत्न किया जाता है कि बालक की योग्यताओं का सही–सही मापन हो एवं उनके द्वारा की गई प्रगति का मूल्यांकन भी सही हो। आज बालक की रुचि, योग्यता एवं अन्य अन्तर्निहित योग्यताओं का मापन करके उसको विकास की दिशा दी जाती है। शिक्षा मनोविज्ञान का विद्यार्थी के मूल्यांकन में महत्वपूर्ण भूमिका है।

8. शिक्षा के उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक (To help in getting Aims of Education)—शिक्षा मनोविज्ञान कुल मिलाकर अध्यापक तथा छात्र के व्यवहार के इर्द–गिर्द रहता है। अतः वह शैक्षिक लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक होता है। **स्किनर** के अनुसार, शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षक को ज्ञान प्रदान करता है एवं अध्यापक उस ज्ञान के आधार पर शैक्षिक लक्ष्यों को प्राप्त करता है।

9. समय–सारिणी (Time-Table)—शिक्षा मनोविज्ञान के कारण ही विद्यालयों में समय–सारिणी बनाते समय यह ध्यान रखा जाता है कि कौन–सा विषय पहले लिया जाए और कौन–सा बाद में। पहले बालकों की थकान, विश्राम, अवधान आदि का कोई ध्यान नहीं रखा जाता था। उस समय अध्यापक की सुविधा का ध्यान समय–सारिणी बनाते समय रखा जाता था। छात्र की क्षमता तथा योग्यता का ध्यान बिल्कुल नहीं रखा जाता था। अब समय–सारिणी बनाते समय मौसम, छात्रों की योग्यता, रुचि, विषय की प्रकृति आदि को ध्यान में रखा जाता है।

10. शैक्षिक अनुसंधान (Educational Research)—शिक्षा के क्षेत्र में जब से मनोविज्ञान का प्रवेश हुआ है, तब से ही शिक्षा में अनुसंधानों की बाढ़ आ गई है। आज शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में

संबंधित अनुसंधान उपलब्ध है। इन अनुसंधानों के निष्कर्षों के आधार पर ही शिक्षा के व्यावहारिक पक्षों में आवश्यक परिवर्तन किया जाता है। नवीनतम शिक्षण विधियाँ, उद्देश्य आधारित शिक्षण आदि सभी शैक्षिक अनुसंधान का परिणाम है।

प्रश्न 3. शिक्षा मनोविज्ञान की प्रकृति लिखिए। (ग्वालियर 2015; रीवा 22; भोपाल 22)

उत्तर–शिक्षा मनोविज्ञान की प्रकृति निम्नलिखित हैं–

1. शिक्षा मनोविज्ञान की प्रकृति वैज्ञानिक होती है क्योंकि शैक्षिक वातावरण में अधिगमकर्ता (Learner) के व्यवहार का वैज्ञानिक विधियों, नियमों तथा सिद्धान्तों के माध्यम से अध्ययन किया जाता है।

2. यह रचनात्मक (Constitutive) और नियामक (Regulative) दोनों प्रकार का विज्ञान है। विधायक विज्ञान तथ्यों पर जबकि नियामक विज्ञान मूल्यांकन पर आधारित होता है।

3. शिक्षा का स्वरूप संश्लेषणात्मक (Synthetic) होता है जबकि शिक्षा मनोविज्ञान का स्वरूप विश्लेषणात्मक (Analytic) होता है।

4. शिक्षा मनोविज्ञान एक वस्तुपरक विज्ञान (Material science) है।

5. शिक्षा मनोविज्ञान व्यवहार का विज्ञान है, क्योंकि इसमें शैक्षणिक परिस्थिति के अंतर्गत बालक के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है।

6. शैक्षणिक परिस्थितियों के अंतर्गत बालक के व्यवहार का अध्ययन करना ही शिक्षा मनोविज्ञान की विषय–वस्तु है।

7. शिक्षा मनोविज्ञान का सीधा संबंध शिक्षण अधिगम क्रियाकलापों से है।

प्रश्न 4. शिक्षा मनोविज्ञान का क्षेत्र स्पष्ट कीजिए।

(भोपाल 2022; रीवा 22; ग्वालियर 21; छतरपुर 22)

***अथवा,* शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। (छिंदवाड़ा 2021)**

उत्तर–शिक्षा मनोविज्ञान एक प्रगतिशील विज्ञान है, जिसकी सीमाएँ असीमित हैं। इसलिए इस विषय के क्षेत्र अथवा उन समस्याओं का जिनका यह समाधान करता है कोई निश्चित दायरा नहीं है। **लिंडगरन** के अनुसार, शिक्षा मनोविज्ञान तीन केन्द्र बिन्दुओं पर आधारित हैं–

1. शिक्षार्थी (Learner),
2. सीखने की प्रक्रिया (Learning Process),
3. सीखने की परिस्थिति (Learning Situation)।

ये स्वाभाविक ही शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र में आ जाते हैं। शिक्षा मनोविज्ञान के अन्तर्गत निम्नलिखित क्षेत्र आते हैं–

1. शिक्षार्थी से संबंधित–

(1) शिक्षार्थी की शारीरिक रचना और उसकी क्रियाओं का अध्ययन–इसके अन्तर्गत मस्तिष्क, तंत्रिका तंत्र, अनुक्रिया तंत्र, प्रतिवर्त या सहज क्रियाएँ, शारीरिक विलक्षणताओं तथा शारीरिक विकास का अध्ययन होता है।

(2) शिक्षार्थी की मानसिक क्रियाओं का अध्ययन–जिसके अन्तर्गत संवेदन, प्रत्यक्षण, निरीक्षण, अवधान, रुचि, अधिगम में अभिप्रेरणा, कल्पना, चिन्तन, तर्क, निर्णय, बुद्धि आदि की प्रक्रियाओं का विकासात्मक अध्ययन होता है।

(3) शिक्षार्थी की संवेगात्मक क्रियाओं का अध्ययन—जिसके अन्तर्गत संवेगों जैसे—भय, क्रोध, प्रसन्नता, आत्मभाव, कामुकता आदि इनका संगठन स्थायीभाव तथा मनोग्रंथि इनसे संबंधित मूल प्रवृत्तियों, सहज प्रवृत्तियों आदि का अध्ययन होता है।

(4) शिक्षार्थी की सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन—जिसके अन्तर्गत चरित्र, स्थायीभाव, संकल्पशक्ति, पाठ्येतर क्रियाएँ, सामाजिक क्रियाएँ, खेल समूह निर्माण क्रियाएँ, अनुकरण, सहानुभूति संकेत आदि का अध्ययन होता है।

(5) शिक्षार्थी की अनुवंशिकता एवं पर्यावरण—विभिन्न विकास की अवस्थाएँ इनकी विशेषताएँ, शिक्षा की दृष्टि से इनका महत्व, विभिन्न प्रकार के शिक्षार्थी, मंदबुद्धि, तीव्रबुद्धि, अपचारी, समस्यात्मक, असाधारण, रोगग्रस्त बालक, वैयक्तिक विभिन्नताएँ और विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व तथा विशेष योग्यताओं आदि का अध्ययन होता है।

2. सीखने की प्रक्रियाओं का अध्ययन—सीखने–सिखाने की प्रक्रियाओं, शिक्षण विधियों का, पाठ्यक्रम निर्माण संबंधी, कक्षा व्यवस्था एवं अनुशासन संबंधी विषयों के चुनाव तथा निर्देशन संबंधी अध्ययन इसके अन्तर्गत आते हैं।

3. शिक्षक संबंधी अध्ययन—सीखने की प्रक्रिया में शिक्षक एक महत्वपूर्ण कारक है। शिक्षक, उसका प्रशिक्षण, उसका व्यक्तित्व, उसकी विशेषताएँ, उसका शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य एवं संतुलन इत्यादि का अध्ययन इसके अन्तर्गत आता है।

प्रश्न 5. एक अध्यापक के लिए शिक्षा मनोविज्ञान का ज्ञान क्यों आवश्यक है ?

(छतरपुर 2015, 17, 21; उज्जैन 22; ग्वालियर 22)

उत्तर—शिक्षा मनोविज्ञान सबसे ज्यादा एक शिक्षक के लिए ही उपयोगी है। एक सफल अध्यापक को अध्ययन–अध्यापन के लिए शिक्षा मनोविज्ञान का ज्ञान होना अति आवश्यक है। बिना शिक्षा मनोविज्ञान ज्ञान के एक शिक्षक का अध्यापन कभी भी प्रभावी नहीं बन पाता।

अगर यह कहा जाय कि शिक्षक की सफलता का रहस्य मनोविज्ञान का ज्ञान है तो गलत नहीं होगा। शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षण के लिए अध्यापकों की आधारशिला है। शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षकों को निम्न कार्यों में मदद करता है या इन सब में शिक्षक की मदद करता है—

1. स्वयं का ज्ञान—शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षक को अपनी क्षमता, प्रतिभा, गुण, योग्यता आदि का ज्ञान कराता है।

2. विषय की तैयारी—कक्षा में किस विषय को किस प्रकार से प्रस्तुत किया जाय जिससे विषय को प्रभावी तरीके से छात्रों को समझाया जाये इसमें शिक्षक को शिक्षा मनोविज्ञान में मदद करता है।

3. अचेतन मन का ज्ञान—शिक्षा मनोविज्ञान का ज्ञाता शिक्षक छात्रों के मस्तिष्क में चलने वाली बातों का अनुमान लगा पाता है तथा छात्र की रुचि एवं प्रवृत्ति को समझकर उसके अनुरूप शिक्षा विधियों का चयन करता है तथा अचेतन मन के अनुरूप शिक्षण कार्य करता है।

4. शिक्षण विधियों के निर्माण तथा संशोधन में सहायक—छात्रों की मनोदशा एवं उनकी रुचि को ध्यान में रखकर शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षक को नई शिक्षण विधि का निर्माण करने में तथा शिक्षण विधि में संशोधन करने में मदद करता है।

5. बाल विकास का ज्ञान—शिक्षक, शिक्षा मनोविज्ञान की मदद से बालक के शैक्षिक विकास किस प्रकार से हो इसकी जानकारी प्राप्त करते हैं।

6. अधिगम की प्रक्रिया—अधिगम की प्रक्रिया को सरल बनाने में शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षक की मदद करता है। शिक्षा मनोविज्ञान की मदद से छात्र के सीखने की प्रवृत्ति को शिक्षक गति प्रदान करता है।

7. व्यक्तिगत अन्तरों का ज्ञान—कक्षा में सभी छात्र एक समान नहीं होते हैं। बौद्धिक स्तर सभी छात्रों का अलग–अलग स्तर का होता है। परन्तु एक शिक्षक की जिम्मेदारी होती है कि सभी छात्रों को साथ लेकर बढ़ना। शिक्षा मनोविज्ञान इसमें शिक्षक का मार्गदर्शन करता है। शिक्षक छात्रों की योग्यताओं एवं क्षमताओं को जानकर उनमें अन्तर ज्ञात करता है तथा उसी अनुरूप शिक्षण वातावरण का निर्माण करता है।

8. समस्या प्रधान बालकों की मदद करने में शिक्षक के लिए शिक्षा मनोविज्ञान उपयोगी है।

9. मापन एवं मूल्यांकन—मापन एवं मूल्यांकन शिक्षण का मुख्य अंग है, शिक्षा मनोविज्ञान की मदद से शिक्षक नई–नई विधि द्वारा छात्रों का मापन और मूल्यांकन करता है। इसमें शिक्षक छात्र की मनोदशा, योग्यता आदि का ध्यान रखता है।

10. चरित्र निर्माण में—मनोवैज्ञानिक रूप से दी गई शिक्षा से छात्रों का सर्वांगीण विकास होता है तथा उनके चरित्र का निर्माण होता है और यह कार्य विद्यालय और शिक्षक द्वारा पूर्ण होता है इसलिए यहाँ भी शिक्षक शिक्षा मनोविज्ञान की शरण में ही जाता है।

प्रश्न 6. शिक्षा मनोविज्ञान के विभिन्न कार्यों की संक्षिप्त में व्याख्या कीजिए।

(भोपाल 2022; इंदौर मार्च 23)

उत्तर—शिक्षा मनोविज्ञान मनोविज्ञान के सिद्धांतों का शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग है।

स्किनर के शब्दों में, "शिक्षा मनोविज्ञान उन खोजों को शैक्षिक परिस्थितियों में प्रयोग करता है, जो कि विशेषतया मानव प्राणियों के अनुभव और व्यवहार से संबंधित है।"

शिक्षा मनोविज्ञान दो शब्दों के योग से बना है—शिक्षा और मनोविज्ञान। अतः इसका शाब्दिक अर्थ है–शिक्षा संबंधी मनोविज्ञान। दूसरे शब्दों में, यह मनोविज्ञान का व्यावहारिक रूप है और शिक्षा की प्रक्रिया में मानव व्यवहार का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। अतः हम स्किनर के शब्दों में कह सकते हैं–"शिक्षा मनोविज्ञान अपना अर्थ शिक्षा से जो सामाजिक प्रक्रिया है और मनोविज्ञान से, जो व्यवहार संबंधी विज्ञान है, ग्रहण करता है।"

(1) स्किनर के अनुसार–"शिक्षा मनोविज्ञान के अंतर्गत शिक्षा से संबंधित सम्पूर्ण व्यवहार और व्यक्तित्व आ जाता है।"

(2) क्रो एवं **क्रो** के अनुसार–"शिक्षा मनोविज्ञान, व्यक्ति के जन्म से वृद्धावस्था तक सीखने के अनुभवों का वर्णन और व्याख्या करता है।"

(3) सॉरे व **टेलफोर्ड** के अनुसार–"शिक्षा मनोविज्ञान का मुख्य संबंध सीखने से है। यह मनोविज्ञान का वह अंग है, जो शिक्षा के मनोवैज्ञानिक पहलुओं की वैज्ञानिक खोज से विशेष रूप से संबंधित है।"

शिक्षा मनोविज्ञान के कार्य—शिक्षा मनोविज्ञान के कार्य निम्न हैं—

I. शिक्षा मनोविज्ञान के शिक्षण संबंधी कार्य

II. शिक्षा मनोविज्ञान के अधिगम संबंधी कार्य

I. शिक्षा मनोविज्ञान के शिक्षण संबंधी कार्य—अध्यापक की शिक्षण जगत में वही भूमिका होती है जो एक पुल बनाने वाले कारीगर की होती है। जितनी अधिक तकनीकी जानकारी तथा प्रायोगिक कुशलता उसके पास पुल बनाने की होगी, उतनी ही अच्छी तरह से वह अपना कार्य सम्पादित कर

पायेगा। शिक्षक के साथ भी यही बात होती है। शिक्षा मनोविज्ञान ही उसके द्वारा प्रदत्त शिक्षा का विज्ञान एवं तकनीकी शास्त्र से प्राप्त होता है। उसे जितना अच्छा तथा व्यावहारिक कौशल अपने इस तकनीकी शास्त्र से प्राप्त होगी उतनी ही अधिक सार्थकता उसे अपने शिक्षण प्रयासों में मिल सकेगी। शिक्षा मनोविज्ञान अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में कहाँ तक सफल हो सकता है इस बात की चर्चा शिक्षक की कुछ महत्वपूर्ण आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखकर की जाए।

(1) सीखने वाले को जानना—शिक्षक को छात्र की शक्तियों तथा योग्यताओं का पता होना अत्यंत आवश्यक है। इसके अभाव में वह अपने कार्य में कतई आगे नहीं बढ़ सकता है।

(2) विषय वस्तु या अधिगम संबंधी अनुभवों का चुनाव तथा आयोजन—छात्र को जानने के बाद उसे शिक्षित करने हेतु कुछ भूमिका तैयार हो जाती है तब कुछ नयी समस्याएँ सामने आ जाती हैं जो निम्नांकित हैं—

(i) विभिन्न स्तरों (प्राथमिक, माध्यमिक, उच्च स्तर और उच्चतर) पर किस प्रकार की शिक्षण सामग्री एवं अनुभव छात्रों को देना चाहिए।

(ii) अनुभव एवं शिक्षण सामग्री का चुनाव करने के बाद उसका क्रमबद्ध आयोजन किस तरह किया जाना चाहिए, इस प्रकार की पाठ्यक्रम निर्माण संबंधी समस्याओं के समाधान हेतु न केवल बच्चे के विकास की विभिन्न अवस्थाओं से संबंधित प्रमुख विशेषताओं से परिचित होना जरूरी है, बल्कि सीखने के नियमों तथा सिद्धांतों एवं समस्त अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों की जानकारी होना भी आवश्यक है। इन समस्त बातों को ज्ञात करने में शिक्षा मनोविज्ञान ही शिक्षक की मदद कर सकता है।

(iii) सीखने हेतु उचित परिस्थितियों एवं वातावरण का आयोजन—शिक्षण के समय उपलब्ध वातावरण तथा परिस्थितियों का भी शिक्षा प्रक्रिया में एक विशेष महत्व है। शिक्षा मनोविज्ञान हमें यह बताता है कि किस तरह के शिक्षण एवं अध्ययन हेतु किस तरह की परिस्थितियाँ तथा वातावरण की आवश्यकता है। छात्र को किस समय व्यक्तिगत शिक्षण की आवश्यकता है और किस समय उसे सामूहिक शिक्षण की आवश्यकता होती है।

(iv) मापन एवं मूल्यांकन में सहायता—शिक्षा मनोविज्ञान के अंतर्गत मापन एवं मूल्यांकन की सबसे महत्वपूर्ण विधियों एवं उपकरणों का ज्ञान भी शामिल होता है। अतः इसके अध्ययन से अध्यापक को छात्रों की योग्यता और क्षमता के उचित मूल्यांकन में ही सहायता मिलती है।

(v) समस्यात्मक बालकों की सहायता करना—कुछ बच्चे समस्यात्मक होते हैं वे या तो बहुत मेधावी होते हैं या मन्द बुद्धि के। उन्हें कक्षा में अन्य बच्चों के साथ समायोजन बिठाने में कठिनाई होती है। कुछ के अंदर अपराधी प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। ऐसे बच्चों को भी उचित समायोजन करने के लिए विशेष सहायता की आवश्यकता होती है। इस कार्य में शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षक की बहुत सहायता करता है।

II. शिक्षा मनोविज्ञान के अधिगम संबंधी कार्य—शिक्षा मनोविज्ञान की विषय–वस्तु, नियम, सिद्धांत, विधियाँ तथा तकनीकों के अधिगम की प्रक्रिया और परिणामों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। अन्य शब्दों में सीखने वाले को भी सभी दृष्टि से अधिगम उद्देश्यों की वांछित प्राप्ति कराने के लिए शिक्षा मनोविज्ञान का ज्ञान बहुत सहायक सिद्ध होता है। शिक्षा मनोविज्ञान के ज्ञान द्वारा छात्रों को अधिगम की प्रक्रिया तथा उसके परिणामों की प्राप्ति के संदर्भ में विभिन्न प्रकार के कार्यों के सम्पादन द्वारा अग्रलिखित लाभों की प्राप्ति हो सकती है—

(i) अधिगम तथा प्रशिक्षण के उद्देश्यों की प्राप्ति में अपने आप से तथा अपने वातावरण से समायोजन करने में कितना फायदा है, यह जानकारी उन्हें जीवन में सफल रहने की ओर अग्रसर कर सकती है।

(ii) उन्हें स्वयं की योग्यताओं और क्षमताओं को जानने एवं समझने में मदद मिल सकती है। इससे वे अपने आप से भली–भाँति परिचित हो सकते हैं। अपनी महत्वाकांक्षा के स्तर को अपनी योग्यता तथा क्षमता के स्तर के अनुकूल समायोजित कर सकते हैं।

(iii) अभिप्रेरणा एवं अधिगम की विधियों और सिद्धांतों की जानकारी उन्हें अधिगम के लिए अभिप्रेरित करने तथा सीखने में भली–भाँति सहायता करने में सहायक बन सकती है।

(iv) अधिगम तथा प्रशिक्षण का एक परिस्थिति से दूसरी परिस्थिति में स्थानान्तरण उन्हें अधिगम प्रक्रिया में काफी आगे बढ़ा सकता है।

प्रश्न 7. शिक्षा में शिक्षा मनोविज्ञान के कार्य समझाइए। (छिंदवाड़ा 2022; जबलपुर 22)

उत्तर– शिक्षा– शिक्षा का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द एडुकेशन (Education) है जो लैटिन भाषा के एडुकेयर (Educare) शब्द से उत्पन्न माना जाता है। इसका अर्थ है शिक्षित करना या पालन–पोषण करना। अत: इस विचारधारा के अनुसार बालकों में निहित शक्तियों या क्षमताओं को उत्तेजित कर उन्हें सही दिशा में विकसित करने की प्रक्रिया ही शिक्षा है। बालकों में निहित क्षमताएँ दो प्रकार की हैं– शारीरिक (Physical) तथा मानसिक (Mental)। शिक्षा उन दोनों प्रकार की क्षमताओं के समुचित विकास का अवसर प्रदान करती है। अत: शिक्षा की परिभाषाएँ निम्न हैं–

फ्रेंडसन के अनुसार– "आधुनिक शिक्षा का सम्बन्ध व्यक्ति और समाज दोनों के कल्याण से है।"

जॉन ड्यूवी के अनुसार– "शिक्षा व्यक्ति की उन सभी योग्यताओं का विकास है जिनके द्वारा वह अपने वातावरण पर नियंत्रण करने की क्षमता प्राप्त करता है तथा अपनी सम्भावनाओं को पूर्ण करता है।"

शिक्षा मनोविज्ञान– शिक्षा मनोविज्ञान मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग है। **स्किनर** के शब्दों में, "शिक्षा मनोविज्ञान उन खोजों को शैक्षिक परिस्थितियों में प्रयोग करता है जो कि विशेषतया मानव प्राणियों के अनुभव और व्यवहार से सम्बन्धित है।" शिक्षा मनोविज्ञान दो शब्दों के योग से बना है– शिक्षा और मनोविज्ञान। अत: शिक्षा मनोविज्ञान का शाब्दिक अर्थ है– शिक्षा सम्बन्धी मनोविज्ञान।

क्रो व **क्रो** के अनुसार– "शिक्षा मनोविज्ञान व्यक्ति के जन्म से वृद्धावस्था तक सीखने के अनुभवों का वर्णन और व्याख्या करता है।"

सारे व **टेलफोर्ड** के अनुसार– "शिक्षा मनोविज्ञान का मुख्य सम्बन्ध सीखने से है यह मनोविज्ञान का वह अंग है, जो शिक्षा के मनोवैज्ञानिक पहलुओं की वैज्ञानिक खोज से विशेष रूप से संबंधित है।"

शिक्षा मनोविज्ञान के कार्य– शिक्षा मनोविज्ञान के निम्नलिखित कार्य हैं–

(1) शिक्षण संबंधी कार्य (Education related work)– अध्यापक की शिक्षण जगत में वही भूमिका है जो एक पुल बनाने वाले कारीगर की होती है। जितनी अधिक तकनीकी जानकारी तथा प्रायोगिक कुशलता उसके पास पुल बनाने की होगी, उतनी ही अच्छी तरह से वह अपना कार्य सम्पादित कर पायेगा। शिक्षक के साथ भी यही बात होगी। शिक्षा मनोविज्ञान ही उसके द्वारा प्रदत्त शिक्षा का विज्ञान एवं तकनीकी शास्त्र होता है उसे जितना अच्छा तथा व्यावहारिक कौशल अपने इस तकनीकी शास्त्रों से प्राप्त होगा उतनी ही अधिक सार्थकता उसे अपने शिक्षण प्रयासों में मिल सकेगी।

(2) शिक्षण एवं अधिगम की कला एवं learning as well as teaching)– छात्रों के निश्चित करने के पश्चात् किस प्रकार सिखा समक्ष उपस्थित हो जाता है। इसका समाधान शिक्षा की प्रक्रिया की विवेचना हुए आवश्यक तरह से अच्छी तरह सीखा जाए या सिखाया है।

(3) सीखने हेतु उचित परिस्थितियों learning situations and environment)– शि भी शिक्षा प्रक्रिया में एक विशेष महत्व है। शिक्षा एवं अध्ययन हेतु किस तरह की परिस्थितिय समय व्यक्तिगत शिक्षण की आवश्यकता है त होती है।

(4) मापन एवं मूल्यांकन में सहायता मनोविज्ञान के अंतर्गत मापन एवं मूल्यांकन की शामिल होता है। अत: इसके अध्ययन से अध्य मूल्यांकन में भी सहायता मिलती है।

(5) स्वयं अपने आप को समझना (To मनोविज्ञान शिक्षण की रचनात्मक अनुशासन स संबंधी समस्याएँ मूल रूप में व्यवहार संबंधी सम व्यवहार तथा टूटते संबंधों के कारण उत्पन्न हो से अपना सम्बन्ध रखता है। अत: हमें छात्रों के उनकी आवश्यकता, व्यवहार तथा क्षमताओं से

(6) समस्यात्मक बालकों की सहायता क समस्यात्मक होते हैं। वे या तो मेधावी होते हैं स समायोजन बिठाने में कठिनाई होती है। कुछ के भी उचित समायोजन करने के लिए विशेष सह मनोविज्ञान शिक्षक सहायता करता है।

(7) मार्ग निर्देशन में सहायता (To help in की विधियों से जितना अच्छी तरह परिचित हो स सकते हैं। छात्रों को ठीक तरह से जानने के अला एवं परामर्श सम्बन्धी समस्त आवश्यक तथ्यों का शिक्षा मनोविज्ञान छात्रों के उचित मार्ग निर्देशन मे

प्रश्न 8. अभिवृद्धि एवं विकास से क्या आश

***अथवा*, वृद्धि एवं विकास का अर्थ स्पष्ट क**

उत्तर–सामान्यत: बोलचाल की भाषा में वृद्धि लिए किया जाता है जबकि वास्तव में दोनों शब्द अ से अभिवृद्धि या वृद्धि शब्द का प्रयोग शरीर एवं उस

(2) शिक्षण एवं अधिगम की कला एवं तकनीकी सुझाना (To suggest art and techniques of learning as well as teaching)— छात्रों को जानने, समझने तथा उसे क्या सिखाया जाना है यह निश्चित करने के पश्चात् किस प्रकार सिखाया जाए अथवा कैसे सीखा जाए ? यह प्रश्न शिक्षक के समक्ष उपस्थित हो जाता है। इसका समाधान भी शिक्षा मनोविज्ञान में मिलता है। शिक्षण मनोविज्ञान शिक्षा की प्रक्रिया की विवेचना हुए आवश्यक नियमों तथा सिद्धान्तों को सामने लाता है तथा किस तरह से अच्छी तरह सीखा जाए या सिखाया जाए, इससे शिक्षक तथा छात्र दोनों को अवगत कराता है।

(3) सीखने हेतु उचित परिस्थितियों एवं वातावरण का आयोजन (To arrange suitable learning situations and environment)— शिक्षण के समय उपलब्ध वातावरण तथा परिस्थितियों का भी शिक्षा प्रक्रिया में एक विशेष महत्व है। शिक्षा मनोविज्ञान हमें यह बताता है कि किस तरह के शिक्षण एवं अध्ययन हेतु किस तरह की परिस्थितियाँ तथा वातावरण की आवश्यकता है। छात्र को किस समय व्यक्तिगत शिक्षण की आवश्यकता है तो किस समय उसे सामूहिक शिक्षण की आवश्यकता होती है।

(4) मापन एवं मूल्यांकन में सहायता (Helping in evaluation and assessment)— शिक्षा मनोविज्ञान के अंतर्गत मापन एवं मूल्यांकन की सबसे महत्वपूर्ण विधियों एवं उपकरणों का ज्ञान भी शामिल होता है। अतः इसके अध्ययन से अध्यापक को छात्रों की योग्यता और क्षमताओं के उचित मूल्यांकन में भी सहायता मिलती है।

(5) स्वयं अपने आप को समझना (To help in maintaining proper discipline)— शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षण की रचनात्मक अनुशासन स्थापित करने में बहुत सहायता करता है। अनुशासन संबंधी समस्याएँ मूल रूप में व्यवहार संबंधी समस्याएँ ही होती है जो शिक्षक तथा छात्रों के असंतुलित व्यवहार तथा टूटते संबंधों के कारण उत्पन्न होती है। शिक्षा मनोविज्ञान छात्रों के व्यवहार के अध्ययन से अपना सम्बन्ध रखता है। अतः हमें छात्रों को निकट से जानने में बहुत सहायता कर सकता है। उनकी आवश्यकता, व्यवहार तथा क्षमताओं से हमें परिचित करवाता है।

(6) समस्यात्मक बालकों की सहायता करना (Helping the problem children)— कुछ बच्चे समस्यात्मक होते हैं। वे या तो मेधावी होते हैं या मन्दबुद्धि के। उन्हें कक्षा में अन्य बच्चों के साथ समायोजन बिठाने में कठिनाई होती है। कुछ के अंदर अपराधी प्रवृत्तियाँ पायी जाती है। ऐसे बच्चों को भी उचित समायोजन करने के लिए विशेष सहायता की आवश्यकता होती है। इस कार्य में शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षक सहायता करता है।

(7) मार्ग निर्देशन में सहायता (To help in rendering guidance)— शिक्षक मापन एवं मूल्यांकन की विधियों से जितना अच्छी तरह परिचित हो सकता है उतना शायद उसके अभिभावक भी नहीं हो सकते हैं। छात्रों को ठीक तरह से जानने के अलावा शिक्षा मनोविज्ञान का ज्ञान अध्यापक को निर्देशन एवं परामर्श सम्बन्धी समस्त आवश्यक तथ्यों का अध्ययन करने का अवसर भी देता है। इस प्रकार शिक्षा मनोविज्ञान छात्रों के उचित मार्ग निर्देशन में शिक्षक की सहायता कर सकता है।

प्रश्न 8. अभिवृद्धि एवं विकास से क्या आशय है ?(भोपाल 2019; ग्वालियर 21; छतरपुर 21)
***अथवा*, वृद्धि एवं विकास का अर्थ स्पष्ट करें ।** **(इन्दौर 2018; उज्जैन 22)**

उत्तर—सामान्यतः बोलचाल की भाषा में वृद्धि एवं विकास शब्द का प्रयोग एक ही अभिप्राय के लिए किया जाता है जबकि वास्तव में दोनों शब्द अपना अलग अर्थ एवं महत्व रखते हैं। सामान्य रूप से अभिवृद्धि या वृद्धि शब्द का प्रयोग शरीर एवं उसके अंगों के भार एवं आकार में परिवर्तन के लिए

किया जाता है, जबकि विकास में मानसिक वृद्धि, शारीरिक वृद्धि, संवेगात्मक परिपक्वता, बौद्धिक परिपक्वता का अध्ययन किया जाता है।

अभिवृद्धि का अर्थ एवं परिभाषा—वृद्धि का अर्थ है बढ़ना या फैलना। अतः प्राणी के आंतरिक और बाह्य अंगों का बढ़ना या फैलना वृद्धि कहलाता है। वृद्धि शारीरिक रचना और शारीरिक परिवर्तनों की ओर संकेत करती है। यह एक जैविक प्रक्रिया है, जो सभी जीवों में पायी जाती है और एक निश्चित समय सीमा के उपरान्त पूर्ण हो जाती है।

सोरेंसन (Sorenson) **के अनुसार**—"अभिवृद्धि शब्द का प्रयोग सामान्यतः शरीर और अंगों के भार तथा आकार में वृद्धि के लिए किया जाता है। इस वृद्धि को नापा या तौला जा सकता है।"

विकास का अर्थ एवं परिभाषा—विकास एक जटिल प्रक्रिया है। सामान्य रूप से विकास बुद्धि, परिपक्वता तथा पोषण आदि अवधारणाओं को प्रायः मिले-जुले अर्थों में इस्तेमाल किया जाता है। विकास एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है जो जन्म से लेकर जीवन-पर्यंत अविराम गति से चलती रहती है। विकास से तात्पर्य परिवर्तन की उस उन्नतिशील शृंखला से है, जो परिपक्वता के एक निश्चित लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है। अतः विकास एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। विकास केवल शारीरिक वृद्धि की ओर ही संकेत नहीं करता वरन् इसके अंतर्गत वे सभी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और संवेगात्मक परिवर्तन सम्मिलित रहते हैं, जो गर्भाधान से लेकर मृत्यु-पर्यंत निरंतर प्राणी में प्रकट होते रहते हैं। अतः प्राणी के भीतर विभिन्न प्रकार के शारीरिक व मानसिक क्रमिक परिवर्तनों की उत्पत्ति ही विकास है।

मुनरो (Munro) **के अनुसार**—"विकास परिवर्तन शृंखला की वह अवस्था है जिसमें बालक भ्रूणावस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक गुजरता है।"

जेम्स ड्रेवर (James Drever, 1968) **के अनुसार**—"विकास प्राणी में होने वाला प्रगतिशील परिवर्तन है, जो किसी लक्ष्य की ओर लगातार निर्देशित करता है।"

हरलॉक (Hurlock, 1978) **के अनुसार**—"विकास अभिवृद्धि तक ही सीमित नहीं है, अपितु इसके प्रौढ़ावस्था के लक्ष्य की ओर परिवर्तन का प्रगतिशील क्रम निहित रहता है। विकास के परिणामस्वरूप व्यक्ति में नवीन विशेषताएँ और नवीन योग्यताएँ प्रकट होती हैं।"

अतः विकास की प्रक्रिया बालक के गर्भधारण से लेकर जीवन-पर्यंत एक क्रम में चलती रहती है तथा एक अवस्था का प्रभाव दूसरी अवस्था पर पड़ता है।

प्रश्न 9. वृद्धि या अभिवृद्धि एवं विकास में अंतर स्पष्ट करें।

(इन्दौर 2018; छिंदवाड़ा 22; छतरपुर 22)

उत्तर—वृद्धि या अभिवृद्धि एवं विकास में अंतर—

क्र.	अभिवृद्धि (Growth)	विकास (Development)
1.	वृद्धि गर्भावस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक चलती है।	विकास गर्भाधान से लेकर जीवन-पर्यंत चलती है।
2.	वृद्धि की प्रकृति कोशिकीय व संरचनात्मक होती है।	विकास की प्रकृति संगठनात्मक एवं क्रियात्मक होती है।
3.	प्राणी में वृद्धि बाद में होती है।	विकास की प्रक्रिया पहले शुरू होती है।
4.	वृद्धि के दौरान होने वाले परिवर्तन परिमाणात्मक होते हैं।	विकास में होने वाले परिवर्तन गुणात्मक होते हैं।

5.	वृद्धि का क्रम प्राणी को वृद्धावस्था की ओर ले जाता है।	विकास का क्रम प्राणी को परिपक्वता प्रदान करता है।
6.	वृद्धि का न तो निश्चित क्रम है और न ही कोई निश्चित दिशा।	विकास का क्रम और दिशा दोनों निश्चित होते हैं।
7.	वृद्धि का स्वरूप बाह्य होता है।	विकास का स्वरूप आंतरिक होता है।
8.	वृद्धि एक संकीर्ण अवधारणा है।	विकास में वृद्धि निहित है, यह एक व्यापक प्रक्रिया है।
9.	वृद्धि का संबंध मुख्यत: शारीरिक पक्ष से है।	विकास का संबंध शारीरिक, मानसिक तथा संज्ञानात्मक पक्ष तीनों से है।
10.	यह जीवन–पर्यंत नहीं चलती, निश्चित समय तक होती है।	विकास की प्रक्रिया जीवन–पर्यंत चलती है।

प्रश्न 10. वृद्धि एवं विकास के विभिन्न सिद्धांत और उनके शैक्षणिक महत्व की चर्चा कीजिए। (इंदौर मार्च 2023)

उत्तर–जब बालक विकास की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में प्रवेश करता है तब हम उसमें कुछ परिवर्तन देखते हैं। अध्ययनों में सिद्ध कर दिया है कि ये परिवर्तन निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार होते हैं। इन्हीं को वृद्धि एवं विकास का सिद्धान्त कहा जाता है।

(1) निरंतरता का सिद्धांत (Principal of Continuousness) — इस सिद्धांत के अनुसार विकास की प्रक्रिया अविराम गति से निरंतर चलती रहती है, पर यह गति कभी तीव्र और कभी मन्द होती है।

उदाहरणार्थ–प्रथम तीन वर्षों में बालक के विकास की प्रक्रिया बहुत तीव्र रहती है और उसके बाद मन्द पड़ जाती है। इसी प्रकार शरीर के कुछ भागों का विकास तीव्र गति से और कुछ का मन्द गति से होता है पर विकास की प्रकिया चलती अवश्य है, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति में कोई आकस्मिक परिवर्तन नहीं होता।

(2) गति का सिद्धान्त (Principle of rate) — डगलस एवं हॉलैण्ड ने इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है–"विभिन्न व्यक्तियों के विकास की गति में विभिन्नता होती है और यह विभिन्नता विकास के सम्पूर्ण काल में यथावत् बनी रहती है।

उदाहरण–जो व्यक्ति जन्म के समय लंबा होता है, वह साधारणत: बड़ा होने पर भी लंबा रहता है और जो छोटा होता है वह साधारणत: छोटा रहता है।

(3) क्रम का सिद्धान्त (Principal of sequence) — इस सिद्धान्त के अनुसार बालक का गामक (motor) और भाषा सम्बन्धी आदि विकास एक निश्चित क्रम में होता है।

उदाहरण–32 से 36 माह का बालक वृत (circle) को उल्टा 60 माह का बालक सीधा और 72 माह का फिर उल्टा बनाता है। इसी प्रकार जन्म के समय वह केवल रोना जानता है। 3 माह में वह गले से एक विशेष प्रकार की आवाज निकालने लगता है। 6 माह में वह आनन्द की ध्वनि करने लगता है। 7 माह में वह अपने माता–पिता के लिये 'पा', 'ब', दा, आदि शब्दों का प्रयोग करने लगता है।

(4) दिशा का सिद्धान्त (Principle of Direction)– इस सिद्धान्त के अनुसार बालक का विकास सिर से पैर की दिशा में होता है।

उदाहरणार्थ– अपने जीवन के प्रथम सप्ताह में बालक केवल अपने सिर को उठा पाता है। पहले 3 माह में वह अपने नेत्रों की गति पर नियंत्रण करना सीख जाता है। 6 माह में वह अपने हाथों

की गतियों पर अधिकार कर लेता है। 9 माह में वह सहारा लेकर बैठने लगता है। 12 माह में वह स्वयं बैठने और घिसट कर चलने लगता है। एक वर्ष का हो जाने पर उसे अपने पैरों पर नियंत्रण हो जाता है और वह खड़ा होने लगता है। इस प्रकार, जो शिशु अपने जन्म के प्रथम सप्ताह में केवल अपने सिर को उठा पाता था, वह एक वर्ष बाद खड़ा होने और 18 माह के बाद चलने लगता है।

(5) समान प्रतिमान का सिद्धान्त (Principle of Uniform Pattern)— पृथ्वी पर पाए जाने वाले प्रत्येक प्राणी जाति में विकास प्रक्रिया की गति समान प्रतिमान का अनुसरण करती है। पूरे विश्व में मनुष्य का विकास एकसमान अवस्था से प्रभावित होता है। वह चाहे विश्व के किसी भी कोने से हो।

वृद्धि एवं विकास के सिद्धान्तों का शैक्षिक महत्व—

(1) व्यक्तिगत विभिन्नता का ज्ञान— सभी बच्चों में वृद्धि और विकास की गति और मात्रा एक जैसे नहीं होती। इसलिए बच्चों को पढ़ाते समय व्यक्तिगत विभिन्नता का ध्यान रखना चाहिए।

(2) भविष्यवाणी करने में सहायक— इससे बालकों में होने वाले वृद्धि एवं विकास का पता चलता है की आगे चलकर बालक किस प्रकार का विकास करेगा। अत: शिक्षा प्रदान करते समय यह अवश्य ध्यान देना चाहिए की बालक आगे चलकर क्या बनेगा।

(3) सर्वांगीण विकास में उपयोगी— शारीरिक विकास, मानसिक विकास, संवेगात्मक विकास आदि सभी एक–दूसरे से परस्पर जुड़े हुए हैं। इन सभी के बारे में जानकर बालक के सर्वांगीण विकास पर अच्छे से ध्यान दिया जा सकता है। अगर किसी एक पहलू पर ध्यान नहीं दिया जाए तो इससे दूसरे पहलू में हो रही उन्नति में बाधा आती है।

(4) वंश तथा वातावरण के प्रभाव का ज्ञान— बच्चे की वृद्धि एवं विकास में वंश तथा वातावरण दोनों का बहुत महत्व है। इनमें से किसी भी एक की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। इस प्रकार इन तथ्यों को जानकर बालकों में आवश्यक सुधार ला सकते हैं ताकि बच्चों का अधिकाधिक विकास हो सके।

(5) सामान्यता अथवा असामान्यता का ज्ञान— अगर किसी एक जाति के सदस्यों में वृद्धि तथा विकास सम्बन्धी एकरूपता देखी जा सकती है। इस प्रकार से यदि वृद्धि और विकास की दर एकसमान न हो तो यह जानकर बालक के वातावरण में परिवर्तन करके तथा उचित शिक्षण प्रदान कर विकास में बढ़ोतरी की जा सकती है।

(6) शिक्षण को प्रभावशाली बनाने में सहायक— इस प्रणाली से शिक्षक बच्चों की व्यक्तिगत भिन्नता को अच्छे से समझ जाता है और उसके अनुसार बच्चों को ऐसी शिक्षण विधि द्वारा पढ़ाया जाता है जिससे सभी बच्चे लाभान्वित हो पाएँ।

इस प्रकार वृद्धि एवं विकास संबंधी सिद्धान्तों के द्वारा बालकों के संपूर्ण विकास को उचित दिशा प्रदान किया जा सकता है कि एक सफल शिक्षक को वृद्धि तथा विकास के सिद्धान्तों का समुचित ज्ञान होना चाहिए।

प्रश्न 11. विकासात्मक मनोविज्ञान पर टिप्पणी लिखिए।

***अथवा*, 'विकासात्मक मनोविज्ञान' का अर्थ स्पष्ट कीजिए।** **(उज्जैन 2022)**

उत्तर—विकासात्मक मनोविज्ञान को विकास के विभिन्न चरणों के दौरान मानव विकास के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया गया है, जो बाल्यावस्था, किशोरावस्था और युवावस्था से प्रारंभ होता है और उम्र बढ़ने के साथ समाप्त होता है। विकासात्मक मनोविज्ञान को विकास के विभिन्न चरणों के दौरान मानव विकास से संबंधित माना गया है।

विकासात्मक मनोविज्ञान की परिभाषाएँ–

(1) **हरलॉक** के अनुसार–"विकासात्मक मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की वह शाखा है जिसमें गर्भाधान से मृत्यु तक मानव प्राणियों के विकास का अध्ययन होता है।"

(2) **बर्क** के अनुसार–"विकासात्मक मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की वह शाखा है जिसमें मानव प्राणियों द्वारा पूरे जीवनपर्यन्त अनुभव किये जाने वाले सभी परिवर्तनों को समझने पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है।"

(3) **शैफर** के अनुसार–"विकासात्मक मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की वह शाखा है जिसमें यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि किस प्रकार समय के साथ व्यक्तियों में परिवर्तन होता है और किन कारणों से ये परिवर्तन उत्पन्न होते हैं।"

(4) **डी.एन. श्रीवास्तव** के अनुसार–" विकासात्मक मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की वह शाखा है जिसमें मानव प्राणियों में गर्भावस्था से मृत्यु तक समय के साथ होने वाले सभी प्रकार के विकासात्मक और हतसात्मक परिवर्तनों (शारीरिक, संज्ञानात्मक, संवेगात्मक और सामाजिक आदि) व उनके कारणों को समझा जाता है।"

विभिन्न क्षेत्रों में विकासात्मक मनोविज्ञान का अध्ययन करने का महत्व–

(1) **सैद्धांतिक अध्ययन**–विकासात्मक मनोविज्ञान का अध्ययन हमें मानव स्वभाव और उस वातावरण से उसके संबंध को जानने में सक्षम बनाता है जिसमें वह रहता है।

यह अपनी सभी अभिव्यक्तियों में विकास के मानदण्डों जैसे मानसिक, शारीरिक, सामाजिक और भावनात्मक विकास के मानदण्डों के ज्ञान में भी योगदान देता है। विकासात्मक मनोविज्ञान के चरणों में पूर्व जन्म, बचपन, किशोरावस्था, वयस्कता और अंततः उम्र बढ़ना शामिल है।

(2) **अनुभूतिमूलक अध्ययन**–विकास के विभिन्न चरणों में व्यक्तियों को निर्देशित करने की क्षमता विकसित करना संभव है। यह वैज्ञानिक मानकों के अनुसार विकास के विभिन्न पहलुओं को मापने की संभावना को भी सक्षम बनाता है और विकास में असमानताओं को सुलझाने में सहायता करता है, चाहे वह शैक्षिक हो या मनोवैज्ञानिक।

(3) **मनोवैज्ञानिकों के लिए**– मनोवैज्ञानिक विकास के विभिन्न चरणों में सहायता प्रदान करते हैं। विशेष रूप से परामर्श, चिकित्सीय मनोविज्ञान, मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन, व्यावसायिक प्रशिक्षण और शिक्षा के क्षेत्रों में।

(4) **शिक्षकों के लिए**–विकासात्मक मनोविज्ञान के अध्ययन के माध्यम से , शिक्षक विकास के विभिन्न चरणों में व्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक और शैक्षिक विशेषताओं को सीख सकते हैं। वे अपने विकास को प्रभावित करने वाले कारकों की पहचान कर सकते हैं। जिन तरीकों से उनके व्यवहार को संशोधित किया जा सकता है, जिन तरीकों से उन्हें पढ़ाया जाना चाहिए और उन मुद्दों की पहचान कर सकते हैं जिनके लिए शैक्षिक प्रक्रिया में तैयारी की आवश्यकता होती है।

(5) **माता–पिता के लिए**– विकासात्मक मनोविज्ञान का अध्ययन माता–पिता को अपने बच्चों की विशेषताओं को जानने, उनके विकास के प्रत्येक चरण को समझने, इन चरणों के दौरान रहने वाली स्थितियों, डेटा के आधार पर उनके उपचार, जिस चरण में वे रहते हैं उसकी आवश्यकताओं के साथ–साथ समझने में मदद करता है।

(6) **समुदाय के लिए**– विकासात्मक मनोविज्ञान का अध्ययन व्यक्तियों को शैक्षिक, मनोवैज्ञानिक, व्यावसायिक और सामाजिक अनुकूलता के उच्चतम स्तर तक पहुँचने के लिए अपने व्यवहार को

समायोजित करने में सहायता करता है, साथ ही भविष्य में होने वाली घटनाओं का सटीक पूर्वानुमान लगाने में भी सहायता करता है।

(7) मानव विकास के लक्षण– मानव विकास की प्रक्रिया को विशेषताओं के एक समूह द्वारा वर्गीकृत किया गया है, जिनमें से सबसे महत्वपूर्ण है–

(i) विकास एक विभेदित प्रक्रिया है–विकास एक विभेदित प्रक्रिया है अर्थात् व्यक्ति वही कार्य करता रहता है जो उसकी आवश्यकता है।

(ii) विकास क्रमिक है–विकास का प्रत्येक चरण पिछले चरण पर आधारित होता है और बाद के चरण पिछले चरणों पर निर्भर होते हैं।

विकासात्मक मनोविज्ञान के सिद्धांत–विकासात्मक मनोविज्ञान के निम्न सिद्धांत हैं–

(1) निरंतरता और अनुक्रम–यह सिद्धांत एक विशिष्ट लक्ष्य और विशिष्ट परिपक्वता की ओर निरंतर और क्रमिक तरीके से विकास प्रक्रिया की दिशा को संदर्भित करता है।

(2) विकास की विभेदन दर–यह सिद्धांत उम्र के विभिन्न चरणों में शारीरिक और मोटर विकास की दर के बीच एक महत्वपूर्ण अंतर के अस्तित्व को प्रकट करता है, इसके अलावा विकास की दर के संदर्भ में भौतिक और मोटर घटकों के एक सेट के बीच अंतर होता है।

(3) विकास की प्रवृत्ति–विकास कार्यात्मक प्रारंभिक चरण से क्रमिक रूप से शुरू होता है, जो दो दिशाओं पर निर्भर करता है।

(4) विकास की अनुदैर्ध्य दिशा–इसमें मानव शरीर के ऊपरी हिस्से शामिल हैं, इसके पहले निचले हिस्सों का विकास होता है।

(5) विकास की क्षैतिज दिशा–यह बाहरी किनारों की ओर उर्ध्वाधर अक्ष के विकास भागों को संदर्भित करता है।

विकासात्मक मनोविज्ञान की विशेषता– विकासात्मक मनोविज्ञान के अंतर्गत गर्भावस्था से सम्पूर्ण जीवनपर्यन्त मृत्यु तक मानव के भीतर होने वाले सभी प्रकार के परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है। चाहे यह परिवर्तन विवृद्धि से संबंधित हो अथवा ह्रास से संबंधित हो। सभी विकास अवस्थाओं में दोनों प्रकार के परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है।

प्रश्न 12. शारीरिक, संज्ञानात्मक, सामाजिक, संवेगात्मक, नैतिक तथा भाषात्मक विकास में संबंध लिखिए। **(छतरपुर 2022**

***अथवा*, विकास क्या है ? इसकी प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।**

***अथवा*, विकास के विभिन्न आयाम परस्पर कैसे संबंधित हैं ? स्पष्ट कीजिए।** **(उज्जैन 2022**

उत्तर–विकास जीवनपर्यन्त चलने वाली एक निरंतर प्रक्रिया है। विकास की प्रक्रिया में बालक का शारीरिक (Physical), क्रियात्मक (Motor), संज्ञानात्मक (Cognitive), भाषागत (Language) संवेगात्मक (Emotional) एवं सामाजिक विकास होता है।

बालक में आयु के साथ होने वाले गुणात्मक एवं परिमाणात्मक परिवर्तन सामान्यतया देखे जा सकते हैं। बालक में क्रमबद्ध रूप से होने वाले सुसंगत परिवर्तन की क्रमिक शृंखला को 'विकास' कहा जा सकते हैं, अर्थात् विकास से आशय शिशु के गर्भाधान (गर्भ में आने) से लेकर पूर्ण प्रौढता प्राप्त करने की स्थिति से है।

(1) ड्रेवर (Drever) के अनुसार–"विकास, प्राणी में होने वाला प्रगतिशील परिवर्तन है, जो किसी लक्ष्य की ओर लगातार निर्देशित होता रहता है।"

(2) हरलॉक (Hurlock) के अनुसार–"विकास की सीमा अभिवृद्धि तक ही नहीं है, अपितु इसमें प्रौढ़ावस्था के लक्ष्य की ओर परिवर्तनों का प्रगतिशील क्रम निहित रहता है। विकास के परिणामस्वरूप व्यक्ति में अनेक नवीन विशेषताएँ एवं नवीन योग्यताएँ स्पष्ट होती है।"

(3) अरस्तु के अनुसार–"विकास आंतरिक एवं बाह्य कारणों से व्यक्ति में परिवर्तन है।"

(4) स्किनर के अनुसार–"विकास जीव और उसके वातावरण की अंतःक्रिया का प्रतिफल है।"

अतः हम कह सकते हैं कि विकास के फलस्वरूप व्यक्ति में अनेक नई विशेषताएँ और क्षमताएँ उत्पन्न होती हैं।

विकास के विभिन्न आयाम–विकास के विभिन्न आयाम निम्नलिखित हैं–

(1) शारीरिक विकास–जन्म से पूर्व गर्भावस्था में ही बालक का शारीरिक विकास प्रारंभ हो जाता है जो एक स्वाभाविक, प्राकृतिक एवं सतत् प्रक्रिया है जिस पर वंशानुक्रम एवं वातावरण का प्रभाव पड़ता है। प्रारंभ में शिशु अपने हर प्रकार के कार्यों के लिए दूसरों पर निर्भर रहता है। धीरे–धीरे विकास की प्रक्रिया के फलस्वरूप वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में सक्षम होता जाता है।

(2) मानसिक विकास–मानसिक विकास बालक की उन सभी मानसिक योग्यताओं एवं क्षमताओं में वृद्धि है, जिनके परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार की समस्याओं को सुलझाने में अपनी मानसिक शक्तियों का पर्याप्त उपयोग कर पाता है।

(3) सांवेगिक विकास–संवेग, जिसे भाव भी कहा जाता है। संवेग व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता है। भय, क्रोध, घृणा, आश्चर्य, स्नेह, खुशी इत्यादि संवेग के उदाहरण हैं। बालक में आयु बढ़ने के साथ ही इन संवेगों का विकास भी होता रहता है।

(4) क्रियात्मक विकास–क्रियात्मक विकास का अर्थ है–व्यक्ति की कार्य करने की शक्ति, क्षमता या योग्यताओं का विकास अर्थात् ऐसी शारीरिक गतिविधियाँ या क्रियाएँ जिनको सम्पन्न करने के लिए माँसपेशियों एवं तंत्रिकाओं की गतिविधियों के संयोजन की आवश्यकता होती है।

(5) भाषायी विकास–भाषा के माध्यम से बालक अपने मन के भावों को दूसरों के सामने प्रकट करता है तथा दूसरों के भावों, विचारों, भावनाओं को समझ पाता है।

(6) सामाजिक विकास–समाज के अंतर्गत रहकर विभिन्न पहलुओं को सीखना सामाजिक विकास कहलाता है। समाज के अंतर्गत ही चरित्र निर्माण, अच्छा व्यवहार (सदगुण) तथा जीवन से संबंधित व्यावहारिक शिक्षा इत्यादि का विकास होता है।

(7) संज्ञानात्मक विकास–यह तंत्रिका विज्ञान तथा मनोविज्ञान का एक अध्ययन क्षेत्र है जिसमें बच्चों द्वारा सूचना प्रसंस्करण, भाषा सीखने तथा मस्तिष्क के विकास के अन्य पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है।

(8) नैतिक विकास–नैतिकता से संबंधित व्यवहार जन्मजात नहीं होता अपितु नैतिकता का विकास बालक के वातावरण के संपर्क में आने के पश्चात् होता है। प्रारंभ में बालक नैतिकता से संबंधित व्यवहार को पुरस्कार, दण्ड, प्रशंसा, निंदा आदि के आधार पर सीखता है। आरंभ में बालक को उचित–अनुचित का ज्ञान नहीं होता परंतु जब बालक का शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक तथा भाषागत विकास होने लगता है। उसी समय से धीरे–धीरे उसका नैतिक विकास भी होने लगता है।

अर्थात् विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर व्यक्ति के सभी आयामों में परिवर्तन होते हैं। एक तरफ सामाजिक विकास होता है तो साथ–ही–साथ संज्ञानात्मक परिवर्तन होता रहता है। व्यक्ति शारीरिक रूप से बढ़ता है तो उसी समय उसकी मानसिक क्षमताएँ भी बढ़ती हैं। संवेगात्मक विकास

भी साथ में चलता है। इसलिए विकास को बहुआयामी प्रक्रिया कहा जाता है। उपरोक्तानुसार हम कह सकते हैं कि विकास के विभिन्न आयाम परस्पर संबंधित होते हैं।

विकास की विशेषताएँ– विकास की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

(1) विकास प्रगति पूर्ण शृंखला के रूप में घटित होता है।

(2) विकास में क्रमिक परिवर्तन पाए जाते हैं। परिवर्तनों में निरंतरता पायी जाती है। यह परिवर्तन अविराम गति से चलते हैं। विकास किसी भी विकास–अवस्था में सामान्य नहीं होता।

(3) क्रमिक परिवर्तन एक–दूसरे के साथ किसी–न–किसी रूप से संबंधित रहते हैं। यह परिवर्तन एक–दूसरे से अलग न होकर जुड़े हुए होते हैं।

(4) विकास के फलस्वरूप व्यक्ति में अनेक नई विशेषताएँ और क्षमताएँ उत्पन्न होती हैं।

प्रश्न 13. विकास के सामान्य सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए। **(छिंदवाड़ा 2021)**

उत्तर–गैरिसन के अनुसार– "जब बालक विकास की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में प्रवेश करता है तब उसमें कुछ परिवर्तन होते हैं। ये परिवर्तन निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार ही होते हैं। इन्हीं को ही विकास के सिद्धान्त कहते हैं।" विकास के प्रमुख सिद्धांत निम्नलिखित हैं–

1. व्यक्तिगत भिन्नता का सिद्धान्त, 2. विकास क्रम का सिद्धान्त, 3. परस्पर संबंध का सिद्धान्त, 4. निरंतरता का सिद्धान्त, 5. विकास की दिशा का सिद्धान्त, 6. समान प्रतिमान का सिद्धान्त, 7. सामान्य से विशिष्टता का सिद्धान्त, 8. एकीकरण का सिद्धान्त एवं 9. वंशानुक्रम एवं वातावरण की अंत:क्रिया का सिद्धान्त।

1. व्यक्तिगत भिन्नता का सिद्धान्त–इस सिद्धान्त के अनुसार, भिन्न–भिन्न व्यक्ति में अनेक आधारों जैसे–उनकी रुचि, अभिक्षमता, बुद्धि, योग्यता आदि में एक–दूसरे से भिन्न होते हैं। इनमें विकास दर भी एक–दूसरे से भिन्न होते हैं। किसी भी दो व्यक्तियों में उनके विकास दर समान नहीं होते हैं। इसे ही व्यक्तिगत भिन्नता का सिद्धान्त कहते हैं।

2. विकास क्रम का सिद्धान्त–इस सिद्धान्त का अर्थ है कि बालक का विकास व्यवस्थित और निश्चित क्रम से होता है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने इसको सिद्ध कर दिया है कि बालक के शारीरिक, मानसिक, भाषा, सामाजिक आदि का विकास अपने–अपने निश्चित क्रम से होता है। चूँकि गामक (Motor) और भाषा संबंधी विकास एक–दूसरे से सह–संबंधित होते हैं। अत: दोनों का विकास क्रम एक जैसा ही है।

3. परस्पर संबंध का सिद्धान्त–बालक का विकास सदा एकीकृत होता है। विकास के अनेक पक्ष होते हैं, जैसे–शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, संवेगात्मक आदि। प्रत्येक पक्ष में अलग–अलग अंगों व शक्तियों का विकास होता है। किन्तु ये सभी प्रकार के विकास किसी केन्द्रीय शक्ति से जुड़े होते हैं। बालक के विकास में परस्पर संबंध होता है। मनोवैज्ञानिक के अध्ययनों से स्पष्ट हो चुका है कि बालक में सभी प्रकार के विकास साथ–साथ चलते हैं। उनके गुणों में अंतर न होकर मात्रा में अंतर होता है। अत: विकास के सिद्धान्त परस्पर जुड़े होते हैं।

4. निरंतरता का सिद्धान्त–इसके अनुसार बालकों के विकास की प्रक्रिया सतत् व अनवरत् रूप से चलती रहती है। वह कभी धीमी, तेज और सामान्य होती रहती है, लेकिन रुकती नहीं है। व्यक्ति की विभिन्न अवस्थाओं में विकास होता रहता है। यह विकास कब धीमा, तेज या सामान्य होता है, यह विकास के विभिन्न स्तरों और पहलुओं पर निर्भर करता है।

स्किनर के अनुसार–"विकास प्रक्रियाओं की निरंतरता का सिद्धान्त इस तथ्य पर बल देता है कि व्यक्ति में कोई परिवर्तन आकस्मिक नहीं होता है।"

5. विकास की दिशा का सिद्धान्त–शिशु का शारीरिक विकास सिद्धान्त, विकास की एक दिशा को निश्चित करता है। शारीरिक व गत्यात्मक विकास दो दिशाओं में होता है। पहली दिशा में शिशु का शारीरिक विकास सिर से पैर की ओर होता है। सिर से पैर की दिशा वह क्रम है, जिसमें सबसे तेज गति से विकास होता है। कहा जाता है कि सबसे पहले शिशु के सिर का विकास, फिर धड़ का विकास और उसके बाद हाथों और पैरों का विकास होता है।

मनोवैज्ञानिकों ने इस विकास को **मस्तकाधोमुखी** या **शीर्ष–पुच्छ क्रम विकास** (Cephalocaudal development) कहा है। दूसरी दिशा है शरीर के मध्य से बाहर की ओर निकट–दूरस्थ क्रम विकास इसमें स्पाइनल कॉर्ड (Spinal cord) के आसपास विकास पहले होता है।

6. समान प्रतिमान का सिद्धान्त–हरलॉक के अनुसार–"प्रत्येक प्राणी, चाहे वह पशु हो अथवा मानव अपनी ही जाति के अनुसार विकास के प्रतिमान का अनुगमन करती है। मनुष्य चाहे भारत में पैदा हुआ हो या अमेरिका में उसका शारीरिक, मानसिक, भाषा एवं संवेगात्मक विकास समान रूप से होता है।"

7. सामान्य से विशिष्टता का सिद्धान्त–बालक की क्रियाएँ व प्रतिक्रियाएँ सामान्य से प्रारंभ होकर विशिष्टता की ओर होती हैं। बालक प्रारंभ में सम्पूर्ण शरीर को हिलाता–डुलाता है, बाद में हाथों एवं पैरों की अंगुलियों को एवं संवेगों का प्रकटीकरण करता है। पहले यह माना जाता था कि शिशु विशिष्ट क्रियाएँ पहले करता है, उसके बाद सामान्य क्रियाएँ करता है। किन्तु मनोविज्ञान के क्षेत्र में हुए अनुसंधानों से ज्ञात हुआ है कि सभी प्रकार के विकास पहले सामान्य रूप में होते हैं। तत्पश्चात् विशिष्ट रूप में होते हैं।

8. एकीकरण का सिद्धान्त–इसके अनुसार बालक अपने अंगों को पहले पूरा चलाता है, फिर उसके भागों को फिर उन्हें एक साथ अलग–अलग तरीके से चलाता है जैसे कि हाथ को ले लीजिए, बालक पहले अपने हाथ को पूरा चलाता है, फिर वह अंगुलियों को हिलाता है फिर दोनों को एक साथ चलाता है।

9. वंशानुक्रम एवं वातावरण की अंतःक्रिया का सिद्धान्त (छतरपुर 2021) –इस सिद्धान्त के अनुसार, बालक का विकास वंशानुक्रम तथा वातावरण की अंतःक्रिया का परिणाम है। शिशु की क्षमताएँ वंशानुक्रम से और उनका विकास वातावरण से निश्चित होता है। **स्किनर के अनुसार**–"वंशानुक्रम उन सीमाओं का निर्धारण करता है जिसके आगे बालक का विकास नहीं किया जा सकता। अतः शिशु का भावी विकास उसके वंशानुक्रम और वातावरण की अंतःक्रिया पर निर्भर करता है।"

प्रश्न 14. विकास के अन्तर्गत सामाजिक व सांस्कृतिक संदर्भों का महत्व लिखिए।

(रीवा 2022)

उत्तर–विकास के अन्तर्गत सामाजिक व सांस्कृतिक संदर्भों का महत्व–विकास में होने वाले व्यवहारगत परिवर्तन ऐसे होते हैं जो परिवेशगत प्रक्रियाओं के कारण उत्पन्न होते हैं। इस परिवेश या समग्र वातावरण का प्रभाव तो प्राणी के ऊपर प्रतिक्षण पड़ता रहता है। सामाजिक या परिवेशगत प्रभाव प्राणी के विकास को अवरुद्ध कर सकते हैं या उसमें सहायक हो सकते हैं। परिवेश के अच्छे या बुरे प्रभावों को प्राणी विशेषकर मानव–शिशु अधिगम और समाजीकरण की विशिष्ट प्रक्रियाओं के माध्यम से ग्रहण करता है। प्राणी के विकास में अधिगम और समाजीकरण की भूमिका के महत्व को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

समाजीकरण के द्वारा बालकों को विभिन्न प्रकार की अभिवृत्तियाँ, विश्वास, रीति–रिवाज, मूल्य तथा भूमिकाएँ सिखाई जाती हैं और परिवार, समुदाय तथा सामाजिक आकांक्षाओं से उन्हें अवगत कराया जाता है। समाजीकरण की प्रक्रिया किसी–न–किसी रूप में जीवन–पर्यन्त चलती रहती है और व्यक्ति को सुविधापूर्वक जीने तथा सामाजिक क्रियाकलापों में पूर्णरूप से भाग लेने में सहायता प्रदान करती है।

सांस्कृतिक प्रभाव (रीवा 2022)–किसी जाति की संस्कृति के अन्तर्गत उसके सम्पूर्ण ज्ञान, विश्वासों, विचारों, कलाओं, प्रथाओं, परम्पराओं, नियमों और आदर्शों की गणना होती है। व्यक्ति के समाजीकरण पर उसकी संस्कृति का उसी प्रकार प्रभाव पड़ता है जिस प्रकार परिवार, पाठशाला और समाज का। परिवार और पाठशाला के माध्यम से वस्तुतः संस्कृति को ही आगे बढ़ाने का प्रयास किया जाता है।

विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भाषाओं, संकेतों और हाव–भाव का विकास संस्कृति की ही देन है। यह कहा जा सकता है कि बालक के व्यक्तित्व को संस्कृति का परिणाम माना जा सकता है। संस्कृति का प्रभाव व्यक्तित्व के शीलगुणों तक ही सीमित नहीं होता बल्कि लोगों की आदतों और आचरण के ढंगों की रूपरेखा का निर्माण भी संस्कृति के द्वारा होता है।

संस्कृति में एक प्रकार की व्यक्तित्व विशेषताएँ अधिक वांछनीय समझी जाती हैं तो दूसरी संस्कृति में उन्हें उतना महत्वपूर्ण नहीं माना जाता। वस्तुतः सम्पूर्ण सांस्कृतिक परिवेश एक साँचे के समान होता है जिसमें ढलकर बालक का व्यक्तित्व सुन्दर और सुडौल बन पाता है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश बालकों के व्यक्तित्व निर्माण एवं विकास में अहम भूमिका अदा करता है।

प्रश्न 15. विकास बहुआयामी एवं एकाधिक होता है। बताइये। **(ग्वालियर 2022)**

***अथवा*, "विकास बहुआयामी एवं विषमांगी होता है।" व्याख्या कीजिए।**

उत्तर–हर वस्तु या प्राणी में कुछ–न–कुछ मूल या गुण विशेष रूप से होते हैं पर आरंभ में ये छिपे रहते हैं। अवसर व आयु के अनुसार इन गुणों को बाहर दिखलाई देने का अवसर मिलता है। ये धीरे–धीरे बाहर आ जाते हैं तथा बढ़ने लगते हैं। आंतरिक गुणों का बाहरी रूप में बढ़ना ही विकास कहलाता है। विकास बालक तथा समाज दोनों में ही होता है। विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जो सतत चलती है तथा जिसमें गुणात्मक परिवर्तन तथा परिमाणात्मक (मात्रात्मक) परिवर्तन दोनों सम्मिलित रहते हैं।

बोरिंग (Boring) के अनुसार – "विकास से तात्पर्य आवृत्ति या स्वरूप में परिवर्तन से होता है। शारीरिक संरचना या ढाँचे में परिवर्तन का कारण अभिवृद्धि है।"

जरशील्ड (Jersild) के अनुसार – "विकास शब्द का अर्थ जटिल प्रक्रियाओं का समूह है जिनसे निः संकोच एक परिपक्व व्यक्ति का उदय होता है।"

बहुआयामी एवं विषमांगी विकास –किसी भी बालक के विकास को तभी पूर्ण और सार्थक माना जाता है, जबकि उसका बहुआयामी एवं विषमांगी विकास हो अर्थात् शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, आदि सभी आयामों में विकास हो। बालक के विकास ही प्रक्रिया गर्भ से लेकर विद्यालयी शिक्षा तक निरन्तर चलती रहती है। यदि बालक ने पढ़ने–लिखने में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली है अर्थात् उसका मानसिक विकास तो सही दिशा में हुआ है लेकिन शारीरिक रूप से वह निर्बल अथवा कमजोर रह जाए तो उसके इस मानसिक विकास को बहुआयामी विकास नहीं कहा जा सकता है।

ठीक इसके विपरीत यदि बालक शारीरिक रूप से स्वस्थ एवं हष्ट–पुष्ट है तथा उनका मानसिक विकास नहीं हो पाये तब भी उसके शारीरिक विकास को विषमांगी अथवा बहुआयामी विकास नहीं कहा जा सकता। बालक के बहुआयामी विकास से आशय है उसका सभी क्षेत्रों में उत्तम रूप से विकसित होना।

यदि कोई बालक शारीरिक और मानसिक रूप से विकास को प्राप्त कर ले तथा समाज और परिवार में समायोजन करने में असफल रहे तो उसका विकास बहुआयामी नहीं माना जायेगा। ऐसा बालक सामाजिक विकास में पिछड़ा माना जायेगा। बहुआयामी विकास का उददेश्य बालक के शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक, भावनात्मक, कलात्मक आदि पक्षों का विकसित करना है। बालक की शक्तियों एवं क्षमताओं का पूर्ण विकास उसके बहुआयामी विकास में निहित है। बहुआयामी विकास के साथ आगे बढ़ता बालक किसी भी परिवार, समाज और राष्ट्र की अमूल्य सम्पत्ति है। इसके अतिरिक्त बहुआयामी विकास के महत्व को निम्नलिखित बिंदुओं के आधार पर समझा जा सकता है–

(1) बहुआयामी विकास के अन्तर्गत बालक की रुचियों और व्यक्तिगत विभिन्नताओं को महत्व दिया जाता है।

(2) बालक की शक्तियों तथा क्षमताओं का पूर्ण विकास हो जाता है।

(3) बालक प्रत्येक दिशा में आगे बढ़ता है, प्रत्येक क्षेत्र में कौशल अर्जित करता है।

(4) बालक सामाजिकता तथा व्यावहारिकता को समझते हुए समाज में सरलता से समायोजित हो जाता है।

(5) बालक अपने जीवन में किसी भी कार्य को करने से वंचित नहीं रह पाता तथा समय आने पर आवश्यकतानुसार कोई भी कार्य कर सकता है।

(6) बालक समाज तथा राष्ट्र की प्रगति में सहायक बन जाता है।

(7) बहुआयामी विकास की प्रक्रिया बालक को सभी विषयों का सामान्य ज्ञान प्रदान करती है।

(8) बालक जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करने की क्षमता प्राप्त करने की दिशा में तीव्रता से आगे बढ़ने लगता है।

प्रश्न 16. (a) "विकास एक बहुआयामी तथा बहुमुखी प्रक्रिया है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए। (इंदौर मार्च 2023)

उत्तर–विकास से तात्पर्य प्राणी के सर्वांगीण उत्तोरत्तर परिवर्तन से है। विकास में न केवल शारीरिक पक्ष को सम्मिलित किया जाता है, बल्कि मानसिक, क्रियात्मक, नैतिक, सामाजिक, संवेगात्मक, सृजनात्मक, संज्ञानात्मक एवं बौद्धिक पक्ष को भी सम्मिलित किया जाता है। जन्म से पूर्व विकास अवस्था में मुख्यतः तीन प्रकार की विकास प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है– (i) शारीरिक विकास, (ii) गत्यात्मक विकास तथा (iii) सांवेगिक विकास। गर्भस्थ शिशु की शारीरिक लम्बाई–चौड़ाई बढ़ने के साथ–साथ उसका भार भी बढ़ता है, उसके शरीर के सभी अंगों में गत्यात्मक क्रियाओं का विकास होना प्रारम्भ हो जाता है और साथ–ही–साथ उनमें विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं का विकास होना भी प्रारम्भ हो जाता है। बाल्यावस्था के बाद किशोरावस्था तक मुख्य रूप से शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक, नैतिक–प्रक्रियाओं का विकास होता है। इस समय बालकों की रुचियों, अभिरुचियों, समायोजन और व्यक्तित्व आदि से संबंधित समस्याओं को दूर

करने का प्रयास किया जाता है ताकि उसका बहुआयामी विकास हो सके। मध्यावस्था में मुख्य रूप से संज्ञानात्मक क्षमताओं का सम्पूर्ण विकास हो जाता है।

विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर व्यक्ति के सभी आयामों में परिवर्तन होते हैं। एक तरफ सामाजिक विकास होता है तो साथ–ही–साथ संज्ञानात्मक परिवर्तन होता रहता है। व्यक्ति शारीरिक रूप से बढ़ता है तो उसी समय उसकी मानसिक क्षमताएँ भी बढ़ती हैं। संवेगात्मक विकास भी साथ में चलता है। इसलिए विकास को **बहुआयामी प्रक्रिया** कहा जाता है।

विकास से तात्पर्य व्यक्ति के तीनों ही पक्ष अर्थात् संज्ञानात्मक पक्ष, भावात्मक पक्ष एवं शारीरिक पक्ष के सकारात्मक परिवर्तन से है और ये सभी परिवर्तन सतत् एक साथ होते रहने के कारण विकास को **बहुआयामी** एवं **बहुमुखी परिवर्तन** या **प्रक्रिया** कहा गया है।

प्रश्न 16. (b) विकास की अवस्थाओं के वर्गीकरण की व्याख्या कीजिए। (छतरपुर 2022)

उत्तर–प्रत्येक मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक विकास की कई अवस्थाओं से होकर गुजरता है। उसका मानसिक, भाषायी, संवेगात्मक, सामाजिक और चारित्रिक विकास निरन्तर होता रहता है। यह सब विकास उसके विभिन्न आयु स्तरों पर भिन्न–भिन्न रूप में होता है। इन आयु स्तरों को ही विकास की अवस्थाएँ कहते हैं। भिन्न–भिन्न मनोवैज्ञानिकों ने मानव विकास की अवस्थाओं को भिन्न–भिन्न रूप में वर्गीकृत किया है।

भारत में मनुष्य जीवन को निम्न 7 अवस्थाओं में विभाजित करके देखा व समझा जाता है–

1. गर्भावस्था	–	गर्भाधान से जन्म तक
2. शैशवावस्था	–	जन्म से 5 वर्ष तक
3. बाल्यावस्था	–	5 वर्ष से 12 वर्ष तक
4. किशोरावस्था	–	12 वर्ष से 18 वर्ष तक
5. युवावस्था	–	18 से 25 वर्ष तक
6. प्रौढ़ावस्था	–	25 वर्ष से 55 वर्ष तक
7. वृद्धावस्था	–	55 से मृत्यु तक।

हरलॉक के अनुसार, विकास की अवस्थाएँ–

1. गर्भावस्था	–	जन्म से पूर्व
2. प्रारंभिक शैशवावस्था	–	जन्म से 14 दिवस तक
3. उत्तर शैशवावस्था	–	14 दिवस से 2 वर्ष तक
4. बाल्यावस्था	–	2 वर्ष से 11 वर्ष तक
5. प्रारम्भिक किशोरावस्था	–	11 से 13 वर्ष तक
6. किशोरावस्था	–	13 से 17 वर्ष तक
7. उत्तर किशोरावस्था	–	17 से 21 वर्ष तक।

रॉस के अनुसार, विकास की अवस्थाएँ–

1. शैशवावस्था	–	1 से 3 वर्ष तक
2. प्रारम्भिक बाल्यकाल	–	3 से 6 वर्ष तक
3. उत्तर बाल्यकाल	–	6 से 12 वर्ष तक
4. किशोरावस्था	–	12 से 18 वर्ष तक।

कॉलसनिक ने विकास की अवस्थाओं को 8 वर्गों में विभाजित किया है–

1. पूर्व जन्म काल	–	गर्भावस्था से जन्म तक
2. नव शैशव काल	–	जन्म से 3-4 सप्ताह तक
3. आरम्भिक शैशवावस्था	–	1 माह से 15 माह तक
4. उत्तर शैशवावस्था	–	15 माह से 30 माह तक
5. पूर्व बाल्यावस्था	–	$2\frac{1}{2}$ वर्ष से 5 वर्ष तक
6. मध्य बाल्यावस्था	–	5 वर्ष से 9 वर्ष तक
7. उत्तर बाल्यावस्था	–	9 वर्ष से 12 वर्ष तक
8. किशोरावस्था	–	12 वर्ष से 21 वर्ष तक।

सैले मानव विकास का अध्ययन केवल 3 अवस्थाओं में करने के पक्ष में है–

1. शैशवावस्था	–	1 वर्ष से 5 वर्ष तक
2. बाल्यावस्था	–	5 वर्ष से 12 वर्ष तक
3. किशोरावस्था	–	12 वर्ष से 18 वर्ष तक

डॉ. अरनेस्ट जोन्स के अनुसार, मनुष्य का विकास 4 सुस्पष्ट अवस्थाओं में होता है–

1. शैशवावस्था	–	जन्म से 5 या 6 वर्ष तक
2. बाल्यावस्था	–	5 से 12 वर्ष तक
3. किशोरावस्था	–	12 से 18 वर्ष तक
4. प्रौढ़ावस्था	–	18 वर्ष के बाद।

कोल ने विकास की अवस्थाओं का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया है–

1. शैशवावस्था	–	जन्म से 2 वर्ष तक
2. प्रारम्भिक बाल्यावस्था	–	2 से 5 वर्ष तक
3. मध्य बाल्यावस्था	–	बालक 6 से 12 वर्ष तक बालिका 6 से 10 वर्ष तक
4. पूर्व किशोरावस्था / उत्तर बाल्यावस्था	–	बालक 13 से 14 वर्ष तक बालिका 11 से 12 वर्ष तक
5. प्रारम्भिक किशोरावस्था	–	बालक 15 से 16 वर्ष तक बालिका 12 से 14 वर्ष तक
6. मध्य किशोरावस्था	–	बालक 17 से 18 वर्ष तक बालिका 15 से 17 वर्ष तक
7. उत्तर किशोरावस्था	–	बालक 19 से 20 वर्ष तक बालिका 18 से 20 वर्ष तक
8. प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था	–	21 से 34 वर्ष तक
9. मध्य प्रौढ़ावस्था	–	35 से 49 वर्ष तक
10. उत्तर प्रौढ़ावस्था	–	50 से 64 वर्ष तक

11. प्रारम्भिक वृद्धावस्था — 65 से 74 वर्ष तक
12. वृद्धावस्था — 75 वर्ष से आगे।

प्रश्न 17. मैसलो द्वारा प्रतिपादित आवश्यकताओं के पदानुक्रमिक मॉडल का वर्णन कीजिए। **(उज्जैन 2022; जबलपुर 22)**

***अथवा*, मैसलो के मानवतावादी सिद्धान्त का उल्लेख कीजिए।** **(छिंदवाडा 2021)**

***अथवा*, विकास के मानवतावादी सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।** **(छतरपुर 2021)**

उत्तर–विकास के मानवतावादी सिद्धान्त का केन्द्रीय तथ्य यह है कि बालक अनेक मनोवैज्ञानिक क्षमताओं और शक्तियों का केन्द्र होता है। प्रत्येक बालक विकास क्रम में अपने भीतर एक स्वत्व बोध और स्वयं को पहचानने की क्षमता विकसित कर लेता है। इसके फलस्वरूप धीरे–धीरे बालक के भीतर एक विशिष्ट व्यक्तित्व का विकास प्रारम्भ हो जाता है।

बालक अपनी समस्त आवश्यकताओं से अवगत हो जाता है। जहाँ मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त जन्मजात प्रवृत्ति को अधिगम सिद्धान्त परिवेशीय कारकों को महत्वपूर्ण मानते हैं, वहीं मानवतावादी सिद्धान्त बालक के विकास के लिए उसके भीतर निहित इच्छाशक्ति को महत्वपूर्ण मानता है।

मैसलो ने बालक की विभिन्न आवश्यकताओं को पाँच वर्गों में विभाजित कर उन्हें उनके महत्व के क्रम में व्यवस्थित किया है। आवश्यकता के ये पाँच वर्ग निम्नलिखित हैं–

1. दैहिक आवश्यकताएँ (Physiological Needs) –इसके अन्तर्गत भोजन, वस्त्र आदि से संबंधित आवश्यकताएँ आती हैं। यह सबसे निम्न स्तर की आवश्यकता होती है।

मैसलो के अनुसार–"यदि शारीरिक आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं होती है तो आगे की आवश्यकताएँ दब जाती हैं या अन्य आवश्यकताओं का प्रादुर्भाव/जन्म नहीं होता।"

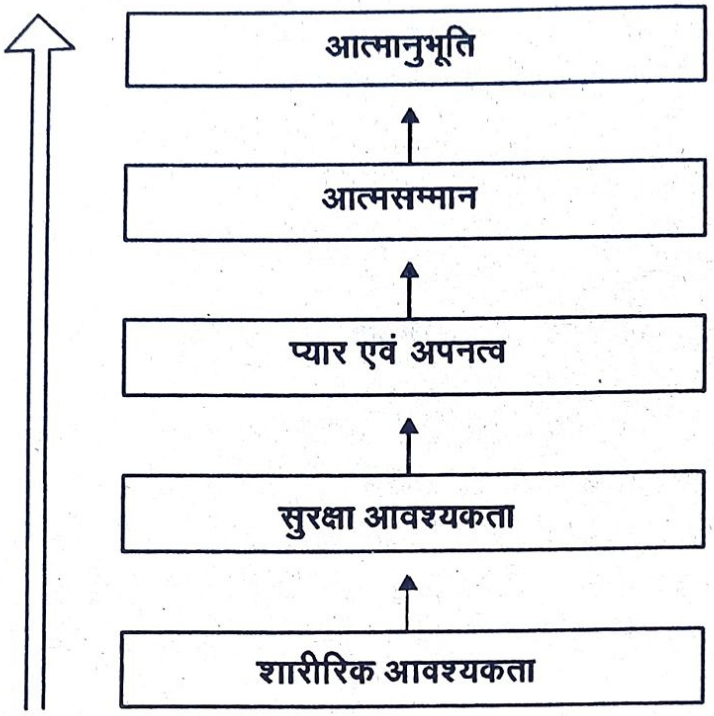
2. सुरक्षा संबंधी आवश्यकताएँ (Safety Needs) –जब शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है तो व्यक्ति की सुरक्षा आवश्यकता का प्रादुर्भाव होता है। इनका मुख्य संबंध नियम एवं कानून से सुरक्षा बनाये रखना होता है। व्यक्ति "जीवन बीमा पॉलिसी" लेकर अपनी सुरक्षा की आवश्यकता की संतुष्टि करता है।

3. संबंधन की आवश्यकताएँ (Belongingness Needs) –ये आवश्यकता समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ अंतर्क्रिया कर घनिष्ठ संबंध स्थापित करने के लिए आवश्यक होती है। ये शारीरिक आवश्यकता एवं सुरक्षा आवश्यकता पर निर्भर करती है। इस आवश्यकता से प्रेरित होकर व्यक्ति विभिन्न समुदायों, संस्थाओं तथा समूहों की सदस्यता ग्रहण करता है।

4. प्रतिष्ठा/सम्मान की आवश्यकताएँ (Esteem Needs) –इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु व्यक्ति समाज में अपने व्यवहार एवं चिंतन से सम्मान अर्जित करने की कोशिश करता है।

5. आत्मसिद्धि/आत्म–वास्तविकीकरण आवश्यकता (Self-Actualization Needs)–यह उच्चतम आवश्यकता है। इससे तात्पर्य है कि अपने व्यक्तिगत प्रकृति के सभी पहलुओं की पूर्ण संतुष्टि। इसके कारण व्यक्ति अपनी क्षमताओं का सर्वोत्तम उपयोग कर जीवन में अधिकाधिक संतुष्टि अर्जित करने का संकल्प लेता है।

आत्मसिद्ध व्यक्ति अपनी क्षमताओं के कारण अमूर्त चिन्तन, सृजनशीलता तथा कल्पनाशक्ति का उपयोग कर समाज, देश मानवता तथा ईश्वर के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करना चाहता है।



चित्र–मैसलो के पदानुक्रम का सिद्धान्त

प्रश्न 18. विकासात्मक कार्य (Developmental Task) से क्या आशय है ? स्पष्ट कीजिए।
(जबलपुर 2021; छिंदवाड़ा 21)

उत्तर–प्रत्येक समाज एवं संस्कृति में मानव मात्र के लिए कुछ सामाजिक अपेक्षाएँ होती हैं। इन्हीं अपेक्षाओं के अनुरूप किसी भी समाज एवं संस्कृति में बालक की वृद्धि एवं विकास को उन्मुख किया जाता है।

प्रत्येक संस्कृति में इस बात की अपेक्षा की जाती है कि उसमें पलने और बढ़ने वाले व्यक्ति उन विशिष्ट, अनिवार्य कौशलों और स्वीकृत व्यवहार प्रारूपों को अपने जीवन के विकास की प्रत्येक अवस्था में अर्जित करेगा इन्हीं अपेक्षाओं की पूर्ति, वृद्धि एवं विकास की विभिन्न अवस्थाओं में अपेक्षित व्यवहार प्रारूपों को विकसित करने के कार्य को ही **हेविगहर्स्ट** (Havighurst) ने 'विकासात्मक कार्य' (Developmental Task) का नाम दिया है।

हेविगहर्स्ट ने 1972 में, ये संकल्पना दी थी। इनके अनुसार विकासात्मक कार्य " एक ऐसा कार्य है जिसे जीवन में एक विशिष्ट अवस्था में सफलतापूर्वक उपलब्ध कर लेने से व्यक्ति को प्रसन्नता प्राप्त होती है। और यह आगे के कार्यों में सफलता की सम्भावनाओं को भी बढ़ाता है। इस कार्य में असफलता व्यक्ति को दुःख तथा अप्रसन्नता की ओर ढकेलती है तथा भावी कार्यों में भी कठिनाई उत्पन्न करती है।"

कुछ विकासात्मक कार्य शारीरिक परिपक्वता का परिणाम होती है; जैसे–चलना, दौड़ना आदि। अन्य विकासात्मक कार्य मुख्यतः सामाजिक एवं सांस्कृतिक दबावों एवं अपेक्षाओं के कारण होते हैं, जैसे–पढ़ना, सीखना और इसके अतिरिक्त वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन मूल्यों और आकांक्षाओं का अर्जन एवं व्यवसाय का चुनाव और उसमें कार्यरत् होने हेतु तैयारी करना।

अतः इस प्रकार कहा जा सकता है कि मुख्यतः शारीरिक–सामाजिक और सांस्कृतिक स्त्रोतों के बल एवं दबाव के कारण ही विकासात्मक कार्य जन्म लेता है।

विकासात्मक कार्य के उद्देश्य–1. विकासात्मक कार्य सर्वप्रथम व्यक्ति को ऐसे दिशा–निर्देश देते हैं जिनके फलस्वरूप वह यह जान पाता है कि अमुक अवस्था पर समाज उससे कैसी अपेक्षा करता है।

2. विकासात्मक कार्य व्यक्ति के जीवन में उन सभी सामाजिक अपेक्षाओं को पूर्ण करने के लिए उन्हें अभिप्रेरित करते हैं जो विकास की किसी अवस्था के लिए आवश्यक है।

3. विकासात्मक कार्य व्यक्तियों को यह भी बताते हैं कि आगामी या भावी विकास की अवस्था में जब वे पहुँचेंगे तो उनसे कौन–कौन से कार्य करने की अपेक्षाएँ की जायेगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विकासात्मक कार्य जीवन के प्रवाह में सफलतापूर्वक तैरने के लिए और जीवन के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए आवश्यक है।

प्रश्न 19. एक शिक्षक के लिए मानव विकास एवं अभिवृद्धि का अध्ययन क्यों आवश्यक है ?
(उज्जैन 2022)

उत्तर–मानव अभिवृद्धि से तात्पर्य मानव शरीर के अंगों के आकार, भार और कार्य शक्तियों में होने वाली वृद्धि से होता है। उसके शारीरिक अंगों में बाह्य और आंतरिक दोनों अंग आते हैं। बाह्य अंगों में हाथ, पैर, सिर और पेट आदि अंग आते हैं और आंतरिक अंगों में विभिन्न तंत्र और मस्तिष्क आते हैं। मनुष्य की यह अभिवृद्धि एक निश्चित आयु तक होती है। जिसे हम परिपक्वता कहते हैं।

(1) फ्रेंक के अनुसार–"अभिवृद्धि से तात्पर्य कोशिकाओं में होने वाली वृद्धि से होता है, जैसे– लंबाई और भार में वृद्धि।"

मानव विकास से तात्पर्य उसकी वृद्धि के साथ–साथ उसके शारीरिक एवं मानसिक व्यवहार में होने वाले परिवर्तनों से होता है। मनुष्य की अभिवृद्धि परिपक्वता प्राप्त करने के बाद रुक जाती है परन्तु उसके शरीर एवं मानसिक व्यवहार में निरंतर परिवर्तन होता रहता है। अतः मानव विकास एक निरंतर और आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है।

शिक्षकों के लिए विकास एवं अभिवृद्धि की आवश्यकता–

(1) शैक्षिक सहायता प्रदान करने हेतु–एक शिक्षक के लिए सामूहिक और व्यक्तिगत रूप से छात्रों की जरूरतों को सर्वोत्तम ढंग से पूरा करने के लिए मानव वृद्धि और विकास को समझना महत्वपूर्ण है। वृद्धि और विकास के विशिष्ट पैटर्न को समझकर शिक्षक उचित शैक्षिक विकल्प चुनने के लिए बेहतर ढंग से सुसज्जित होते हैं। जो विकास के विशिष्ट पैटर्न का पालन नहीं करते हैं और फिर छात्रों की सफलता में सुधार के लिए आवश्यक शैक्षिक सहायता प्राप्त करने में उन छात्रों की सहायता करते हैं।

(2) सर्वोत्तम शैक्षिक अवसरों को उपलब्ध कराना–विशिष्ट मानव विकास का ज्ञान शिक्षकों के लिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि वे अपने प्रत्येक छात्र के लिए सर्वोत्तम शैक्षिक अवसर तलाशते हैं। जब शिक्षक विकास के विशिष्ट पैटर्न को पहचानते हैं तो वे उन पैटर्न के बाहरी पहलुओं को भी पहचानने में सक्षम होते हैं।

(3) संसाधनों से लाभान्वित करने के लिए–छात्र विविध पृष्ठभूमि से स्कूल आते हैं और शिक्षकों को उन सभी छात्रों की जरूरतों को पूरा करने का काम सौंपा जाता है। व्यक्तिगत रूप से छात्रों की जरूरतों को पहचानने और फिर छात्र की सफलता सुनिश्चित करने में मदद के लिए आवश्यक सेवाएँ प्राप्त करने में सक्षम होना अत्यंत महत्वपूर्ण है और यह मानव विकास के मूल ज्ञान पर निर्भर है।

(4) छात्रों के मार्गदर्शन हेतु–शिक्षक छात्रों की वृद्धि और विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। शिक्षक छात्रों को ज्ञान प्रदान करके और ज्ञान प्राप्त करने में उनका मार्गदर्शन करके मदद करते हैं। वे यह भी सुनिश्चित करते हैं कि सीखने के कार्य के लिए पर्याप्त वातावरण प्रदान किया जाए।

(5) शिक्षण कार्य को सुविधाजनक बनाने में–शिक्षण कार्य को निष्पादित करने तथा सुविधाजनक बनाने के लिए, शिक्षकों को मानव वृद्धि और विकास को समझने की आवश्यकता है। इसके पीछे

कारण यह है कि शिक्षकों या बड़ी शिक्षा प्रणाली को उचित समूहों में समूहित करने और समूह के लिए उपयुक्त शिक्षण विधियों को लागू करने की आवश्यकता होगी। ये समूह मानव विकास के आधार पर स्थापित किए गए हैं। इस प्रकार मानव वृद्धि और विकास यह निर्धारित करता है कि शिक्षक अपने कार्य कैसे करते हैं।

(6) विषय–वस्तु पढ़ाने में सहायक–शिक्षक को कोई भी विषय वस्तु पढ़ाने के पूर्व यदि मानव विकास एवं अभिवृद्धि का उचित ज्ञान है तो वह उनके लिए उचित शिक्षण विधियों का प्रयोग कर अपनी विषय–वस्तु को बेहतर तरीके से पढ़ा सकता है।

अभिवृद्धि की विशेषताएँ–अभिवृद्धि की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

(1) मानव अभिवृद्धि प्राकृतिक प्रक्रिया है।

(2) मानव अभिवृद्धि की प्रक्रिया गर्भावस्था से एक निश्चित समय तक चलती है।

(3) अभिवृद्धि में मनुष्य के शरीर के आकार, भार व कार्य क्षमता में वृद्धि होती है।

(4) भिन्न–भिन्न आयु स्तर पर अभिवृद्धि की गति भिन्न–भिन्न होती है।

(5) मानव अभिवृद्धि मनुष्य के वंशानुक्रम एवं पर्यावरण पर निर्भर करती है।

(6) मानव अभिवृद्धि की एक सीमा होती है जो 18-20 वर्ष की आयु तक लगभग पूर्ण हो जाती है।

(7) मानव अभिवृद्धि मात्रात्मक होती है इसलिए इसका मापन गणितीय विधियों से किया जा सकता है।

मानव विकास की विशेषताएँ–

(1) मानव विकास एक प्राकृतिक एवं सामाजिक प्रक्रिया है।

(2) मानव विकास की प्रक्रिया जीवन भर चलती है।

(3) मानव विकास में मात्रात्मक वृद्धि एवं गुणात्मक उन्नयन दोनों होते हैं।

(4) मानव विकास एक विशेष क्रम में होता है और विभिन्न आयु स्तर पर विकास की गति भिन्न–भिन्न होती है।

(5) मानव विकास वंशानुक्रम एवं पर्यावरण पर निर्भर करता है।

(6) मानव विकास की कोई सीमा नहीं होती।

(7) मात्रात्मक अभिवृद्धि का मापन गणितीय विधियों से किया जा सकता है परन्तु गुणात्मक विकास को गणितीय विधियों से नहीं नापा जा सकता।

प्रश्न 20. कोहलबर्ग के अनुसार नैतिक विकास के चरण कौन–कौन से हैं ?

(छतरपुर 2022)

उत्तर–व्यक्ति का सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों के अनुरूप व्यवहार करना ही नैतिक विकास कहलाता है। जैसे–सामाजिक रीति–रिवाजों, परम्पराओं और मान्यताओं के अनुरूप जीवन जीना। अर्थात् नैतिक विकास का अर्थ बच्चों, किशोरों या वयस्कों में उचित–अनुचित, सही–गलत व्यवहारों में अंतर करके उसके अनुरूप व्यवहार करने की क्षमता से है। अत: बालकों द्वारा अपने माता–पिता या पूर्वजों से अर्जित मूल्य, मान्यताएँ, परम्पराएँ तथा रीति–रिवाज ही नैतिकता कहलाता है।

जोन्स के अनुसार–"निश्चित समय या स्थान के आदर्शो के प्रति अनुरूपता का प्रदर्शन ही नैतिकता है।"

बोरॉन के अनुसार–"नैतिक विकास से तात्पर्य बढ़ती उम्र के साथ विभिन्न क्रियाओं से सही या गलत होने के बारे में सोचने की क्षमता में परिवर्तन से होता है।"

नैतिक विकास के चरण—नैतिक विकास के चरण निम्न हैं—

(1) नैतिक व्यवहार का विकास।

(2) नैतिक अवधारणा का विकास।

(1) नैतिक व्यवहार का प्रथम चरण (नैतिक व्यवहार का विकास)—समाज के समस्त व्यवहारों को ग्रहण करने में व्यक्ति को अनेक वर्ष लगते हैं। इनमें से कुछ नैतिक व्यवहारों को वह दण्ड एवं पुरस्कारों से सीखता है, कुछ अनुकरण द्वारा सीखता है, और कुछ को प्रतिबिम्बित चिंतन के माध्यम से सीखता है। समस्त नैतिक व्यवहारों को सिखाने का उद्देश्य बालकों में अनुशासन की भावना का विकास करना है। यदि अनुशासन की धारणा स्पष्ट है तो बालक नैतिक व्यवहार को सरलतापूर्वक सीख लेता है। बालक को सही–गलत सिखाना मात्र ही नैतिक व्यवहार का सीखना नहीं है। 'ईमानदारी' के गुण के बारे में अध्ययन करके यह परिणाम निकाला गया कि विशिष्ट परिस्थितियों में ऐसे गुणों का विकास किया जा सकता है। कभी–कभी ऐसी भी परिस्थिति आती है कि बालक सही निर्णय लेने में संघर्ष की स्थिति से गुजरता है। नैतिक व्यवहार को उचित रूप से सीखने के लिए बालक को निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए—

(i) बालक को विशिष्ट परिस्थिति में सही कार्य करने की कुशलता अर्जित करनी चाहिए।

(ii) बालक में सही–गलत की शुद्ध अवधारणाओं का विकास होना चाहिए।

(iii) विभिन्न परिस्थितियों में समान विशेषताओं वाले व्यवहार का अर्जन करना चाहिए।

(2) नैतिक अवधारणा का विकास—नैतिक विकास की प्रक्रिया में नैतिक अवधारणा का विकास भी एक आवश्यक पहलू है। जब हम सही–गलत की बात करते हैं तो हम यह मान लेते हैं कि यह भावात्मक विचार है। भावात्मक अवधारणाओं को ग्रहण करने तथा समझने के लिए यह आवश्यक है कि मानसिक तथा शारीरिक परिपक्वता में संतुलन हो। अवधारणा के विकास पर बालक की बुद्धि पर उसके सामाजिक, सांवेगिक–विकास, सांस्कृतिक वातावरण एवं उसकी प्रक्रिया से उत्पन्न गुणों का प्रभाव पड़ता है। बालक में निःस्वार्थ भावना का विकास स्वार्थ की भावना–युक्त, आत्म–केन्द्रीयता, सामाजिक केन्द्रीयता, आज्ञापालन, धर्म तथा नैतिकता के नियमों का अनुपालन, सामाजिक अस्वीकृति का भय तथा पारस्परिक अनुक्रिया द्वारा होता है।

नैतिक विकास की विशेषताएँ—

(i) इससे बालकों में उचित–अनुचित तथा सही–गलत व्यवहारों का ज्ञान प्राप्त होता है।

(ii) इससे बालकों में समाज के मूल्यों एवं परम्पराओं को स्थापित करने में सहायता मिलती है।

(iii) इससे व्यक्ति समाज सीखे गये नियमों के अनुरूप अपने व्यवहारों में परिवर्तन लाते हैं।

(iv) यह बालक में उन क्षमताओं तथा योग्यताओं को विकसित करता है जो उसे आदर्श नागरिक बनाता है।

(v) इससे बालकों में सामाजिक, धार्मिक, भौतिक तथा सैद्धांतिक मूल्यों का विकास होता है।

अतः **कोहलबर्ग** के अनुसार "नैतिक विकास का एक चरण जिसके दौरान लोग मौजूदा सामाजिक मानदंडों या नियमों के संदर्भ में नैतिकता का न्याय करते हैं।" को नैतिकता के पारंपरिक स्तर के रूप में जाना जाता है।

प्रश्न 21. बेन्डूरा का "सामाजिक व्यक्तित्व विकास सिद्धांत" लिखिए। (छतरपुर 2022)

उत्तर—बेन्डूरा के सिद्धांत के अनुसार, व्यक्ति अवलोकन, नकल और आदर्श व्यवहार के तिमान के माध्यम से एक–दूसरे से सीखते हैं। समाज द्वारा स्वीकार किये जाने वाले व्यवहार को पनाना तथा वर्जित व्यवहार न करना ही सामाजिक अधिगम है। सामाजिक अधिगम सिद्धांत को

व्यवहारवाद और संज्ञानात्मक अधिगम सिद्धान्तों के बीच की योजक कड़ी कहा जाता है, क्योंकि यह सिद्धान्त ध्यान, स्मृति और प्रेरणा तीनों को संयोजित करता है। इसलिए अल्बर्ट बेन्डूरा को प्रथम मानव व्यवहार संज्ञानवादी कहते हैं।

बेन्डूरा का प्रयोग—बेन्डूरा ने एक बालक पर बेबी डॉल प्रयोग किया। इसके लिए बेन्डूरा ने एक बालक को तीन तरह की फिल्में दिखाई।

प्रथम—इस फिल्म में बालक को सामाजिक मूल्य आधारित पहलू दिखाए गये जिसे देखकर बालक बेबी डॉल के साथ सामाजिक व्यवहार दर्शाता है।

दूसरी—यह फिल्म प्रेम पर आधारित थी जिसे देखकर बालक बेबी डॉल से स्नेह करता है।

तीसरी—यह फिल्म हिंसात्मक दृश्य युक्त थी। जिसे देखकर बालक गुड़िया की गर्दन को तोड़ देता है।

इस प्रयोग के आधार पर बेन्डूरा ने यह निष्कर्ष निकाला कि छोटे बच्चों को यह नहीं पता होता कि उनको क्या सीखना चाहिए और क्या नहीं सीखना चाहिए इसलिए बच्चों के समक्ष सदैव आदर्श व्यवहार के प्रतिमान को प्रस्तुत करना चाहिए।

सामाजिक अधिगम के उपाय—

(1) ध्यान अधिगम विषय—वस्तु को आकर्षक तथा प्रभावशाली तरीके से प्रस्तुत करना ध्यान/अवधान कहलाता है।

(2) अवधारणा या धारणा करना— इसके अंतर्गत यह देखा जाता है कि अधिगम के लिए प्रस्तुत की गई विषय—वस्तु को कितना सीखा गया है।

(3) पुनः प्रस्तुतीकरण—यदि उक्त वस्तु का अधिगम कम प्रभावशाली हो तो ऐसी स्थिति में अधिगम की विषय—वस्तु को पुनः प्रस्तुत करना चाहिए। यथा छात्र विषय—वस्तु को कम सीख पाते हैं तो उसको पुनः दोहराना चाहिए तथा सिखाने के लिए मॉडल, चित्र, चार्ट आदि सामग्री का उपयोग करना चाहिए।

(4) पुनर्बलन विषय—वस्तु को पुनः प्रस्तुतीकरण के पश्चात् यदि बालक अधिगम की प्रतिपुष्टि कर दे तो यह प्रतिपुष्टि की पुनर्बलन है। यदि छात्र उसे सही ढंग से सीख लेता है, तो उसकी प्रशंसा द्वारा उसे प्रेरित करना चाहिए।

सामाजिक अधिगम को प्रभावित करने वाले कारक—अधिगमकर्ता का शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य कैसा है, उसकी क्षमता कितनी है वह क्या हासिल करना चाहता है, उसके जीवन का क्या उद्देश्य है इन बातों पर उसके सीखने की गति, इच्छा एवं रुचि निर्भर करती है।

(1) छात्र संबंधी कारक—शारीरिक स्वास्थ्य— स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क होता है। मानसिक योग्यताएँ, बौद्धिक स्तर, बुद्धि लब्धि 90 से अधिक।

(2) शिक्षक से संबंधित कारक—अधिगम की प्रक्रिया को प्रभावित करने में शिक्षक की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। अध्यापक का विषय पर कितना अधिकार है, वह शिक्षण कला में कितना योग्य है, उसका व्यक्तित्व एवं व्यवहार कैसा है, इन सबका प्रभाव बालक के अधिगम पर पड़ता है। अध्यापक के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य का भी बालक के अधिगम से सीधा संबंध होता है। एक स्वस्थ शिक्षक ही सही तरीके से बच्चों को पढ़ा सकता है।

शिक्षक संबंधी कारक—

(i) शिक्षक की शारीरिक रचना तथा आकार।

(ii) शिक्षक की मानसिक योग्यता तथा बौद्धिक क्षमताएँ।

(iii) शिक्षक की शैक्षिक उपलब्धि।

(iv) शिक्षक की प्रशिक्षण की योग्यता।

(v) शिक्षण विधि, प्रविधियों का ज्ञान एवं कौशल।

(vi) अभिप्रेरणा तथा पुनर्बलन का बोध व प्रविधियों का ज्ञान व कौशल।

(vii) कक्षा प्रबन्धन की क्षमता।

(3) पाठ्यवस्तु से संबंधित कारक– इससे संबंधित कारक निम्न हैं–

(i) पाठ्यवस्तु की प्रकृति (कहना, करना, प्रदर्शन करना)।

(ii) पाठ्यवस्तु का विश्लेषण तथा संश्लेषण।

(iii) पाठ्यवस्तु के उद्देश्यों का प्रतिपादन करना।

(iv) पाठ्यवस्तु के प्रस्तुतीकरण हेतु विधियों एवं प्रविधियों का चयन करना।

(v) पाठ्यवस्तु के आधार पर अधिगम परिस्थितियों का निर्धारण करना।

(vi) पाठ्यवस्तु के आधार पर शिक्षण सूत्रों का उपयोग करना।

प्रश्न 22. बालकों के विषय में आँकड़े एकत्रित करने की प्राकृतिक निरीक्षण विधि को स्पष्ट कीजिए। **(उज्जैन 2022)**

उत्तर–बाल विकास का अध्ययन क्षेत्र मनोविज्ञान के विकास के साथ–साथ धीरे–धीरे विस्तृत होता है। बाल विकास के अध्ययनों में आँकड़ों का एकत्रीकरण करने हेतु कुछ विशेष विधियों का प्रयोग किया जाता है। मनोविज्ञान की सभी अध्ययन विधियाँ बाल क्षेत्र की समस्याओं का अध्ययन करने हेतु उपयोगी नहीं है। कुछ अध्ययन विधियों का महत्व ज्यादा है क्योंकि भिन्न–भिन्न आयु के बच्चों की समस्याएँ भी भिन्न–भिन्न होती हैं। उनके लिए आँकड़ों का एकत्रीकरण भी भिन्न–भिन्न तरीकों से किया जाता है।

उदाहरण–नवजात शिशुओं की एवं गर्भकालीन शिशु की विकास समस्याओं का अध्ययन करने के लिए निरीक्षण तथा प्रयोगात्मक विधि को अपनाना होगा। इसके साथ–साथ व्यक्तिगत इतिहास विधि का भी प्रयोग कर सकते हैं।

बच्चों की समस्याओं का अध्ययन करने हेतु प्राकृतिक निरीक्षण, साक्षात्कार, बच्चों के संदर्भ में निकले जनरल एनसीडोन्टल रिकार्ड एवं चिकित्सीय विधियाँ ज्यादा उपयोगी हो सकती हैं। बड़े बच्चों का अध्ययन करने हेतु साक्षात्कार विधि एवं चिकित्सीय विधियाँ ज्यादा उपयोगी हो सकती हैं। छोटे शिशुओं का अध्ययन ज्यादातर प्राकृतिक निरीक्षण पद्धति एवं बच्चों के संदर्भ में प्रकाशित जनरल, पत्रिकाओं आदि से भी किया जाता है, क्योंकि इन जनरल एवं पत्रिकाओं में विविध नवीन शोध कार्यों का विवरण दिया गया होता है।

बच्चों के विषय में आँकड़े एकत्रित करने की प्राकृतिक निरीक्षण विधि–बच्चों के आँकड़े एकत्रित करने हेतु इस विधि का प्रयोग प्राचीन काल से किया जा रहा है। इस विधि का उपयोग छोटे बच्चों का तथा शिशुओं की समस्याओं के अध्ययन हेतु किया जाता है। इस विधि का सर्वप्रथम प्रयोग जर्मनी में हुआ। अमेरिका में वाटसन ने इस विधि का उपयोग बालकों के प्राथमिक संवेगों के अध्ययन में किया। गेसेल ने 1925 में इस विधि में moving picture camera का प्रयोग किया तथा व्यवहार चित्रों के विश्लेषण से बालकों के संबंध व्यवहार के शुद्ध परिणाम प्राप्त किए।

प्राकृतिक रूप से निरीक्षण करने हेतु निरीक्षणकर्ता कक्ष से बाहर रहकर ही बालकों का निरीक्षण करता है। इस तरह के निरीक्षण में यह व्यवस्था होती है कि बालक निरीक्षक न देख पाए एवं निरीक्षक ही बालक को देख पाए। कक्ष के उपयोग से वातावरण की बाधाएँ तथा निरीक्षक की उपस्थिति का प्रभाव नहीं पड़ता है। प्राकृतिक निरीक्षण करते समय बच्चों को यह ज्ञात नहीं होना

चाहिए कि कोई उनका निरीक्षण कर रहा है। इसमें बालक के व्यवहार से संबंधित किसी परिस्थिति विशेष का सविस्तार अध्ययन किया जाता है।

उदाहरण—बालक के झगड़े की परिस्थिति का अध्ययन झगड़ा कितनी देर, किन परिस्थितियों में तथा क्यों हुआ यह जरूरी है कि प्राकृतिक निरीक्षण करते समय एवं आँकड़ों का संकलन करते समय निरीक्षण विधि के सैद्धांतिक पक्ष को समझ लिया जाए।

प्राकृतिक निरीक्षण विधि से आँकड़ों का एकत्रीकरण करते समय अगर शिशु बहुत होते हैं तो उनके हाव–भाव एवं गतिविधियों का बहुत बारीकी से अध्ययन करना चाहिए। प्राकृतिक निरीक्षण विधि में अध्ययन बहुत सावधानी से किया जाता है। प्राकृतिक निरीक्षण विधि को सरल या अनियंत्रित निरीक्षण विधि भी कहते हैं। यह निरीक्षण विधि का महत्वपूर्ण प्रकार है। यंग के अनुसार, "अनियंत्रित निरीक्षण में हमें वास्तविक जीवन परिस्थितियों की सूक्ष्म परीक्षा करनी होती है जिसमें विशुद्धता के यंत्रों का प्रयोग अथवा निरीक्षित घटना की सत्यता की जाँच का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता है।"

प्राकृतिक निरीक्षण विधि की विशेषताएँ–

(1) प्राकृतिक निरीक्षण विधि बच्चों की समस्याओं के संबंध में आँकड़ों का संकलन करने हेतु बहुत उपयोगी है।

(2) इस विधि द्वारा आँकड़ों का एकत्रीकरण आसानी से किया जा सकता है।

(3) समाज विज्ञानों हेतु यह एक उपयोगी विधि है।

प्राकृतिक निरीक्षण विधि की सीमाएँ–

(1) इस विधि द्वारा विश्वसनीय परिणाम प्राप्त नहीं होते हैं क्योंकि बहुधा हम घटना की सूक्ष्मता से जाँच किए बिना ही परिणाम स्वीकार कर लेते हैं।

(2) निरीक्षणकर्ता की भावनाओं तथा विचारों के प्रभाव के कारण भी दोषपूर्ण परिणाम प्राप्त हो सकते हैं क्योंकि अध्ययनकर्ता पर इस विधि में कोई नियंत्रण नहीं होता है।

(3) बहुधा एक ही घटना का निरीक्षण करके भिन्न–भिन्न निरीक्षणकर्ता भिन्न–भिन्न निष्कर्ष निकालते हैं। इस विधि द्वारा प्राप्त निष्कर्ष भी अप्रमाणित एवं वस्तुनिष्ठता रहित होते हैं।

प्रश्न 23. आँकड़ें एकत्रीकरण के लिए साक्षात्कार विधि के उपयोग पर प्रकाश डालें।

(जबलपुर 202)

***अथवा*, विभिन्न संदर्भों में बालकों के संबंध में प्रदत्त संकलन हेतु नैसर्गिक अवलोकन का वर्णन कीजिए।** **(भोपाल 202)**

उत्तर—विकास एक अनवरत चलने वाली प्रक्रिया है तथा विकास की प्रक्रिया में बालक के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, भावनात्मक, पक्ष सम्मिलित है। मनोविज्ञान में बाल विकास का क्षेत्र निरन्तर विस्तृत होता जा रहा है। बाल विकास में बालक से संबंधित विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया जाता है। विशेषतः उसकी बाल्यावस्था के समय का क्योंकि यह काल उसके विकास में अति महत्वपूर्ण माना जाता है। बाल विकास के समस्त पक्षों का अध्ययन करने हेतु प्रायः विभिन्न आँकड़ों का एकत्रीकरण करने के लिए कुछ विशेष विधियों का प्रयोग किया जाता है। उनमें से कुछ विधियाँ निम्नलिखित हैं–

1. साक्षात्कार विधि (Interview)— साक्षात्कार का अंग्रेजी रूपान्तर इण्टरव्यू है। अंग्रेजी भाषा का यह शब्द दो शब्दों Inter + view = Interview से मिलकर बना है। 'Inter' का अर्थ है 'आन्तरिक' तथा 'view' का अर्थ है 'अवलोकन करना'। इस प्रकार साक्षात्कार या इण्टरव्यू का शाब्दिक अर्थ

आन्तरिक अवलोकन करना है। साक्षात्कार एक अनुसंधान प्रविधि या अनुसंधान उपकरण है। इसके माध्यम से विभिन्न परिस्थितियों में आवश्यक सूचनाएँ या आँकड़े प्राप्त किये जाते हैं।

चैपलिन के अनुसार– "साक्षात्कार आमने–सामने होने वाला वह वार्तालाप है जिसका उद्देश्य तथ्यपूर्ण सूचना प्राप्त करना होता है।"

पी. वी. यंग के अनुसार (P.V. Young)– "साक्षात्कार को ऐसी व्यवस्थित विधि माना जा सकता है जिसके अंतर्गत एक व्यक्ति काल्पनिक रूप से कम या अधिक एक ऐसे व्यक्ति के आन्तरिक जीवन में प्रवेश करता है, जो कि उसके लिए अपेक्षाकृत अपरिचित होता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि साक्षात्कार अनुसंधान प्रविधि की एक साधारण प्रक्रिया नहीं है। बल्कि यह अति–विकसित कला है।

साक्षात्कार विधि का उपयोग– आँकड़ों के एकत्रीकरण में इस विधि का सर्वाधिक प्रयोग किया जाता है। साक्षात्कार विधि का उपयोग काफी दिनों से होता चला आ रहा है। आधुनिक युग में इस विधि का महत्व दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इसमें साक्षात्कारकर्ता और सूचनादाता दोनों ही आमने–सामने बैठते हैं और साक्षात्कारकर्ता सूचनादाता से अध्ययन समस्या के संबंध में सूचना प्राप्त करने का प्रयास करता है। यह विधि बहुत छोटे बच्चों के लिए उपयोगी नहीं है। कुछ बड़े बच्चों तथा किशोरों के लिए अधिक उपयोगी है। इस विधि का उपयोग स्वतंत्र विधि के रूप में भी किया जा सकता है। और सहयोगी विधि के रूप में भी। इस विधि का उपयोग अनेक प्रकार के अध्ययनों के लिएकिया जाता है। बालकों पर इस विधि का प्रयोग आँकड़ों के एकत्रीकरण के लिए सफलतापूर्वक किय जा सकता है।

साक्षात्कार विधि की विशेषताएँ–

(1) इस विधि द्वारा हम उन समस्याओं तथा घटनाओं का अध्ययन कर सकते हैं जिनको हम देख भी नहीं सकते हैं अथवा जिनका निरीक्षण विधि द्वारा अध्ययन नहीं किया जा सकता।

(2) इस विधि द्वारा गत घटनाओं का अध्ययन सरलता से किया जा सकता है। बहुत सी बाल–मनोविज्ञान की घटनाएँ ऐसी है जिनका वैयक्तिक रूप से निरीक्षण सम्भव नहीं है।

(3) साक्षात्कार विधि में यदि अध्ययनकर्ता प्रशिक्षित होता है और उपयुक्त नियंत्रण के साथ प्रदा सामग्री एकत्र करता है तो उसे विश्वसनीय परिणाम प्राप्त होते हैं।

(4) चूँकि साक्षात्कार ऐतिहासिक और संवेगात्मक पृष्ठभूमि में सम्पादित किया जाता है अतः इसविधि द्वारा जो सामग्री प्राप्त की जाती है वह अन्य विधियों द्वारा प्राप्त नहीं होती है।

(5) बाल–मनोविज्ञान में विभिन्न मनोवैज्ञानिक व्याधियों के निदान में यह विधि उपयोगी है।

2. नैसर्गिक अवलोकन / प्राकृतिक निरीक्षण विधि

नैसर्गिक अवलोकन विधि से आँकड़ों का एकत्रीकरण करते समय यदि शिशु बहुत होते हैं तो उसके हाव–भाव तथा गतिविधियों का बहुत बारीकी से अध्ययन करना चाहिए। नैसर्गिक विधि में अलोकन बहुत बारीकी से किया जाता है। नेत्रों का पूरी तरह उपयोग होता है। अध्ययन करने वाला निोक्षण प्रत्यक्ष रूप से अध्ययन में भाग लेता है। इस विधि द्वारा किसी भी अध्ययन की प्राथमिक सामग्री प्राप्त की जा सकती है और साथ–साथ नियंत्रित निरीक्षण विधि की सहायता से महत्वपूर्ण आंकड़ें एकत्रित किये जा सकते हैं। इस विधि की सहायता से बच्चों के सामूहिक व्यवहार का भी अध्ययन किया जा सकता है। इस विधि का उपयोग बहुधा प्राथमिक आँकड़ों को एकत्रित करने के लिए किया जाता है।

जैसे–अधिगम से संबंधित अध्ययन, प्रत्यक्षीकरण, अभिप्रेरणा आदि इसकी सहायता से मनोविज्ञान की विभिन्न समस्याओं को प्राथमिक निरीक्षण के आधार पर चुनते हैं। इस विधि का उपयोग उस समय अधिक किया जाता है जब किसी अध्ययनकर्ता को इस विधि के आधार पर उपकल्पनाएँ बनानी हों।

विशेषताएँ– नैसर्गिक विधि की विशेषताएँ निम्न हैं–

(1) समाज में समाज विज्ञानों के लिए यह एक उपयोगी विधि है।

(2) प्राकृतिक निरीक्षण विधि बच्चों की समस्याओं के सम्बन्ध में आँकड़ों का संकल्प करने के लिए बहुत उपयोगी है।

(3) इस विधि द्वारा आँकड़ों का एकत्रीकरण सरलता से किया जा सकता है।

प्रश्न 24. साक्षात्कार (Interview) क्या होता है ? साक्षात्कार विधि पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
(इन्दौर 2021)

उत्तर–साक्षात्कार का अर्थ मुख्य रूप से "निश्चित उद्देश्य के साथ वार्तालाप है"। इस विधि में साक्षात्कारकर्ता और सूचना प्रदान करने वाला एक–दूसरे के आमने–सामने बैठकर तथा संबंध स्थापित कर वार्तालाप करता है तथा वांछित सूचनाएँ प्राप्त की जाती हैं।

गुड और हैट (Goode and Hatt) **के अनुसार**–"साक्षात्कार एक प्रकार से वह आधार है जिसके ऊपर सभी तत्व टिकते हैं क्योंकि यह आँकड़े एकत्रित करने का चरण है।"

पोलिन यंग (Pauline Young) **के अनुसार**–"साक्षात्कार वह क्रमबद्ध विधि है जिसके द्वारा एक व्यक्ति अपेक्षाकृत अजनबी व्यक्ति के जीवन में प्रवेश करता है।"

उपरोक्त परिभाषाओं के अध्ययन एवं विश्लेषण के परिणामस्वरूप साक्षात्कार के अर्थ के संबंध में निम्नलिखित तत्व स्पष्ट रूप से पाये जाते हैं–

(1) साक्षात्कार में व्यक्ति का व्यक्ति से संबंध होता है।

(2) साक्षात्कार प्रक्रिया के दौरान साक्षात्कारकर्ता को साक्षात्कार के उद्देश्यों का ज्ञान पहले से ही होता है।

(3) साक्षात्कार एक–दूसरे से सम्पर्क स्थापित करने का साधन है।

(4) साक्षात्कार आमने–सामने बैठकर उद्देश्यपूर्ण वार्तालाप है।

(5) व्यक्ति की मनोवृत्ति, आन्तरिक विचार, समस्याओं एवं भावनाओं का अध्ययन एवं विश्लेषण करने की विधि है।

(6) साक्षात्कार एक आत्मनिष्ठ विधि है।

साक्षात्कार विधि के प्रकार–

1. संरचित साक्षात्कार (Structured Interview),
2. असंरचित साक्षात्कार (Unstructured Interview)।

1. संरचित साक्षात्कार –इस प्रकार के साक्षात्कार को नियंत्रित या निर्देशित साक्षात्कार भी कहते हैं। इस प्रकार के साक्षात्कार में पूरे निर्धारित कार्यक्रम का अनुसरण ही किया जाता है। साक्षात्कारकर्ता द्वारा पूर्व में निर्धारित प्रश्न ही पूछे जाते हैं। सामान्यतः वह अपनी तरफ से कुछ भी उसमें नहीं जोड़ता।

2. असंरचित साक्षात्कार –इसको अनियंत्रित या अनिर्देशित साक्षात्कार भी कहा जाता है। इस प्रकार के साक्षात्कार में पूर्व–निर्धारित प्रश्नों का प्रयोग नहीं किया जाता है। इस प्रकार के साक्षात्कार

में अपेक्षाकृत विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। यह साक्षात्कार स्वतंत्र परिचर्चा या कथा वाचन के रूप में होती है। इस प्रकार के साक्षात्कार में अपेक्षाकृत समय अधिक लगता है।

साक्षात्कार विधि के उद्देश्य—ये निम्न हैं—

(1) व्यक्ति से सूचना एवं जानकारी प्राप्त करने का उद्देश्य।

(2) व्यक्ति को प्रेरणा प्रदान करके स्वयं में रुचि लेने के लिए प्रेरित करना।

(3) व्यक्ति को शैक्षिक, व्यावसायिक तथा मनोवैज्ञानिक समस्या हल करने तथा समायोजन प्राप्त करने में सहायता देना।

(4) पहले से एकत्रित तथ्यों की साक्षात्कार द्वारा पुष्टि करना।

साक्षात्कार के गुण/लाभ— ये इस प्रकार हैं—

(1) इस विधि द्वारा प्रार्थी को सम्पूर्ण रूप से समझा जा सकता है।

(2) इस विधि का प्रयोग करना सरल है।

(3) इस विधि द्वारा प्राप्त सूचनाएँ विश्वसनीय होती हैं।

(4) साक्षात्कार द्वारा भूतकालीन घटनाओं का अध्ययन भी कर सकते हैं।

(5) साक्षात्कार छोटे बालक, अनपढ़ एवं कम बुद्धिलब्धि या असामान्य बालकों के लिए भी लाभकारी है।

(6) साक्षात्कार द्वारा कई प्रकार के संशयों (Doubts) को दूर किया जा सकता है।

साक्षात्कार विधि के दोष— इनके दोष निम्न हैं—

(1) यह एक आत्मनिष्ठ विधि है।

(2) इस विधि में समय अधिक लगता है।

(3) व्यक्तिगत भावनाओं द्वारा साक्षात्कार भी प्रभावित हो सकता है।

(4) साक्षात्कार कृत्रिम वातावरण में होता है, अत: प्रार्थी का व्यवहार विश्वसनीय नहीं होता।

(5) साक्षात्कार लेने के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है।

(6) कई बार प्रार्थी को साक्षात्कार के लिए तैयार कराना कठिन होता है।

(7) कई परिस्थितियों में साक्षात्कार से प्राप्त सूचनाओं एवं परिणामों की व्याख्या करना सरल नहीं होता है।

प्रश्न 25. बच्चों के बारे में चिंतनशील पत्रिका (Reflective journal about children) से आप क्या समझते हैं ?

(इंदौर मार्च 2023)

उत्तर—चिंतनशील पत्रिकाएँ छात्रों के सीखने के अनुभवों का व्यक्तिगत रिकॉर्ड है। छात्रों को आमतौर पर उनके प्रशिक्षकों द्वारा सीखने से संबंधित घटनाओं को रिकॉर्ड करने के लिए कहा जाता है। कभी–कभी सीखने की प्रक्रिया के दौरान लेकिन अक्सर उनके घटित होने के बाद। पत्रिकाओं और शिक्षण लॉग में प्रविष्टियाँ पाठ्यक्रम सामग्री, असाइमेंट, परीक्षा, छात्रों के स्वयं के विचारों प्रक्रियाओं के बारे में या किसी विशेष कक्षा अवधि में क्या हुआ ? इसके बारे में छात्रों की विचार प्रक्रिया के बारे में प्रश्नों से प्रेरित हो सकती है। फिर जर्नल और शिक्षण लॉग को प्रतिक्रिया के लिए प्रशिक्षक को प्रस्तुत किया जाता है। पेपर आधारित और ऑनलाइन जर्नल या लॉग दोनों को प्रत्येक कक्षा अवधि से पहले या बाद में या किसी अन्य निर्दिष्ट समय पर प्रारंभ किया जा सकता है।

परिभाषा—एक चिंतनशील पत्रिका छात्र के सीखने के अनुभवों का एक व्यक्तिगत रिकार्ड है। यह एक ऐसा स्थान है, जहाँ एक शिक्षार्थी स्थितियों के प्रति अपने अवलोकनों और प्रतिक्रियाओं को

रिकार्ड और प्रतिबिंबित कर सकता है। जिसका उपयोग फिर सोचने के तरीकों का पता लगाने और उनका विश्लेषण करने के लिए किया जा सकता है। जर्नल, हाँलाकि आमतौर पर लिखे जाते हैं, उनमें चित्र और अन्य प्रकार की संदर्भ सामग्री भी हो सकती है।

चिंतनशील पत्रिकाओं का उद्देश्य—एक चिंतनशील पत्रिका शिक्षार्थियों के लिए अपने सीखने और सिखाने के अनुभवों को विभिन्न तरीकों से प्रतिबिम्बित करने का एक साधन है। वे इसके अभ्यस्त हैं—

(i) किसी दिए गए संदर्भ में शिक्षार्थियों के विचारों और अंतर्दृष्टि और/या समूह के विकास को रिकॉर्ड करें और इसमें अवधारणाओं, विचारों और अनुभव और सिद्धांत से मुख्य बिन्दुओं को शामिल किया जा सकता है।

(ii) शिक्षार्थियों की समझ बढ़ाने के साधन के रूप में विषय सामग्री और व्यक्तिगत अनुभवों पर विचार करें।

(iii) आत्म विकास के लिए सीखने की प्रक्रिया का विश्लेषण करें।

चिंतनशील पत्रिकाओं का उपयोग—चिंतनशील पत्रिकाओं का उपयोग व्यक्तिगत दृष्टिकोण से स्थितियों का पता लगाने के लिए किया जाता है। लेकिन आमतौर पर छात्रों के अपने अनुभवों से सीखने के लिए। इनका उपयोग कारवाई को प्रतिबिम्बित करने, उसमें शामिल होने और कारवाई के लिए किया जाता है। प्रतिबिम्ब से उत्पन्न होने वाले सामान्य प्रश्न हैं—

(i) क्या हुआ ? (कार्यों पर विचार करते हुए)

(ii) यह क्यों होता है ? (कार्यों में प्रतिबिम्बित)

(iii) भविष्य के कार्यों के लिए इससे क्या सीखा जा सकता है ? (कार्यों के लिए चिंतन)

अत: चिंतनशील पत्रिका दैनिक प्रतिबिम्ब प्रविष्टियों को लिखने का एक स्थान है। यह स्वयं के साथ घटित कुछ अच्छी या बुरी घटनाओं, जिस पर चिंतन कर सकते हैं और पिछले अनुभवों से सीख सकते हैं। एक चिंतनशील पत्रिका जीवन में घटित महत्वपूर्ण सीखने की घटनाओं की पहचान करने में आपकी मदद कर सकती है।

प्रश्न 26. आकस्मिक/एनेकडोटल/उपाख्यानात्मक अभिलेख को समझाइये।

***अथवा*, एनेकडोटल अभिलेख (Anecdotal Record) पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।**

उत्तर—आकस्मिक अभिलेख—इसका अर्थ होता है, विद्यार्थी द्वारा लिखित डायरी, अध्यापकों द्वारा तैयार किये गए घटना, वृत्त तथा संचयी अभिलेख पत्र इत्यादि। अध्यापकों द्वारा प्रतिदिन किया गया विद्यार्थियों का निरीक्षण, विद्यार्थियों के व्यवहार संबंधी चित्र बिल्कुल स्पष्ट कर देता है।

रैथस लुईस (R. Louis) **के अनुसार**—"किसी विद्यार्थी के जीवन की महत्वपूर्ण घटना की रिपोर्ट ही आकस्मिक अभिलेख है।"

आर्थर जे. जोन्स (Arthur J. Jones) **के अनुसार**—"आकस्मिक अभिलेख किसी घटना का मौके पर ही वर्णन है जिसे महत्वपूर्ण समझकर निरीक्षण और रिकॉर्ड किया जाये। जब इन रिपोर्टों को इकट्ठा कर लिया जाता है तो इसे आकस्मिक निरीक्षण अभिलेख कहा जाता है।"

"पूर्व अनुभव या व्यवहार का लेखा तैयार करना।" आकस्मिक अभिलेख विद्यार्थी के जीवन के महत्वपूर्ण प्रसंग की रिपोर्ट है।

आकस्मिक अभिलेख के गुण—(1) एक अच्छे आकस्मिक निरीक्षण अभिलेख में वस्तुनिष्ठता का गुण होता है।

(2) आकस्मिक अभिलेख में यह विशेषता होती है कि वह किसी व्यक्ति या घटना के बारे में पूर्ण जानकारी या चित्र प्रस्तुत करता है।

(3) इस अभिलेख में घटनाएँ क्रमानुसार होती हैं।

(4) इस अभिलेख में केवल प्रमुख सूचनाएँ ही रिकॉर्ड की जाती हैं।

(5) इस अभिलेख की सहायता से शिक्षक विद्यार्थियों की रुचियों और आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम में उचित संशोधन एवं परिवर्तन कर सकता है।

आकस्मिक अभिलेख की त्रुटियाँ—(1) यह अभिलेख आत्मनिष्ठ होते हैं।

(2) इन अभिलेखों को लिखना एवं इसका रख–रखाव करना कठिन होता है।

(3) इन अभिलेखों की व्याख्या करना बहुत जटिल कार्य है।

(4) कई बार इन अभिलेखों में अवांछनीय जानकारियाँ होती हैं।

(5) इन अभिलेखों से व्यक्ति के कुछ विशेष कार्यों या घटनाओं का ही वर्णन मिलता है। व्यक्ति की सम्पूर्ण जानकारी नहीं मिलती है।

प्रश्न 27. पियाजे के अनुसार बालक के संज्ञानात्मक विकास की विवेचना कीजिए तथा इसका शैक्षिक निहितार्थ लिखिए। **(ग्वालियर 2021, 22; जबलपुर 21, 22; छतरपुर 22)**

***अथवा*, जीन पियाजे द्वारा प्रस्तुत संज्ञात्मक विकास के सिद्धांत का संक्षेप में वर्णन कीजिए।** **(उज्जैन 2022)**

उत्तर—जीन पियाजे (Jean Piaget) को ज्ञानात्मक विकास के क्षेत्र में कार्य करने वाले तत्कालीन मनोवैज्ञानिकों में सर्वाधिक प्रभावशाली माना जाता है। जीन पियाजे ने अपने तीन बच्चों के मानसिक विकास से संबंधित क्षण–प्रतिक्षण का लेखा–जोखा तैयार किया और ज्ञानात्मक कार्यविधि के सिद्धान्त दिये। पियाजे के अनुसार ज्ञानात्मक कार्यविधि की मुख्य विशेषताएँ—**संगठन** और **अनुकूलन** हैं। संगठन से तात्पर्य प्रत्यक्षीकृत बौद्धिक संरचनाओं को सार्थक पैटर्न, जिन्हें बौद्धिक संरचनाएँ कहते हैं, में व्यवस्थित करने से है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वयं की बौद्धिक संरचनाओं का निर्माण करता है। अनुकूलन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने पूर्व ज्ञान एवं नवीन अनुभवों के बीच संतुलन स्थापित करता है। अनुकूलन में दो प्रक्रियाएँ हो सकती हैं—

1. आत्मसातकरण (Assimilation), 2. समायोजन (Accommodation)।

1. आत्मसातकरण—आत्मसातकरण से तात्पर्य नवीन अनुभवों को पूर्व बौद्धिक संरचनाओं में व्यवस्थित करना है।

2. समायोजन—समायोजन से तात्पर्य नवीन अनुभवों के अनुसार पूर्ववर्ती बौद्धिक संरचनाओं में सुधार, विस्तार या परिवर्तन करने से है। यह पूर्व ज्ञान को आवश्यकतानुसार परिवर्तित करने तथा पूर्व ज्ञान तथा नये अनुभवों को उचित ढंग से व्यवस्थित करने की प्रक्रिया है।

पियाजे के अनुसार, बौद्धिक विकास व्यक्ति तथा वातावरण की परस्पर सतत् अन्तःक्रिया पर निर्भर करता है। अनुकूलन की प्रक्रिया जीवन–पर्यन्त चलती रहती है, जो व्यक्ति नवीन अनुभवों को जितनी अच्छी तरह आत्मसात तथा आवश्यकतानुसार पूर्व ज्ञान के साथ समायोजित कर सकेगा वह मानसिक अवस्था के शीर्ष तक पहुँच सकेगा।

संज्ञानात्मक विकास एक स्वसंचालित प्रक्रिया है जिसमें बालक अपनी बौद्धिक संरचनाओं तथा नवीन अनुभवों में तालमेल बैठाना सिखाता है।

अपने अवलोकन के आधार पर पियाजे ने बौद्धिक विकास को चार मुख्य अवस्थाओं में बाँटा है–

1. संवेदीगामक अवस्था (Sensory motor stage),

2. पूर्व–संक्रियात्मक अवस्था (Pre-operational stage),

3. मूर्त–क्रियात्मक अवस्था (Concrete operational stage),

4. औपचारिक संक्रियात्मक अवस्था (Formal operational stage)।

1. संवेदीगामक अवस्था (0-2 वर्ष)–(1) पियाजे ने ज्ञानात्मक विकास की प्रथम अवस्था को संवेदीगामक अवस्था के नाम से संबोधित किया है।

(2) यह अवस्था बालक के जन्म से दो वर्षों तक चलती है।

(3) इस अवस्था में बालक देखने, पहुँचने, चूसने, पकड़ने आदि की स्वतः सहज क्रियाओं से व्यवस्थित प्रयासरत क्रियाओं की ओर अग्रसित होता है।

(4) जन्म के समय बालक में देखने, छूने, पकड़ने तथा चूसने की क्षमताएँ होती हैं, परन्तु धीरे–धीरे इन क्षमताओं पर आधारित उनकी स्वतः सहज क्रियाएँ अधिक प्रभावशाली व संगठित होती जाती हैं। वह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए इनका प्रयोग करना सीख जाता है।

(5) संवेदीगामक अवस्था के दौरान शिशु असहाय जीवधारी से गतिशील तथा सामाजिक दृष्टि से चतुर व्यक्ति बन जाते हैं।

(6) बालक इस अवस्था में प्रयास एवं त्रुटि के आधार पर अपनी परिस्थितियों को समझने का प्रयास करते हैं।

(7) इस अवस्था की शुरुआत में बालक अनुकरण (Imitation) के लिए भाषा का प्रयोग करता है परन्तु बाद में वे अपनी अभिव्यक्ति के लिए भाषा का प्रयोग करते हैं।

2. पूर्व–संक्रियात्मक अवस्था (2-7 वर्ष)–(1) ज्ञानात्मक विकास की यह अवस्था 2 वर्ष से 7 वर्ष तक चलती है।

(2) इस अवस्था में संकेतात्मक कार्यों का तथा भाषा के प्रयोग की शुरुआत होती है।

(3) इस अवस्था में विचार प्रक्रिया अविलोम होती है अर्थात् बालक मानसिक क्रम प्रारंभिक बिन्दु पर पुनः नहीं लौट पाता।

(4) इस अवस्था में बालक के खेल ज्यादा–से–ज्यादा सामाजिक होते जाते हैं।

3. मूर्त–संक्रियात्मक अवस्था (7-12 वर्ष)–(1) यह अवस्था 7 से 12 वर्ष तक की होती है।

(2) बालक मूर्त वस्तुओं के संबंध में तार्किक क्रियाएँ करने लगता है।

(3) इस अवस्था में बालक वस्तु को माप सकता है, तौल सकता है तथा गिन सकता है।

(4) इस अवस्था में बालक की संज्ञानात्मक प्रक्रिया पहले से जटिल एवं तार्किक हो जाती है।

(5) इस अवस्था में बालकों में वस्तुओं को छोटी से बड़ी के क्रम में व्यवस्थित करने की योग्यता होती है।

(6) इस अवस्था में बालकों में आत्मकेन्द्रित प्रवृत्ति कम होने लगती है।

4. औपचारिक संक्रियात्मक अवस्था (12 वर्ष से जीवन–पर्यन्त)–(1) यह अवस्था 12 साल से लगभग जीवन भर ही चलती है।

(2) इस अवस्था में बालक का समस्या समाधान व्यवहार अधिक व्यवस्थित हो जाता है। बालक निष्कर्ष निकालने लगता है एवं व्याख्या करने लगता है।

(3) इस अवस्था में बालक अपने बारे में विचार करते हैं, इसलिए स्वआलोचक बन जाते हैं।

(4) इस अवस्था में बालक का बौद्धिक संगठन अधिक क्रमबद्ध हो जाता है।

(5) वे पुरानी पीढ़ी के मूल्यों एवं व्यवहारों की विश्लेषणात्मक आलोचना करना प्रारंभ कर देते हैं।

पियाजे के सिद्धान्त का शैक्षिक निहितार्थ–(1) अधिगम के लिए बालक की मानसिक एवं शारीरिक सक्रियता आवश्यक है। अतः पहले उन्हें अधिगम हेतु शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से तैयार करना चाहिए।

(2) बालक को किसी ऐसी बात को सीखने के लिए दबाव नहीं डालना चाहिए जो सीखने में वह सक्षम न हो।

(3) बालक को कभी उसकी आयु से अधिक परिपक्वता के लिए दबाव नहीं डालना चाहिए।

(4) शिक्षक का दायित्व है कि वह कक्षा का वातावरण ऐसा बनाये कि विद्यार्थी उनकी क्षमता के अनुरूप उस वातावरण से कुछ ग्रहण कर सके।

(5) बालक उन्हीं बातों को सीखते हैं जिनमें उनका मन लगे इसलिए शिक्षक को शिक्षण विधि और अधिगम क्रिया छात्रों के अनुरूप चयन करनी चाहिए।

(6) नर्सरी एवं प्राथमिक विद्यालयों के विद्यार्थी विशेषकर मूर्त वस्तुओं, सामग्रियों एवं घटनाओं से अच्छी तरह समझते हैं, वे शब्दों एवं अन्य प्रकार के संकेतों पर अपेक्षाकृत कम ध्यान देते हैं। बालक को, वस्तु स्पर्श करने एवं अनुभूति करने का अवसर देना चाहिए, उससे उनकी संकल्पना स्पष्ट होगी और अधिगम भी प्रभावी होगा।

प्रश्न 28. बालक के विकास प्रक्रिया को समझने में जीन पियाजे के योगदान का संक्षेप में परिचय दीजिए।

उत्तर– पियाजे का सिद्धांत (Theory of Piaget)– स्विस मनोवैज्ञानिक **पियाजे** का कहना है कि जैसे–जैसे बच्चे की आयु बढ़ती है, उसका कार्यक्षेत्र बढ़ता जाता है । साथ ही उसकी बुद्धि का विकास भी होता जाता है। उन्होंने स्पष्ट किया कि पहले बच्चा सरल प्रत्ययों के माध्यम से सीखता है परंतु जैसे–जैसे बच्चा बड़ा होता है कठिन–से–कठिन प्रत्ययों को ग्रहण करने लगता है। इन्होंने कहा, सीखना कोई यांत्रिक क्रिया नहीं है, एक बौद्धिक प्रक्रिया है, एक सम्प्रत्यय निर्माण की प्रक्रिया है और यह सम्प्रत्यय निर्माण बालक की आयु के अनुसार होता है।

पियाजे ने अपने सिद्धांत में निम्नलिखित पदों पर विशेष बल दिया है–(i) अनुकूलन (Adaptation), (ii) साम्यधारणा (Equilibration), (iii) संरक्षण (Conservation), (iv) संज्ञानात्मक संरचना (Cognitive structure), (v) मानसिक क्रिया (Mental operation), (vi) स्कीम्स (Schemes), (vii) स्कीमा (Schema) एवं (viii) विकेन्द्रण (Decentering)।

पियाजे के सीखने के सिद्धांत की विशेषताएँ–ये निम्न हैं–

(1) सीखना एक क्रमिक एवं आरोही प्रकिया है। (2) पियाजे के अनुसार सीखने का पर्यावरण और क्रिया मूल आवश्यकताएँ हैं। (3) बालक के अमूर्त चिन्तन पर उसकी शिक्षा का प्रभाव पड़ता है। निम्न स्तर पर अमूर्त चिन्तन कम व उच्च शिक्षा स्तर पर अमूर्त चिन्तन अधिक होता है। (4) पियाजे के अनुसार, औपचारिक संक्रिया अवस्था के बाद बालक की सम्पूर्ण बौद्धिक शक्ति का विकास हो जाता है और अपनी बौद्धिक क्षमताओं के प्रयोग से समस्या का समाधान क्रमबद्ध व तार्किक ढंग से कर सकता है। (5) पियाजे के अनुसार बच्चों में चिंतन एवं खोज करने की शक्ति उसकी जैविक परिपक्वता, अनुभव एवं इन दोनों की अन्तर्क्रिया पर निर्भर करता है।

पियाजे के सिद्धांत का शिक्षा में उपयोग–इस सिद्धांत के उपयोग निम्नलिखित हैं–

(1) इस सिद्धांत ने बालकों की स्वक्रिया द्वारा सीखने पर बल दिया।, (2) पियाजे ने अनुकरण व खेल को महत्व दिया और शिक्षक को इन्हीं विधियों से पढ़ाना चाहिए।, (3) सीखने में प्रगति न करने वालों को दण्ड नहीं देना चाहिए।, (4) पियाजे ने संज्ञानात्मक विकास के अनुसार विभिन्न

श्रेणियों को विभाजित किया। उसी के अनुसार किसी भी आयु के लिए पाठ्यक्रम निर्माण करना चाहिए।, (5) पियाजे ने बुद्धि का मापन उसके व्यावहारिक उपयोग (वातावरण के साथ अंतः क्रिया) की क्षमता के रूप में किया है। बुद्धि परीक्षण निर्माण में व्यावहारिक रूप में प्रयोग से संबंधित क्रियाओं का उपयोग करना चाहिए।, (6) पियाजे के सिद्धांत के अनुसार चालक और अभिप्रेरणा अधिगम एवं विकास के लिए आवश्यक है। अतः शिक्षक को शिक्षण अधिगम में इसका प्रयोग करना चाहिए।, (7) पियाजे के अनुसार सीखना बालक के स्वयं और उसके पर्यावरण से अंतः क्रिया के फलस्वरूप होता है, अतः शिक्षकों एवं अभिभावकों को बालकों के लिए उचित मार्गदर्शन करना चाहिए। इस प्रकार पियाजे के सिद्धांत का शिक्षा में बहुत महत्व है।

प्रश्न 29. अन्तर्दर्शन अवलोकन/आत्म–निरीक्षण विधि का अर्थ स्पष्ट करते हुए इनके गुण एवं दोषों का वर्णन कीजिए।

उत्तर–अन्तर्दर्शन या आत्म–निरीक्षण का अर्थ है, "अपने आप से देखना"। इसमें मानव स्वयं की मानसिक क्रियाओं का निरीक्षण, विश्लेषण तथा वर्णन करता है। निरन्तर निरीक्षण में व्यक्ति अपने अनुभवों, स्मरण व भावनाओं का मूल्यांकन करता है। यह मनोविज्ञान की बहुत पुरानी पद्धति है। व्यक्ति अपने मन में स्वयं झांक कर खुद का परिचय लेता है। इस विधि से प्राप्त ज्ञान आत्मगत होता है।

टिचनर के अनुसार–"अपने आत्मा में देखना ही अन्तर्दर्शन है।"

स्काउट के अनुसार–"अपनी मानसिक क्रियाओं का व्यवस्थित अध्ययन करना ही अन्तर्दर्शन है।"

गुण/विशेषताएँ–(1) मानव अपनी मानसिक स्थिति तथा क्रिया–प्रतिक्रिया का निरीक्षण स्वयं इसी विधि के कारण ही कर पाते हैं।

(2) व्यक्ति अपने मन के बारे में प्रत्यक्ष, तुरन्त तथा अंतर्ज्ञान प्राप्त करता है।

(3) यह अत्यन्त सरल एवं कम खर्चीली विधि है, क्योंकि इस परीक्षण के लिए किसी प्रयोगशाला या उपकरण की आवश्यकता नहीं होती।

(4) अध्यापक अपने अध्यापन की गुणवत्ता को अपने आत्म मूल्यांकन तथा आत्म परामर्श के आधार पर बढ़ा सकते हैं।

दोष–(1) इस प्रक्रिया में प्रयोगकर्ता तथा जिस पर प्रयोग हो रहा है दोनों एक ही व्यक्ति होते हैं इसलिए वो सही प्रकार से मानसिक क्रियाओं का निरीक्षण नहीं कर पाते। मानसिक क्रियाएँ अस्थायी, चंचल और अस्थिर रहती है इसलिए एक ही व्यक्ति सभी चीजों का नियंत्रण करने के लिए अपने मस्तिष्क को ध्यान केन्द्रित (Concentrate) नहीं कर पाता है।

(2) इस विधि द्वारा प्राप्त ज्ञान आत्मिक होता है इसलिए इसकी स्वायत्ता की जाँच नहीं की जा सकती है।

(3) इस विधि में पक्षपात की संभावना बनी रहती है जिससे इसका उचित मूल्यांकन नहीं हो पाता है।

(4) इस विधि का प्रयोग बालक या असामान्य व्यक्ति नहीं कर सकते।

अंतर्दर्शन अवलोकन विधि ने मनोविज्ञान के क्षेत्र में अनेक प्रकार से सहायता दी है, लेकिन शिक्षा मनोविज्ञान में यह पद्धति बहुत महत्वपूर्ण नहीं रही है। क्योंकि इस विधि को वस्तुनिष्ठ नहीं माना जाता है।

प्रश्न 30. (a) अनुदैर्ध्य उपागम/विधि (Longitudinal Method) का अर्थ स्पष्ट करते हुए इस विधि के गुण एवं दोष की व्याख्या कीजिए।

उत्तर–अनुदैर्ध्य उपागम/विधि–अनुदैर्ध्य अध्ययन में एक ही बालक का अलग–अलग आयु स्तरों पर कई बार निरीक्षण किया जाता है। एक ही बालक के विकास की गति और दिशा जानने के लिए यह आवश्यक है कि उसका दीर्घकाल तक निरीक्षण किया जाये। उदाहरण के लिए, यदि हमारा उद्देश्य किसी विशिष्ट बालक की ऊँचाई, भार, वृद्धि, शब्द भंडार, सामाजिक परिपक्वता, संवेगात्मक नियंत्रण अथवा मनोवृत्तियों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करना हो, तो हम उस बालक का क्रमशः दो, चार, छः, आठ, दस वर्षों की अवस्था तक निरीक्षण करेंगे और यह देखेंगे कि उपर्युक्त क्षमताएँ उस विभिन्न आयु स्तर पर कितनी बढ़ती या घटती है। इस प्रकार, हम अनुदैर्ध्य अध्ययन विधि द्वारा एक ही बालक को विकास की विभिन्न अवस्थाओं से गुजरते हुए देख पाते हैं और किसी विशिष्ट बालक के सम्पूर्ण विकास की गतिविधि से परिचित हो जाते हैं। विकास का अध्ययन करने में अनुदैर्ध्य विधि का नमूना उन मनोवैज्ञानिक तथा शिक्षाशास्त्रियों के अध्ययनों से प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है जिन्होंने बाल–चरित्र लेख लिखा है। **गुड एनफ** ने चित्र–निर्माण की सहायता से बालकों की वृद्धि का जो विभिन्न अवस्थाओं में अध्ययन किया है उसमें भी दीर्घकालीन उपागम का प्रयोग किया जाता था। आधुनिक विद्यालयों में विद्यार्थियों के चरित्र एवं उपलब्धियों के जो संचयी अभिलेख तैयार किये जाते हैं ये भी बालकों के अनुदैर्ध्य अध्ययन पर ही आधारित होते हैं।

अनुदैर्ध्य विधि के गुण–ये निम्न हैं–

(1) इस विधि के द्वारा प्रत्येक बालक का व्यक्तिगत स्तर पर अध्ययन करना संभव है।

(2) इस विधि द्वारा किसी बालक के शारीरिक एवं मानसिक विकास का संचयी विवरण ज्ञात किया जा सकता है। जैसे–विद्यालय में पढ़ने वाला कोई बालक भिन्न–भिन्न कक्षाओं में विज्ञान अथवा गणित विषय में कितने अंक प्राप्त करता रहा है और इस विषय में उसकी प्रगति की दर क्या रही है।

(3) इस विधि द्वारा बालक के किसी निश्चित अवधि में हुए विकास की मात्रा एवं गुण की जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

(4) इस विधि की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसके द्वारा बालक की स्नायुविक परिपक्वता (Neural Maturation) और उसकी मानसिक क्षमताओं के बीच संबंध का पता चलता है।

(5) सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश में घटित होने वाले परिवर्तनों का बालक के व्यवहार तथा व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ता है ? इस बात का अध्ययन भी अनुदैर्ध्य उपागम की सहायता से किया जा सकता है।

अनुदैर्ध्य उपागम के दोष–(1) यह विधि अधिक खर्चीली है एवं अधिक समय लगता है अर्थात् धन एवं समय की दृष्टि से अधिक खर्चीला पाया गया है।

(2) लम्बे समय तक एक ही बालक का बार–बार अध्ययन किए जाने के कारण प्रायः अधिकांश बालक अध्ययन में पूरा सहयोग नहीं दे पाते और उनमें रुचि कम होने लगती है। कुछ माता–पिता के स्थानान्तरण के कारण भी अध्ययन के लिए उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। लंबे समय तक चलने के कारण किसी बालक की बीमारी, आकस्मिक निधन आदि इस विधि को नकारात्मक रूप से प्रभावित करते हैं।

(3) कई बार देखा गया है कि इस विधि से प्रदत्त संकलन करने में शोधकर्ता ही अपना धैर्य खो बैठता है, फलस्वरूप अनेक अध्ययन अधूरे रह जाते हैं।

(4) इस विधि के द्वारा आमतौर पर गुणात्मक प्रदत्त ही प्राप्त होते हैं, जिसके फलस्वरूप बालक के विकास की केवल गुणात्मक व्याख्या ही हो पाती है।

प्रश्न 30. (b) प्रदत्त संकलन हेतु अनुदैर्ध्य और अनुप्रस्थ विधि से आप क्या समझते हैं? वे एक–दूसरे से कैसे भिन्न हैं ? **(भोपाल 2022)**

उत्तर–अनुदैर्ध्य विधि–इस विधि में मनोवैज्ञानिक अध्ययनकर्ता छात्रों के एक ही समूह का अध्ययन भिन्न–भिन्न समयों पर उनके व्यवहार एवं अन्य गुणों में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर करते हैं। यह एक समयावधि शोध विधि है।

अनुप्रस्थ विधि–इस विधि को समकालीन विधि प्रति–खंडात्मक क्षैतिज एवं मानवीकृत उपागम के नाम से जाना जाता है। इस विधि द्वारा विकास की प्रक्रिया का अध्ययन करने के लिए विभिन्न आयु या स्तर के बालकों का चयन किया जाता है। यह विधि अनुदैर्ध्य विधि के ठीक विपरीत है। इस विधि में अध्ययनकर्ता भिन्न–भिन्न आयु एवं सामाजिक आर्थिक स्तरों से छात्रों का चयन कर कई समूह बनाते हैं, जिनका अध्ययन एक समय में एक साथ किया जाता है। उसके बाद इन सभी समूहों में अध्ययन किये जाने वाले व्यवहार का मापन कर आपस में तुलना किया जाता है।

भिन्नता–उपरोक्त विधियों में निम्नलिखित भिन्नताएँ हैं–

क्र.	अनुदैर्ध्य विधि	अनुप्रस्थ विधि
1.	अनुदैर्ध्य विधि द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के विकास एवं वृद्धि का सही विश्लेषण किया जा सकता है।	अनुप्रस्थ विधि में विकासात्मक प्रक्रिया का एक निश्चित समय में विभिन्न वर्गो को लेकर तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।
2.	इस विधि द्वारा विकास की वास्तविक तस्वीर प्राप्त होती है।	वृद्धि प्रक्रिया के बारे में महत्वपूर्ण सूचना प्राप्त होती है।
3.	इस विधि द्वारा यह पता लगाया जा सकता है कि विकासात्मक परिवर्तन कैसे और क्यों उत्पन्न हो रहे हैं।	प्रदत्तों के आधार पर मानक निर्मित करके अन्य लोगों की क्षमताओं एवं कार्यों की तुलना की जा सकती है।
4.	इस विधि द्वारा व्यक्तित्व के परिवर्तनशील प्रतिमानों के अतिरिक्त स्थिर प्रतिमानों की भी जानकारी मिलती है।	विकास की विभिन्न अवस्थाओं में से किसी निश्चित योग्यता का मापन किया जाता है।
5.	विकास की गति का अध्ययन व्यक्ति तथा समूह दोनों के लिए किया जा सकता है।	विकास की गति का अध्ययन समूहों में किया जाता है।
6.	अनुदैर्ध्य विधि द्वारा विकासात्मक प्रतिमानों, अन्त: वैयक्तिक विचरणशीलता तथा अन्तर–वैयक्तिक विचरणशीलता का भी अध्ययन किया जा सकता है।	इस विधि द्वारा विकासात्मक प्रतिमानों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।

प्रश्न 31. प्रतिनिध्यात्मक विधि (Cross-sectional Method) का अर्थ स्पष्ट करते हुए इस विधि के गुण एवं दोष की व्याख्या कीजिए। **(जबलपुर 2022)**

उत्तर—प्रतिनिध्यात्मक विधि—इस विधि में विभिन्न अवस्थाओं के बालकों के बड़े—बड़े समूहों का प्रायः एक ही समय निरीक्षण किया जाता है और प्राप्त परिणामों के औसत मान को उस अवस्था का प्रतिमान या नॉर्म (Norm) समझा जाता है। उदाहरण के लिए, यदि हमें यह जानना हो कि विभिन्न अवस्थाओं के बालकों को कितने शब्दों की जानकारी होती है तो हम चार, छः, आठ, दस और बारह वर्ष के बालकों के अलग—अलग समूहों का अध्ययन करेंगे। इस प्रकार, प्रत्येक अवस्था के बालकों में पाये जाने वाले शब्द भंडार का पता लगायेंगे। प्रत्येक अवस्था के बालकों में पाये जाने वाले शब्द भंडार का आकार उस अवस्था के बालकों के लिए नॉर्म (Norm) कहा जायेगा।

प्रतिनिध्यात्मक विधि के गुण—(1) जैसा कि पहले बताया जा चुका है, जब कोई बालकों या बाल—समूहों की विशेषताओं का अध्ययन करना होता है और पृथक्—पृथक् समूहों के लिए विकासात्मक प्रतिमानों का निर्धारण करना होता है तो प्रतिनिध्यात्मक उपागम का प्रयोग किया जाता है।

(2) एक साथ अनेक बालकों का अध्ययन सम्पन्न करने से अध्ययन में समय, श्रम एवं धन की बचत होती है।

(3) समय और श्रम की बचत के कारण प्रतिनिध्यात्मक उपागम द्वारा बालकों के अध्ययन में धन की भी बचत होती है। इसमें कम संख्या में निरीक्षकों की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए इसका प्रयोग बहुतायत में किया जाता है।

प्रतिनिध्यात्मक विधि के दोष—(1) इस विधि के प्रयोग से बालक की क्षमताओं एवं उपलब्धियों के संचयी विवरण उपलब्ध नहीं हो सकते हैं।

(2) इस विधि की सहायता से हम बालकों के दो समूहों में समानता और भिन्नता ज्ञात कर सकते हैं, किन्तु किन्हीं दो बालकों के बीच पायी जाने वाली समानता अथवा भिन्नता की जानकारी नहीं प्राप्त कर सकते।

(3) इस विधि की सहायता से न तो यह जाना जा सकता है कि किसी बालक में विकास की गति कैसी है ? और न ही उसके विकास की पूरी तस्वीर सामने आ पाती है।

प्रश्न 32. निरीक्षण/अवलोकन विधि का अर्थ स्पष्ट करते हुए इस विधि के गुण एवं दोष की व्याख्या कीजिए। **(रीवा 2022)**

उत्तर—अवलोकन/निरीक्षण विधि का सामान्य अर्थ है 'ध्यानपूर्वक देखना'। इस विधि द्वारा किसी व्यक्ति के व्यवहार, आचरण, क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं आदि को ध्यानपूर्वक देखकर उसकी मानसिक दशा का अनुमान लगा सकते हैं।

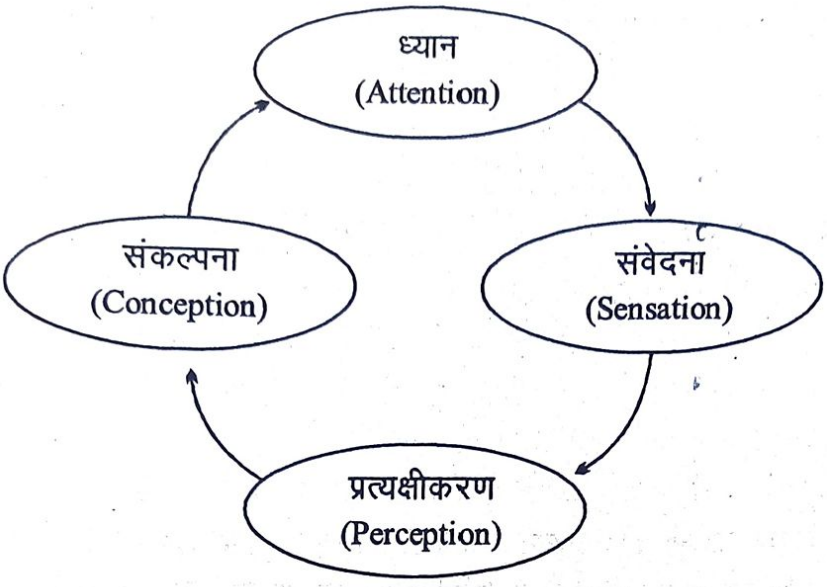
अवलोकन की प्रक्रिया के लिए चार मुख्य प्रक्रिया का होना अनिवार्य है—1. ध्यान, 2. संवेदना 3. प्रत्यक्षीकरण एवं 4. संकल्पना।

1. ध्यान (Attention)—प्रभावी अवलोकन के लिए ध्यान का होना अतिआवश्यक है, बिना ध्यान के अवलोकन संबंध नहीं है।

2. संवेदना (Sensation)—संवेदना का अर्थ होता है, किसी व्यक्ति के आंतरिक एवं बाह्य परिवेश का इन्द्रियों द्वारा होने वाला ज्ञान।

3. प्रत्यक्षीकरण (Perception)—प्रत्यक्षीकरण में संवेदना को अर्थ या बोध प्रदान किया जाता है।

4. संकल्पना (Conception)—संकल्पना की सहायता से प्रत्यक्षीकरण अधिक सरल हो जाता है।



अवलोकन या निरीक्षण के प्रकार–

1. औपचारिक अवलोकन–इस विधि में नियंत्रित परिस्थितियों में व्यवहार का निरीक्षण किया जाता है।

2. अनौपचारिक अवलोकन–इस विधि में बिना किसी पूर्व निश्चित योजना के बिना व्यवहार का निरीक्षण किया जाता है।

3. आकस्मिक निरीक्षण–इसमें अवलोकनकर्ता अचानक ही व्यवहार का निरीक्षण करता है। जब बालक के व्यवहार का निरीक्षण बिना उसकी जानकारी के होता है, तो उसे आकस्मिक निरीक्षण या अवलोकन कहते हैं।

4. व्यवस्थित निरीक्षण–इसके अन्तर्गत निर्धारित योजना के अनुसार व्यवहार का निरीक्षण किया जाता है। इस विधि को अधिक विश्वसनीय, स्पष्ट तथा प्रामाणिक बनाने के लिए अनेक प्रकार के साधन उपयोग में लाये जाते हैं।

हर विधि के अनुसार अवलोकन विधि के भी अपने कुछ गुण एवं दोष हैं, जो निम्नलिखित हैं–

गुण–(1) यह विधि बालकों के व्यवहार को जानने एवं उन्हें उचित दिशा देने में मदद करता है।

(2) इस विधि से न केवल मानसिक क्रियाओं बल्कि व्यवहारों का भी अध्ययन संभव है तथा शारीरिक परिवर्तनों तथा परिस्थितियों का भी विश्लेषण करना संभव है।

(3) यह विधि ज्यादा व्यापक, वैध तथा विश्वसनीय होने के कारण अधिक उपयोगी है।

(4) इस विधि में समय एवं श्रम की बचत होती है।

(5) अवलोकन या निरीक्षण के लिए अवलोकनकर्ता को किसी विशेष प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती है।

दोष–(1) इस विधि में निरीक्षणकर्ता की व्यक्तिगत रुचि का प्रभाव पड़ता है, अतः इसमें आत्म–निष्ठता आती है और दूसरे के व्यवहारों की व्याख्या करते समय अपनी पूर्व धारणाओं से प्रभावित होता है।

(2) प्रदत्तों का विश्लेषण करने वाले व्यक्ति की पूर्वानुभव तथा धारणाएँ निष्कर्षों को प्रभावित कर देती हैं, जिस कारण सही एवं वैध परिणाम की संभावना नहीं की जा सकती।

(3) अवलोकन विधि द्वारा अचेतन मन के बारे में जानना असंभव होता है।

(4) कई बार व्यक्ति के व्यवहार में बनावट आ जाती है, जिससे अवलोकन में भी त्रुटि आ जाती है।

प्रश्न 33. प्रेक्षण विधि के द्वारा बच्चों की जानकारी एकत्रित करने की प्रक्रिया को बताइये। (ग्वालियर 2022)

उत्तर–प्रेक्षण विधि भी आत्म–निरीक्षण विधि जितनी ही पुरानी (प्राचीन) है। इस विधि को बर्हिमुखी अवलोकन, बहिदर्शन विधि, प्राकृतिक अवलोकन या अनियंत्रित अवलोकन के नाम से भी जाना जाता है। इस प्रेक्षण के दो भाग होते हैं–नियंत्रित प्रेक्षण तथा अनियंत्रित प्रेक्षण। नियंत्रित अवस्थाओं में अवलोकन, नियंत्रित अवलोकन कहलाता है। इसका दूसरा नाम प्रयोगात्मक अवलोकन भी है। अनियंत्रित अवलोकन प्राकृतिक प्रेक्षण कहलाता है।

प्रेक्षण, बहिदर्शन अथवा अवलोकन का शाब्दिक अर्थ है–किसी वस्तु या क्रिया को देखना। मानव व्यवहार के अध्ययन के संदर्भ में इसका अर्थ यह है कि मानव के बाह्य व्यवहार को देखना और उससे संबंधित तथ्यों का पता लगाना।

यह प्रेक्षण दो रूपों में किया जाता है–

1. औपचारिक प्रेक्षण (Formal form)–औपचारिक प्रेक्षण वह प्रेक्षण है जिसमें प्रेक्षणकर्ता विषयी (Subject) के व्यवहार का प्रेक्षण नियंत्रित परिस्थितियों में योजनाबद्ध तरीके से संपादित करता है। इस प्रेक्षण में विषयी को यह ज्ञात रहता है कि उसके व्यवहार का निरीक्षण किया जा रहा है। अतः इस स्थिति में विषयी अधिकतर कृत्रिम व्यवहार करते हैं।

2. अनौपचारिक प्रेक्षण (Informal form)–यह वह प्रेक्षण विधि है जिसमें निरीक्षणकर्ता, विषयी के व्यवहार का निरीक्षण बगैर किसी पूर्व योजना के अनियंत्रित परिस्थितियों में करता है। अतः इस प्रेक्षण में व्यक्ति को यह ज्ञात नहीं होता है कि उसके व्यवहार का अवलोकन किया जा रहा है। अतः किसी विषयी स्वाभाविक व्यवहार करता है। अतः उसके द्वारा कृत्रिम व्यवहार करने को कोई प्रश्न नहीं उठता है।

प्रेक्षण विधि के गुण (Merits of observation method)–यदि इस विधि का प्रयोग हम सावधानीपूर्वक करते हैं तो यह एक अत्यंत अच्छी विधि साबित होती है।

(1) वस्तुनिष्ठ तथा वैज्ञानिक–प्रेक्षण विधि, आत्म–निरीक्षण विधि से ज्यादा वस्तुनिष्ठ तथा वैज्ञानिक है।

(2) विश्वसनीय तथा प्रमाणिक (Reliable and Authentic)–यह एक योजना विधि है, यह अन्तर्दर्शन विधि की तुलना में अधिक वस्तुनिष्ठ, वैध तथा विश्वसनीय है।

(3) मितव्ययी (Economical)–प्रेक्षण विधि अत्यंत संयमी विधि है क्योंकि इसमें प्रयोगशाला के कीमती उपकरणों की आवश्यकता ही नहीं होती है।

(4) लचीली (Flexible)–यह विधि अत्यंत लचीली विधियों की श्रेणी में गिनी जाती है तथा इस विधि का प्रयोग विभिन्न परिस्थितियों में तथ्यों को संग्रहित करने के लिए करते हैं।

(5) विभिन्न व्यक्तियों का व्यवहार (Behaviour and different individuals)–यह विधि व्यक्ति विशेष तथा व्यक्ति समूह, दोनों के ही व्यवहारों का अध्ययन करने में सक्षम है। इस विधि के माध्यम से व्यक्ति विशेष तथा व्यक्ति समूह के व्यवहारों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है। साथ–ही–साथ इससे बच्चों, असाधारण मनुष्यों और जानवरों का व्यवहार देखने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है।

(6) व्यक्ति तथा समूह का व्यवहार (Behaviour of individual and group)–इस विधि के द्वारा व्यक्ति तथा समूह के व्यवहार का निरीक्षण किया जा सकता है।

(7) प्रयोगात्मक विधि के लिए स्थान (Space for experimental method)—यह विधि प्रयोगात्मक विधि के लिए आधार प्रस्तुत करती है क्योंकि प्रयोग कठोर, नियंत्रित या प्रयोगशाला की परिस्थितियों में बहिर्मुखी अवलोकन के अलावा और कुछ भी नहीं होता।

(8) शिक्षा स्थितियों में लाभदायक (Useful in educational situations)—इस विधि की मदद से बालक के कमरे में पढ़ाई की निगरानी आसानी से की जा सकती है। समस्यात्मक बालकों, पिछड़े बालकों तथा प्रतिभाशाली बालकों का व्यवहार इस विधि के माध्यम से देखा जा सकता है तथा शिक्षा का परिणाम निकाला जा सकता है।

प्रश्न 34. "प्रयोगात्मक विधि एक प्रकार की नियन्त्रित निरीक्षण विधि है।" समझाइए।

***अथवा*, प्रयोगात्मक विधि का अर्थ लिखिए तथा उसके गुण एवं दोषों का वर्णन कीजिए।**

उत्तर—प्रयोगात्मक विधि—शिक्षा मनोविज्ञान में मानसिक प्रक्रियाओं के अध्ययन के लिए प्रयोगात्मक विधि सबसे अधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण मानी जाती है। इस विधि में शिक्षक या प्रयोगकर्ता छात्रों के व्यवहारों का अध्ययन एक नियंत्रित परिस्थिति में करते हैं। नियंत्रित परिस्थिति से तात्पर्य एक ऐसी परिस्थिति से होता है जिसमें स्वतंत्र चर में जोड़–तोड़ करना संभव हो तथा साथ ही साथ अन्य सभी दूसरी तरह के चर जिनका प्रभाव आश्रित चर पर पड़ सकता है, नियंत्रित हों। यह नियंत्रित अवस्था किसी प्रयोगशाला में भी उत्पन्न की जा सकती है या वास्तविक परिस्थिति में भी।

प्रयोगात्मक विधि अंतर्दर्शन व बहिर्दर्शन दोनों का समन्वय करती है। इस विधि में प्रयोज्य से अन्तर्निरीक्षणात्मक सूचना भी ली जाती है और उसके व्यवहारों के अवलोकन से प्राप्त निष्कर्ष को उससे मिलाकर उसकी मानसिक क्रिया का अध्ययन किया जाता है। इस विधि में परीक्षण हेतु कोई तथ्य या समस्या ले ली जाती है। उन तथ्यों या सामग्री को जो परीक्षण में बाधा डालती है प्रयोगशाला के बाहर रखा जाता है। वातावरण को पूर्णतः नियंत्रित कर लिया जाता है।

इस प्रकार, इस विधि में नियंत्रित वातावरण में व्यक्ति की विभिन्न मानसिक क्रियाओं जैसे—संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, स्मृति, विचार, अवधान, कल्पना, संवेग आदि का अध्ययन किया जाता है व प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर सामान्य नियमों का प्रतिपादन किया जाता है। इस विधि ने मनोविज्ञान को एक वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया है।

प्रयोगात्मक विधि के सोपान—(1) समस्या का चयन, (2) परिकल्पना का निर्माण, (3) प्रयोग अभिकल्प, (4) न्यादर्श का चयन, (5) प्रदत्तों का संकलन, (6) प्रदत्तों का विश्लेषण एवं (7) निष्कर्षों की व्याख्या एवं सामान्यीकरण।

प्रयोगात्मक विधि के गुण—(1) यह विधि पूर्णतया वैज्ञानिक विधि है। इसमें कल्पना या अनुमान का आधार न लेकर तथ्य व आँकड़ों से निष्कर्ष निकाला जाता है।

(2) इस विधि में व्यक्ति की क्रियाओं का अध्ययन नियंत्रित परिस्थितियों में किया जाता है। अतः प्राप्त परिणाम अधिक सही व विश्वसनीय होते हैं।

(3) इस विधि में परिस्थितियों पर मनोवैज्ञानिक का नियंत्रण रहता है इसलिए इस विधि से कार्य–कारण सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

(4) इस विधि से प्राप्त परिणामों का सत्यापन प्रयोग की पुनरावृत्ति करके किया जा सकता है।

(5) प्रयोगात्मक विधि के प्रयोग द्वारा शिक्षा संबंधी अनेक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।

प्रयोगात्मक विधि के दोष/सीमाएँ–(1) इस विधि के प्रयोग से भौतिक परिस्थितियों पर तो नियंत्रण किया जा सकता है, परन्तु व्यवहार से संबंधित परिस्थितियों पर पूर्ण नियंत्रण रखना प्रायः कठिन व असंभव होता है।

(2) प्रयोग चाहे कितना भी सावधानीपूर्वक क्यों न किया जाये, उसमें कुछ–न–कुछ कृत्रिमता आना स्वाभाविक है जिससे परिणामों में विश्वसनीयता संदिग्ध हो जाती है।

(3) कुछ परिस्थितियों जैसे–क्रोध, भय आदि को उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का निर्माण या तो असंभव या कठिन होता है।

(4) प्रयोगकर्ता को दक्ष होना अनिवार्य होता है।

(5) मनोविज्ञान के क्षेत्र में सभी प्रयोग प्रभावीकृत परीक्षणों एवं उपकरणों के माध्यम से किया जाना संभव नहीं होता है।

(6) मनुष्यों पर सभी प्रयोग करना संभव न होने पर ये प्रयोग पशुओं पर करके उनसे प्राप्त परिणामों को मनुष्यों पर लागू करना उचित नहीं होता है।

इस प्रकार के अनेक दोषों के होते हुए भी यह विधि अधिक वैज्ञानिक है तथा सामाजिक विज्ञानों विशेषतः मनोवैज्ञानिक के अध्ययन में इस विधि का महत्वपूर्ण स्थान है।

प्रश्न 35. मनोविज्ञान में नैदानिक विधि (Clinical method) से आप क्या समझते हैं ?

(छिंदवाड़ा 2022)

उत्तर–नैदानिक विधि–सुप्रसिद्ध विकासवादी मनोवैज्ञानिक **जीन पियाजे** ने नैदानिक साक्षात्कार विधि को एक सीधी, सरल एवं प्रभावशाली विधि के रूप में स्वीकार किया है। इन्होंने इस विधि के द्वारा मानसिक गतिविधियों का अध्ययन किया। पियाजे का मानना है कि आयु वृद्धि के साथ–साथ बालकों की मानसिक संरचनाएँ जटिल होने लगती है। नैदानिक साक्षात्कार विधि के द्वारा बालक की व्यक्तिगत संबंधी विशेषताओं, रुचियों, योग्यताओं आदि का अध्ययन करने के लिए विकासात्मक मनोवैज्ञानिक स्वयं बालक से या उनके अभिभावकों व शिक्षकों से पूछताछ करके प्राप्त सूचनाओं के आधार पर बालक से संबंधित सूचनाओं को एकत्रित करता है एवं प्राप्त सूचनाओं के आधार पर उनका नैदानिक उपचार करता है। साक्षात्कार विधि का प्रयोग जब मानसिक रोग से ग्रसित बालकों के अध्ययनार्थ में किया जाता है तो इसे नैदानिक साक्षात्कार विधि की संज्ञा दी जाती है।

इस विधि का उपयोग करते समय मनोवैज्ञानिकों के लिए यह आवश्यक है कि वह बालक के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की अभिव्यक्ति करें। बालक के व्यवहार में निहित विकृतियों एवं असामान्यताओं के विश्लेषण, निदान एवं उपचार के लिए जीन पियाजे ने विशेष रूप से नैदानिक विधि का उपयोग किया है। इस पद्धति की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि विकृत व्यवहार से संबंधित बालक के विभिन्न पक्षों–शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं वातावरणीय प्रभावों को सर्वप्रथम अध्ययन किया जाता है जिससे यह जानने का प्रयास किया जाता है कि विभिन्न कारण एक–दूसरे से किस सीमा तक संबंधित है या संबंधित विकृति के लिए किस सीमा तक उत्तरदायी है ? यह विधि उन विशिष्ट मूल कारणों एवं प्रश्नों को सुनिश्चित करता है जो बालक के अध्ययन की प्रक्रिया की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। बालक के जीवन से संबंधित वर्तमान स्थितियों, शारीरिक विशेषताओं एवं विशिष्ट लक्षणों के आधार पर इस विधि का प्रयोग किया जाता है।

नैदानिक विधि के गुण–इस विधि के निम्नलिखित गुण हैं–

(1) इस विधि के द्वारा असामान्य बालकों (तोतले, हकले) के व्यवहार को परिमार्जित करने में विशेष सहायता मिलती है।

(2) इस विधि के द्वारा चिंता, भय और कुसमायोजन के कारणों का पता लगाकर उसका उपचार करने में सहायता मिलती है।

(3) मानसिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्तियों के असामान्य व्यवहार के कारणों को जानने और उन्हें दूर करने की अति उत्तम विधि है।

नैदानिक विधि के दोष—इस विधि के निम्नलिखित दोष हैं—

(1) व्यक्ति की समस्याओं के कारणों का पता लगाना और दूर करना एक अत्यंत कठिन कार्य हैं, यह कार्य योग्य एवं प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा ही संभव होता है जो मिलना कठिन है।

(2) यह विधि समय, श्रम तथा धन की दृष्टि से अत्यंत व्यय साध्य है।

(3) इस विधि का प्रयोग कुशल मनोवैज्ञानिक ही कर सकते हैं।

प्रश्न 36. अनुक्रमिक डिजाइन विधि को समझाइए।

उत्तर—अनुक्रमिक डिजाइन विधि—इस अध्ययन विधि में मनोवैज्ञानिकों ने अनुदैर्ध्य विधि एवं कालक्रमिक विधि दोनों को ही एक साथ मिलाकर अध्ययन करने का प्रयास किया है। अनुक्रमिक डिजाइन विधि में शोधकर्ता विभिन्न आयु या वर्ग के सहभागियों या प्रयोज्यों का चयन करके एक दस्ता समूह बनाकर उसका भिन्न-भिन्न समय अन्तराल पर अध्ययन करता है। अनुक्रमिक डिजाइन विधि को परिभाषित करते हुए शैफर एवं किप ने कहा है कि, "अनुक्रमिक अभिकल्प में विभिन्न आयु वर्गों के प्रयोज्यों का अध्ययन निश्चित माह या वर्ष में कई बार किया जाता है।"

According to Shalfer and Kipp, "In sequential design, subject from different age groups are studies repeatedly over a period of months or years."

इस प्रकार इस विधि पर आधारित अध्ययन विधि में शोधकर्ता या अनुसंधानकर्ता तीन वर्गों से अर्थात् वर्ग 6, वर्ग 7 तथा वर्ग 8 से तीन दस्ता समूह का चयन करके उनके संज्ञानात्मक विकास का अध्ययन दो वर्षों तक कर सकते हैं अर्थात् एक वर्तमान समय में और दूसरा एक वर्ष बाद। इसमें पहले दस्ता समूह का वर्ग 6 में एवं वर्ग 7 में जाने पर, दूसरा दस्ता समूह का वर्ग 7 एवं वर्ग 8 में जाने पर तथा तीसरा दस्ता समूह का वर्ग 8 और वर्ग 9 में जाने पर किया जा सकता है। इस अध्ययन विधि में अनुदैर्ध्य एवं प्रतिनिध्यात्मक दोनों विधियों की विशेषताएँ सम्मिलित हैं।

अनुक्रमिक डिजाइन विधि के गुण (Characteristics of Sequential Design Method)—अनुक्रमिक डिजाइन विधि के निम्नलिखित गुण हैं—

(1) यह विधि अपने आप में निपुण है। आवश्यकता पड़ने पर उक्त अध्ययन में अध्ययनकर्ता 4 वर्ष तक प्रत्येक दस्ता समूह का अध्ययन 2 वर्ष के लिए कर सकता है।

(2) इस विधि में एक ही आयु के बालकों का तुलनात्मक अध्ययन कर यह जाँच की जा सकती है कि दस्ता प्रभाव उत्पन्न हो रहा है या नहीं।

(3) एक ही अध्ययन में प्रतिनिध्यात्मक एवं अनुदैर्ध्य दोनों ही विधियों से आँकड़ें प्राप्त कर सकते हैं।

(4) यह विधि अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है।

अनुक्रमिक डिजाइन विधि के दोष (Demerits of Sequential Design Method)—इस विधि के निम्नलिखित दोष इस प्रकार हैं—

(1) इस विधि में समय अधिक लगता है।

(2) यह विधि बहुखर्चीली है।

(3) इस विधि के आधार पर प्राप्त परिणाम के बारे में यह प्रश्न उठता है कि क्या अध्ययन प्राप्त विकासात्मक परिवर्तन दस्ता समूह से परे भी सामान्यीकृत किया जा सकता है।

इन दोषों या सीमाओं के पश्चात् भी यह विधि शिक्षा मनोविज्ञान में अत्यधिक लोकप्रिय क्योंकि यह अनुदैर्ध्य एवं प्रतिनिध्यात्मक दोनों विधियों की आवश्यकताओं को पूरा करती है।

प्रश्न 37. दस्ता विधि को समझाइये।

उत्तर—दस्ता विधि—एक ही अवधि में जन्में बालकों के समूह को दस्ता समूह (Coho Method) कहा जाता है। इस विधि में केवल उन बालकों का अध्ययन किया जाता है जो समा समयावधि में विकसित हुए हैं तथा जो एक विशेष सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक अवस्था से प्रभावित हु हैं। परिणामतः बालकों के एक दस्ता (Cohort) से प्राप्त परिणाम दूसरे बालक जो किसी दूसरे दस्त में पले–बढ़े एवं विकसित हुए थे, पर लागू नहीं होता है। इससे क्रॉस पीढ़ी समस्या भी उत्पन्न हो जाती है।

दस्ता विधि के गुण (Merits of Cohort Method)—इस विधि के निम्नलिखित गुण हैं—

(1) यह अत्यधिक खर्चीली विधि नहीं है।

(2) इस विधि में अध्ययन एक ही बार में पूर्ण हो जाता है।

(3) यह विधि अन्य विधियों के अध्ययन में सहायक होती है।

दस्ता विधि के दोष (Demerits of Cohort Method)—इस विधि के निम्नलिखित दोष हैं-

(1) प्रत्येक दस्ता समूह का अध्ययन करने में अत्यधिक समय लगता है।

(2) यदि प्रयोज्यों के समूहों का आपसी उम्र विभेद अधिक होता है तो दस्ता प्रभाव दृष्टिगत न होता है।

प्रश्न 38. जीवनी (Biography) विधि की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं ? (इंदौर मार्च 202

उत्तर—जीवनी साहित्य की एक महत्वपूर्ण रीति है। किसी व्यक्ति के जीवन वृत्तांत या जीवन चरित्र–चित्रण को जीवनी कहते हैं। जीवनी में किसी विशिष्ट व्यक्ति के जीवन में घटित घटनाओं भावपूर्ण सुंदरता के साथ रेखांकन होता है। जीवनी को अंग्रेजी में बायोग्राफी कहते हैं। जीवनी लेखक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन की जानकारी प्रमाण के साथ प्रस्तुत करता है। जीवनी सत्य घटना के आधार पर लिखी जाती है।

जीवनी के तत्व—जीवनी के प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं—वर्ण विषय, चरित्र–चित्रण, देशकाल उद्देश्य, भाषाशैली आदि।

जीवनी के भेद—जीवनी के अनेक भेद होते हैं, जैसे कि—आत्मीय जीवनी, ऐतिहासिक जीवनी लोकप्रिय जीवनी, कलात्मक जीवनी, व्यक्तिगत जीवनी आदि।

जीवनी की विशेषताएँ—

(1) जीवनी उसी व्यक्ति की लिखी जाती है जिसमें कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ हों और उसके जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर सकें। आमतौर पर विशिष्ट व्यक्ति की जीवनी लिखी जाती जिसकी अपने क्षेत्र और इतिहास में प्रसिद्धि हो। आधुनिक युग में कुछ परिवर्तन आया है। साहित्य में आम आदमी की भी जीवनी लिखी जाती है, जो प्रसिद्ध नहीं है।

(2) जीवनी का लक्ष्य तभी पूरा होगा जब तथ्य और घटनाक्रम प्रामाणिक तथा माननीय जीवनी कक्षा साहित्य नहीं है, इसलिए जब तक वह माननीय न हो, लोग उसे प्रेरणादायक नहीं मान यह बात लेखक की निश्चलता से भी जुड़ती है। लेखक को जीवनी के नायक के पत्र, दैनंदिनी

पर लिखे गए संस्मरण, निजी संबंधों व नातों की यादें, मुमकिन हो तो उस व्यक्ति से लिए गए उपहार, प्रवाद आदि का प्रयोग करें।

(3) जीवनी में नायक के प्रति लेखक में पूज्यभाव, आदर–सम्मान का भाव तथा गर्व का भाव होना चाहिए ताकि वह आदर्श चरित्र की मुख्य प्रकृति व विशेषताएँ प्रकाशित कर सके। लेखक का काम केवल घटनाओं को क्रम से प्रस्तुत करना ही नहीं है, बल्कि आदर्श चरित्र की उन विशेषताओं को उभारना है जो आसानी से नजर नहीं आती।

(4) चाहे लेखक आदर्श चरित्र के कितने ही समीप क्यों न हो, कितने ही उपासक क्यों न हो, उनका चित्रण निष्पक्ष होना चाहिए। उन्हें अपनी तरफ से कुछ ढाँकना या बढ़ाना नहीं चाहिए। उन्हें अपनी ओर से खबर देना या नतीजा नहीं निकालना चाहिए।

(5) वर्णन के निरपेक्ष होने के बावजूद चित्रण वर्णन अरोचक तथा नीरस न हो। जीवंत विवरण और आकर्षक शैली साहित्यिक जीवनियों की सर्वोत्तम विशेषता है।

(6) अन्य विधाओं की तरह जीवनी भी महत्वपूर्ण है। जीवन–चरित्र का संक्षिप्त रूप ही जीवनी है।

(7) जीवनी का व्यक्ति वास्तविक होता है तथा सारी घटनायें सत्य होती हैं।

(8) जीवनी व्यक्ति की सच्ची जीवन गाथा है जिसमें कोई काल्पनिक घटना शामिल नहीं होती है।

(9) जीवनी व्यक्ति का आत्मिक विकास है।

(10) जीवनी तथ्यपरक और सटीक होने चाहिए।

(11) जीवनी विशिष्ट व्यक्ति के जीवन का विवरण देता है।

प्रश्न 39. जीवन–इतिहास विधि का संक्षेप में वर्णन कीजिए। (ग्वालियर 2015, 16)

***अथवा*, व्यक्तिगत अध्ययन (Case study) की विशेषताएँ लिखिए।**

उत्तर–जीवन–इतिहास विधि–इस विधि को केस हिस्ट्री स्टडी (Case History Study) भी कहते हैं। इस विधि के अन्तर्गत किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का विश्लेषण किया जाता है। मुख्य रूप से केस स्टडी किसी विलक्षण या जो सबसे अलग है उसका सम्पूर्ण अध्ययन है। व्यक्ति के विलक्षण, प्रतिभाशाली, समाज विरोधी या उसमें जो भी चीज जो उसे दूसरों से विशेष रूप से भिन्न बनाती है उसकी सम्पूर्ण जानकारी व्यक्ति के इतिहास विधि या जीवन इतिहास विधि द्वारा ज्ञात की जाती है।

इस विधि में प्राप्त सूचनाओं को एकत्रित करने के लिए माता–पिता, भाई–बहन, मित्र, पड़ोसी, शिक्षक, चिकित्सक आदि से सहायता ली जाती है। अतः स्पष्ट है कि जीवन इतिहास विधि का उद्देश्य उन कारणों को ज्ञात करके उसका निदान करना है जो व्यक्ति अथवा वंश अथवा वर्ग को किसी विशिष्ट प्रकार का व्यवहार करने के लिए मजबूर करते हैं।

जीवन–इतिहास विधि की विशेषताएँ– इस प्रकार हैं–

(1) इस विधि से समस्या के वास्तविक कारणों का पता लगाया जा सकता है ताकि उपयुक्त समाधान संभव हो।

(2) जिन शैक्षिक समस्याओं का कारण अन्य मनोवैज्ञानिक विधि से नहीं जाना जा सकता, इस विधि से उन्हें जाना जा सकता है।

(3) मंदबुद्धि एवं पिछड़े बालकों तथा मानसिक रोगों से ग्रस्त बालकों के अध्ययन के लिए भी यह विधि उपयोगी है।

(4) इस विधि में किसी प्रकार के उपकरण या प्रयोगशाला की आवश्यकता नहीं होती है। अत: इसे सरलता से उपयोग में लाया जा सकता है।

(5) इस विधि द्वारा सम्पूर्ण एवं विस्तृत रूप से जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

दोष/सीमाएँ–(1) इस विधि का उपयोग करने के लिए विशेषज्ञ की आवश्यकता होती है।

(2) किसी भी व्यक्ति की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करना एक श्रमसाध्य कार्य है और कई बार इस विधि में सामने वाला तथ्यों को छुपा लेता है जिससे आँकड़ो की विश्वसनीयता कम हो जाती है।

(3) इस विधि में बहुत अधिक समय लगता है।

प्रश्न 40. एक शिक्षक के रूप में आप किस प्रकार के छात्रों के लिए केस स्टडी (Case Study) का तरीका पसंद करेंगे ? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए। **(इंदौर मार्च 2023)**

उत्तर–केस स्टडी किसी विशिष्ट विषय का विस्तृत अध्ययन है। जैसे कोई व्यक्ति, समूह, स्थान, घटना, संगठन। केस स्टडी का उपयोग सामाजिक, शैक्षिक, नैदानिक और व्यावसायिक अनुसंधान में किया जाता है। अत: केस स्टडी से तात्पर्य है किसी भी वस्तु, स्थिति का भलीभाँति बारीकी से जाँच पड़ताल करना व जानना। इसका बुनियादी आधार विद्यार्थी की जिज्ञासु प्रवृत्ति को माना जाता है। दूसरें शब्दों में मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान उसकी जिज्ञासु प्रवृति का परिणाम है और केस स्टडी किसी ज्ञान, अनुभव को पाने का साधन है। इस विधि में विद्यार्थी की स्वयं समाधान ढूँढने में सक्रिय भूमिका रहती है।

एक शिक्षक के रूप में केस स्टडी के लिए हम एक समस्या ग्रस्त बालक / बालिका का चुनाव करेंगे–अंतत: केस स्टडी कई सही उत्तरों के साथ एक दिलचस्प समस्या है। कक्षाओं में केस अध्ययन कार्य कैसा दिखता है। शिक्षक आमतौर पर छात्रों से मामले को पढ़ने या एक विडियो देखने से शुरुआत करते हैं। "वैयक्तिक इतिहास अध्ययन विधि एक प्रकार की गुणात्मक व्याख्या है जिसमें एक व्यक्ति, एक परिस्थिति या एक संस्था का अति सावधानी से और पूर्ण अध्ययन किया जाता है।" वैयक्तिक इतिहास विधि एक व्यक्ति, एक संस्था, एक समुदाय या समूह हो सकता है जिसे अध्ययन की इकाई माना जाता है। यह विधि सम्पूर्ण परिस्थिति प्रक्रिया के वर्णन या घटनाओं के सम्बन्ध में जिसमें व्यवहार घटित होता है, उस पर बल देता है। यह विधि बालक के व्यवहार का उसके सम्पूर्ण ढाँचें में अध्ययन का तथा उपकल्पनाओं के निर्माण में सहायक वैयक्तिक परिस्थितयों के विश्लेषण एवं तुलना पर जोर दिया जाता है। इसमें व्यक्ति के परिवार, संस्था, परिवार समूह, समुदाय का एक इकाई के रूप में गहन अध्ययन किया जाता है। इस विधि में व्यक्ति का जीवन इतिहास उसकी डायरियों, पत्र, लेख आत्मकथा तथा व्यक्ति के जीवन से संबंधित अन्य वस्तुओं का उपयोग किया जाता है। जिनसे उस व्यक्ति के व्यवहार के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य एकत्रित किये जा सकें। इस विधि में व्यक्ति की पारिवारिक पृष्ठभूमि उसके जीवन को प्रभावित करने वाली महत्वपूर्ण घटनाओं का अध्ययन किया जाता है।

उदाहरण–सीखने की अक्षमता वाले वयस्कों में मैकडेरी के डर के लिए एक्सपोजर थेरेपी– एक व्यक्ति का अध्ययन किया गया जिसमें हस्तक्षेप पूर्व और हस्तक्षेप पश्चात् प्रश्नावली पूरी कर ली थी। इस डेटा के नतीजें से एक्सपोजर थेरेपी इंटरफेस को फोबिया को कम करने में प्रभावशाली पाया गया। इस मामले की रिपोर्ट में एक थेरेपीं पर प्रकाश डाला गया है, जिसका उपयोग सीखने की अक्षमता वाले लोगों की सहायता के लिए किया जा सकता है जो फोबिया से पीड़ित है।

वैयक्तिक इतिहास विधि के लाभ (Advantages of Case History Method)—

(1) जब समस्या का अध्ययन इस विधि द्वारा किया जाता है, तो गहन अध्ययन के आधार पर सामान्यीकरण सरलता से किये जा सकते हैं, साथ ही साथ वैध उपकल्पनाओं का निर्माण कर अधिक–से–अधिक वैज्ञानिक अध्ययन की रूपरेखा तैयार की जा सकती है।

(2) इस विधि की सहायता से विचलित (Deviant) लोगों को ढूँढा जा सकता है।

(3) इस विधि द्वारा अध्ययन में समस्या के संबंध में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है।

वैयक्तिक इतिहास विधि की सीमाएँ (Limitations of Case History Method) —

(1) प्रदत्तों तथा परिणामों की विश्वसनीयता की जाँच सरलता से नहीं की जा सकती है।

(2) नियन्त्रण के अभाव में यह विधि अवैज्ञानिक है।

(3) प्राप्त सूचनाएँ अवैज्ञानिक और अप्रामाणिक होती हैं।

(4) इसमें प्रदत्त संकलन के समय पक्षपात की संभावना होती है।

प्रश्न 41. निर्देशन को परिभाषित कीजिए। यह परामर्श से किस प्रकार भिन्न है ? निर्देशन की विशेषताएँ लिखिए। **(छिंदवाड़ा 2022)**

उत्तर– मनुष्य इस संसार में सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि उसके पास भाषा, बुद्धि, विवेक आदि जैसे कई गुण हैं लेकिन वह केवल अपने बुद्धि और विवेक से खुद को विकसित नहीं कर सकता है। इसके लिए उसे दूसरों की मदद लेनी पड़ती है। जब मनुष्य विकास के पथ पर आगे बढ़ने के लिए दूसरों के अनुभव, बुद्धि और विवेक का सहारा लेता है तो दूसरे व्यक्ति द्वारा इस प्रकार की सहायता को निर्देशन कहा जाता है। निर्देशन एक अमूर्त अवधारणा है। निर्देशन वास्तव में एक पथ प्रदर्शन है। वास्तव में निर्देशन की प्रक्रिया में निर्देशक किसी व्यक्ति में ज्ञान का विकास नहीं करता, बल्कि उस व्यक्ति में पहले से मौजूद ज्ञान को सही दिशा देता है और उसे अपने लक्ष्य तक पहुँचाता है।

गुड के अनुसार– "व्यक्ति का स्वयं को पहचानने में इस प्रकार सहायता प्रदान करना, जिससे वह अपने जीवन में आगे बढ़ सके, इस प्रक्रिया को निर्देशन कहा जाता है।"

टिडमैन के अनुसार– "निर्देशन सहायता प्रदान करने की एक ऐसी प्रवाहित क्रिया है जो व्यक्तिगत अथवा सामाजिक दृष्टि से हितकारी क्षमताओं का विकास अधिकतम रूप से व्यक्ति में करती है।"

चाइशोम के अनुसार– "निर्देशन का लक्ष्य लोगों को उद्देश्यपूर्ण बनाने में न कि केवल उद्देश्यपूर्ण क्रिया में सहायता देना है।"

निर्देशन और परामर्श में भिन्नता (अंतर)–

(1) निर्देशन किसी एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति को दी जाने वाली समस्याओं का समाधान या सलाह होता है। लेकिन परामर्श में दो व्यक्तियों के भावनात्मक सम्पर्क में आने पर दोनों में से किसी एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति की समस्याओं को हल करने के लिए दिया गया सहयोग ही परामर्श कहलाता है।

(2) निर्देशन का क्षेत्र व्यापक होता है। लेकिन परामर्श निर्देशन का एक भाग होता है।

(3) निर्देशन की आवश्यकता सभी व्यक्तियों को होती है। लेकिन परामर्श की आवश्यकता उन व्यक्तियों को होती है जिन्हें गंभीर रूप से शैक्षिक, व्यवसाय एवं मनोवैज्ञानिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

(4) निर्देशन जीवन भर चलने वाली प्रक्रिया है। लेकिन परामर्श जीवन भर नहीं चलती है इसकी आवश्यकता तब होती है जब व्यक्ति किसी समस्या से गंभीर रूप से परेशान होता है।

(5) निर्देशन व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार से दिया जाता है लेकिन परामर्श अधिकतर सिर्फ एक व्यक्ति को दिया जाता है।

(6) निर्देशन प्राप्त करने के लिए स्वयं प्रस्तुत होने की आवश्यकता नहीं होती। लेकिन परामर्श प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को सामने / प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित होना अनिवार्य है।

(7) निर्देशनकर्ता योग्य अनुभवी तथा कोई कुशल व्यक्ति हो सकता है परंतु परामर्शदाता एक प्रशिक्षित व्यक्ति होता है।

(8) निर्देशन व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों प्रकार का होता है। परंतु परामर्श केवल व्यक्तिगत होता है।

(9) निर्देशन सुधार तथा प्रगति पर आधारित होता है। परामर्श समस्या समाधान पर केन्द्रित होता है।

निर्देशन की विशेषताएँ–

(1) निर्देशन विकासात्मक पहलु से जुड़ा होता है, जिसमें व्यक्ति के विकास से संबंधित सभी सुझाव दिए जाते हैं।

(2) निर्देशन के द्वारा व्यक्ति की जन्मजात शक्तियों को विकसित कर व्यक्ति के कौशलों का विकास किया जाता है।

(3) शैक्षिक गतिविधियों का संचालन तथा मूल्यांकर करने में निर्देशन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

(4) विद्यार्थियों को रोजगार के चयन रूचि तथा क्षमता के अनुकूल पाठ्यक्रम चयन आदि में भी निर्देशन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

(5) यह विभिन्न क्षेत्रों में समायोजन की क्षमता विकसित करने में सहायक है।

(6) निर्देशन एक सतत् प्रक्रिया है।

(7) निर्देशन प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण कार्य है।

(8) निर्देशन की प्रकृति बहुपक्षीय है।

अत: निर्देशन एक विवृत प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य लोगों को सलाह देना, सुझाव देना तथा आगे बढ़ने के लिए दो सभी सम्भावित अवसर उपलब्ध कराना जिसकी सहायता से व्यक्ति अपने जीवन की सभी समस्याओं को हल करके स्वयं निर्णय लेने के योग्य बनता है।

प्रश्न 42. व्यावसायिक निर्देशन को परिभाषित कीजिए। भारत में व्यावसायिक निर्देशन की आवश्यकताओं पर प्रकाश डालिए। **(छिंदवाड़ा 2022)**

उत्तर– व्यावसायिक निर्देशन किसी भी छात्र के भविष्य के जीवन से जुड़ी होती है। वस्तुत: आधुनिक संदर्भ में शिक्षा ग्रहण करने वाले किसी भी विद्यार्थी का उद्देश्य अंतत: जीवनयापन के लिए तैयारी करना होता है। वर्तमान में शिक्षा की इतनी शाखाएँ हैं, व्यवसाय के इतने क्षेत्र हैं और शैक्षिक क्षेत्र में कई प्रकार के विज्ञापन हैं कि छात्र भ्रमित हो जाता है। वह तय नहीं कर सकता कि किसे चुनना है और किसे नहीं चुनना है। जब से मानव को संसाधनों के रूप में मानने का प्रत्यय शुरू हुआ है, तब से व्यावसायिक निर्देशन का अर्थ अक्सर यह समझा जाता है कि इसके माध्यम से व्यक्ति उपयुक्त व्यवसाय चुन सकता है, जबकि व्यावसायिक निर्देशन का अपने आप में इसका व्यापक अर्थ है। वास्तव में व्यावसायिक निर्देशन शुरू में निर्देशन से संबंधित था। व्यावसायिक निर्देशन किसी व्यक्ति को व्यवसाय चुनने, तैयार करने, संलग्न करने और उसे उन्नत करने में मदद करने की प्रक्रिया है।

क्रो एण्ड क्रो के अनुसार– "किसी व्यक्ति को अपने और व्यवसाय जगत के बीच अपनी भूमिका का संपर्याप्त चित्र बनाने तथा उसे स्वीकारने, वास्तविक स्थिति के बीच इस अवधारणा की जाँच करने और उसे स्वयं के संतोष तथा समाज के लाभ के लिए वास्तविकता में बदलने की सहायता प्रदान करने को व्यावसायिक निर्देशन कहते हैं।"

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के रिपोर्ट के अनुसार– "व्यावसायिक निर्देशन व्यक्तियों के गुणों एवं व्यवसाय के अवयवों के साथ उसके सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए, व्यक्ति को व्यवसाय के चयन एवं उसकी प्रगति में आने वाली समस्याओं को सुलझाने में प्रदान की जाने वाली सहायता को कहते हैं।"

भारत में व्यावसायिक निर्देशन की आवश्यकता– भारत में व्यावसायिक निर्देशन निम्न कारणों से आवश्यक है–

1. व्यावसायियों की जटिलता की दृष्टि से– व्यावसायिक निर्देशन के अभाव में व्यक्ति के लिए व्यवसाय चयन कठिन कार्य है। इसका कारण यह है कि निरंतर नए ज्ञान और आविष्कारों के कारण नए–नए उद्योग खुलते जा रहे हैं। बहुत से व्यवसाय बिल्कुल नए हैं और जो पुराने हैं वह भी नया रूप लेते जा रहे हैं। विभिन्न प्रकार के व्यावसायियों की जटिलता के कारण व्यक्ति को उपयुक्त व्यवसाय का चुनाव करना अत्यंत कठिन हो गया है। इसलिए व्यावसायिक निर्देशन की आवश्यकता है।

2. आर्थिक और सामाजिक दशाओं में परिवर्तन के कारण– पहले लोग खानदानी व्यवसाय को अपना लेते थे, परंतु अब परिस्थितियाँ बदल गयी है। नए–नए उद्योग धंधों की स्थापना और जनसंख्या की निरंतर वृद्धि के कारण आर्थिक और सामाजिक दशाओं में तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के लिए यह निर्णय लेना कठिन हो जाता है कि कौन–सा व्यवसाय भविष्य में उसके लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

3. युवकों में अनुशासन हेतु– युवकों को उनकी रूचि और योग्यता के अनुसार व्यवसाय ना मिलने के कारण उनका मन काम में नहीं लगता। अपने व्यवसाय से संतुष्टि न मिलने के कारण उनमें निराशा, उदासीनता, आक्रामकता की भावना पैदा हो जाती है जिसके कारण वे हड़ताल, तोड़फोड़ तथा तालाबंदी जैसे अनुशासनहीनता से संबंधित व्यवहार करते हैं। युवकों में इस अनुशासनहीनता की समस्या को हल करने के लिए व्यावसायिक निर्देशन की आवश्यकता है।

4. स्वास्थ्य हेतु– स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से भी व्यावसायिक निर्देशन की अत्यंत आवश्यकता है। जो व्यवसाय व्यक्ति के स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं होता है उससे व्यक्ति के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है जिसके कारण व्यक्ति की कार्य क्षमता घट जाती है। अतः व्यक्ति के स्वास्थ्य के अनुकूल व्यवसाय का चुनाव करने के लिए व्यावसायिक निर्देशन की आवश्यकता है।

5. व्यवस्थाओं की संख्या में निरंतर वृद्धि हेतु– आधुनिक युग में विज्ञान और टेक्नोलॉजी की उन्नति के कारण व्यवसायों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है। बहुत से विद्यार्थी स्कूल और कॉलेज की शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात निर्देशन के अभाव में अपनी रूचि, योग्यता और क्षमता के अनुसार व्यवसाय न मिलने के कारण व्यवसाय में उचित उन्नति नहीं कर पाते जिसके कारण उन्हें निराशा और चिंता होती है। इस समस्या को दूर करने हेतु व्यावसायिक निर्देशन आवश्यक है।

6. आर्थिक दृष्टिकोण से– जब युवक अरूचिकर व्यवसाय का चुनाव करता है तो वह पूर्ण लगन के साथ कार्य नहीं करता जिसके कारण उत्पादन में कमी आती है और देश की आर्थिक व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

●●

इकाई 2

मानव विकास की अवस्थाएँ
[STAGES OF HUMAN DEVELOPMENT]

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रश्न 1. सही उत्तर का चयन कीजिए–

1. दूसरे वर्ष के अन्त तक शिशु का शब्द भण्डार हो जाता है– (जबलपुर 2022)

(a) 50 शब्द (b) 60 शब्द

(c) 10 शब्द (d) 100 शब्द।

2. तर्क, जिज्ञासा तथा निरीक्षण शक्ति का विकास होता है– (जबलपुर 2022)

(a) सात वर्ष की आयु में (b) ग्यारह वर्ष की आयु में

(c) नौ वर्ष की आयु में (d) छः वर्ष की आयु में।

3. दलित बस्तियों के बच्चों तथा सामान्य बच्चों में अंतर होता है– (जबलपुर 2022)

(a) शारीरिक (b) मानसिक

(c) पर्यावरण (d) उपर्युक्त सभी।

उत्तर–1. (d), 2. (b), 3. (d).

लघु एवं दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. बचपन की अवधारणा को बताइए तथा उसकी विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर–बच्चे के जन्म से 6 वर्ष तक का काल बचपन कहलाता है। बचपन में बच्चा एक कोरी स्लेट की भाँति होता है। इस कोरी या साफ स्लेट पर हम कुछ भी लिख सकते हैं। बचपन में बच्चे अनुकरण प्रिय होते हैं, वे जैसा देखते हैं, सुनते हैं, वैसा ही करने के लिये प्रयासरत हो जाते हैं। बचपन में बच्चे के व्यक्तित्व का विकास अत्यन्त तीव्र गति से होता है। अर्थात् जीवन के पूरे विकास का तिहाई विकास बचपन में ही पूर्ण हो जाता है। बचपन के प्रथम ढाई वर्षों में बालक के शरीर और मस्तिष्क की गति सर्वाधिक होती है, परन्तु इस आयु में बालक अपने घर में ही रहता है तथा जाने-अनजाने घर की संस्कृति और पर्यावरण को आत्मसात् करने लगता है। बचपन के शेष 3 वर्ष अर्थात् 6 वर्ष की आयु तक बालक हाथ–पैरों के उपयोग में नवीन कौशल अर्जित करता है। वह आत्मनिर्भर बन जाता है। अतः बचपन के समय में बालक विभिन्न क्रियाकलापों में समन्वय स्थापित करने लगता है।

बचपन की विशेषताएँ–बचपन में बालक की क्रियाशीलता के कारण उसमें निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हैं–

(1) बालक की माँसपेशियों में वृद्धि होती है, अर्थात् उसका शारीरिक विकास होता है।

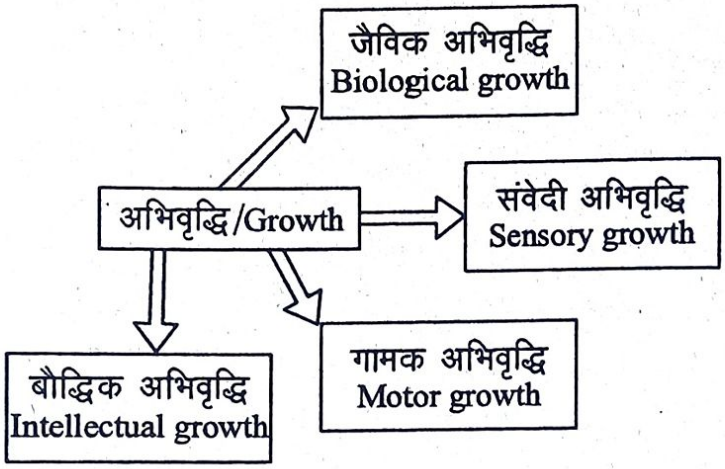
(2) बालक में सीखने के साथ ही भाषा का भी विकास होता है।

(3) बालकों के मिलने–जुलने एवं परस्पर एक–दूसरे के साथ खेलने से उनमें भावात्मक विकास तथा सहयोग लेने–देने की क्षमता का विकास होता है।

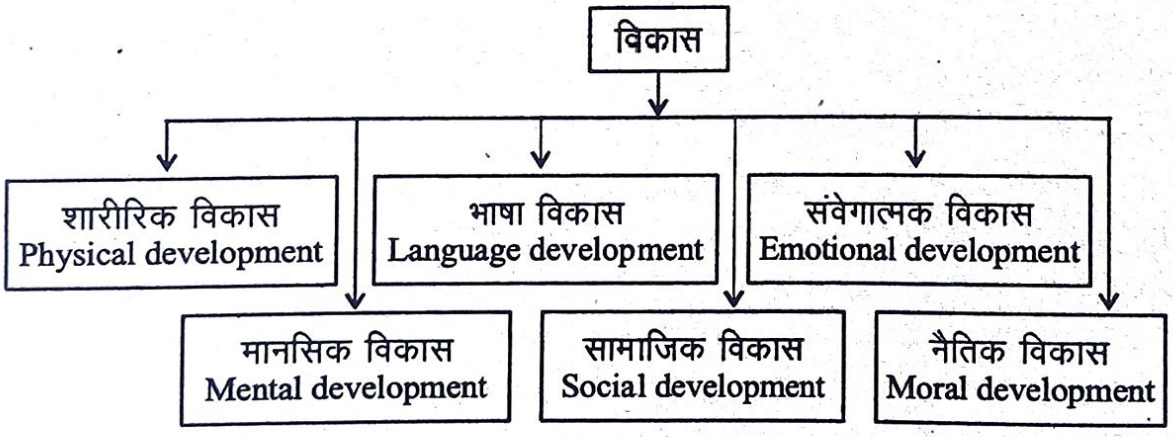
(4) सोचने–विचारने की बौद्धिक क्षमता का विकास होता है।

प्रश्न 2. बालक के अभिवृद्धि एवं विकास के विभिन्न आयामों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—अभिवृद्धि के आयाम (Aspect of growth)—



विकास के आयाम (Aspect of development)—जन्म के पश्चात् बालक की आयु बढ़ने के साथ–साथ उसके शरीर में आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के परिवर्तन होते हैं। एक जाति के सभी जीवों में विकास का एक निश्चित दिशा एवं क्रम होता है अर्थात् एक जाति के सभी जीव एक समान विकास क्रम के अनुसार विकसित होते हैं।



1. शारीरिक विकास—शारीरिक विकास के अन्तर्गत बालक के सम्पूर्ण शारीरिक अंगों में वृद्धि, आकार परिवर्तन और परिपक्वता को सम्मिलित किया जाता है। शारीरिक विकास बाल के जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना है जो विकास के अन्य पहलुओं को भी प्रभावित करती है।

2. मानसिक विकास—मानसिक विकास से तात्पर्य बौद्धिक क्षमता में विकास और विभिन्न प्रकार के वातावरण में समायोजित होने की शक्तियों से है। बालक के बढ़ते उम्र के साथ उसके अवबोध, कल्पनाशक्ति, तर्क क्षमता, प्रत्यक्षीकरण, निर्णय लेने की क्षमता, चिंतन एवं समस्या समाधान की योग्यताओं में वृद्धि होती है, ये ही सम्पूर्ण रूप से मानसिक विकास को दर्शाते हैं।

3. भाषा विकास—बढ़ती आयु के साथ अपनी अभिव्यक्ति एवं सम्प्रेषण के लिए भाषा का विकास होता है।

4. सामाजिक विकास—मनुष्य जन्म के समय केवल एक जीव स्वरूप होता है जैसे–जैसे उसकी आयु बढ़ती है वह समाज के नियमों, उनकी अपेक्षाओं आदि को समझने लगता है एवं ये

गुण उसके व्यक्तित्व में दिखने लगते हैं और धीरे–धीरे एक जीव मात्र से वो एक सामाजिक प्राणी बन जाता है इसे ही सामाजिक विकास कहते हैं।

5. संवेगात्मक विकास–"संवेग, व्यक्ति की उत्तेजित दशा है।" और सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकास के लिए मानसिक शारीरिक एवं संवेगात्मक तीनों विकास की आवश्यकता होती है।

6. नैतिक विकास–समाज में प्रचलित व्यवहार, लोकरीतियों, प्रथाओं एवं शिष्टाचार का संबंध नैतिक विकास से है। इस प्रकार समाज के मान्य व्यवहारों के अनुरूप व्यवहार करना ही नैतिक विकास कहलाता है।

प्रश्न 3. बच्चों के शारीरिक विकास में शिक्षक की भूमिका की विवेचना कीजिए।

***अथवा*, एक शिक्षक के रूप में आप अपने विद्यार्थियों के शारीरिक विकास में क्या योगदान दे सकते हैं ?**

***अथवा*, बच्चों के शारीरिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए शिक्षक की क्या भूमिका होनी चाहिए ?**

***अथवा*, बालक के शारीरिक एवं गत्यात्मक विकास में शिक्षक की भूमिका स्पष्ट कीजिए।**

उत्तर–प्रायः विद्यालयों में विभिन्न प्रकार की शारीरिक भिन्नता वाले विद्यार्थी दिखाई देते हैं। कोई लम्बा, कोई छोटा, कोई क्राफ्ट में दक्ष, तो कोई चित्रकला में, कोई तेज दौड़ने वाला, कोई लम्बी कूद वाला आदि। शिक्षक के रूप में प्रत्येक बच्चे में विशेष योग्यता की अपेक्षा की जाती है परन्तु यह संभव है जब शिक्षक बालकों के शारीरिक और गत्यात्मक कौशलों के विकास को प्रोत्साहित करें।

किसी बच्चे का शारीरिक एवं गत्यात्मक विकास मुख्यतः उसकी आनुवांशिक प्रतिभा पर एवं पर्यावरण संबंधी कारकों पर निर्भर करता है। किसी शारीरिक या गत्यात्मक कार्य को कर सकने के लिए यह अनिवार्य है कि बच्चा परिपक्वता की दृष्टि से "तैयार" हो। परिपक्वता की यह अवस्था तत्परता कहलाती है और जब तक बालक किसी कार्य को करने के लिए तत्पर नहीं होता कोई भी प्रशिक्षण या अभ्यास कारगर नहीं होता।

शारीरिक क्रिया बच्चे के विकास के विभिन्न पक्षों के साथ संभव है जैसे–स्वास्थ्य, सक्रिय, आत्म उत्कर्ष का भाव, सहभागिता कौशल, संज्ञानात्मक कौशल, सामाजिक कौशल। इस सभी के साथ एक प्रेरणात्मक परिवेष भी आवश्यक है। बच्चे की खुराक, स्वास्थ्य की देखभाल, शारीरिक व्यायाम सभी बच्चे के शारीरिक और गत्यात्मक विकास को प्रभावित करती है।

प्रारम्भिक विद्यालय के बच्चों के स्वस्थ विकास को प्रोत्साहित करने के लिए विद्यालयों में खेल तथा शारीरिक शिक्षा के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करना आवश्यक है। परन्तु अफसोस की बात है कि, यह महत्वपूर्ण क्षेत्र नहीं माना जाता है। हमारे विद्यालयों की निर्धारित समय सारिणी में एक औसत बच्चे को शारीरिक क्रियाकलाप के लिए प्रति सप्ताह 20-30 मिनट का समय ही दिया जाता है। बहुत से विशेषज्ञों का मानना है कि शारीरिक शिक्षा के लिए अधिक समय का प्रबंध करने के साथ, विद्यालयों को शारीरिक शिक्षा कार्यक्रमों की विषय वस्तु में परिवर्तन लाना चाहिए। प्रतिस्पर्धात्मक क्रियाओं में प्रशिक्षण को प्रायः उच्च प्राथमिकता दी जाती है। जबकि, छोटे बच्चों को शारीरिक स्वस्थता की दिशा में कोई विशेष योगदान नहीं मिलता। अनौपचारिक खेलों तथा खेल क्रियाकलाप पर बल दिया जाए जिन्हें अधिकांश बच्चे अच्छी तरह से कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत व्यायाम जैसे–चलना (सैर करना), दौड़ना, कूदना, लुढ़कना, ऊपर चढ़ना, इत्यादि में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

जब शिक्षक प्रत्येक बच्चे की व्यक्तिगत प्रगति तथा टीम की उपलब्धि के प्रति योगदान पर बल देते हैं तो विभिन्न कौशल स्तरों पर बच्चे शारीरिक क्रिया को जारी रखने की चेष्टा करते हैं। उस अवस्था में शारीरिक शिक्षा का एक स्वस्थ भाव पोषित करती है। शारीरिक रूप से स्वस्थ बच्चे, सक्रिय वयस्कों के रूप में विकसित होते हैं। शारीरिक शक्ति बहुत सी बीमारियों, के लिए प्रतिरोध शक्ति जिसमें सर्दी–जुकाम से लेकर कैंसर, मधुमेह, हृदय रोग, मानसिक स्वास्थ्य तथा लम्बी आयु शामिल है। पोषण की दृष्टि से संतुलित आहार, शारीरिक व्यायाम और अन्य कौशलों के अभ्यास के लिए पर्याप्त अवसर, उनकी क्षमताओं के पूर्ण विकास और अधिकतम गत्यात्मक विकास में सहायक होते हैं। इससे बच्चे के भविष्य की प्रगति का आधार स्थापित हो सकता है।

प्रश्न 4. बालक के सर्वांगीण विकास में खेल की अहम् भूमिका है। इस कथन की पुष्टि कीजिए।

***अथवा,* शारीरिक, मानसिक एवं संवेगात्मक विकास में खेल महत्वपूर्ण है। स्पष्ट कीजिए।**

उत्तर– बालकों के सर्वांगीण विकास में खेलों का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। खेलों द्वारा ही बालक में अनेक शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और नैतिक गुणों का उद्‌भव तथा विकास होता है। मनोवैज्ञानिकों तथा शिक्षाशास्त्रियों ने तो खेल के बाल शिक्षण की विशिष्ट प्रणाली को 'खेल प्रणाली' रूप में स्वीकार कर लिया है। यहाँ खेलों की मुख्य उपयोगिताओं का उल्लेख किया गया है–

1. शारीरिक विकास में महत्व– शारीरिक विकास की दृष्टि से बालक के जीवन में खेलों का बहुत महत्व है। खेलों से बालक के शरीर के अंगों का विकास प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में होता है। खेलों से बालकों की क्रियाशीलता में वृद्धि होती है जिससे माँसपेशियाँ विकसित व सुगठित होती है और अविकसित अंगों का विकास होता है। अंगों की वृद्धि और विकास से बालकों में क्रियात्मक क्षमताओं और विभिन्न कौशलों का विकास होता है। इसके अतिरिक्त उनके शरीर की अतिरिक्त संचित ऊर्जा का निष्कासन भी खेलों द्वारा हो जाता है जिससे वे तनावमुक्त हो जाते हैं। अतः बालकों के शारीरिक विकास के लिए खेल आवश्यक है। खेल बालक को शारीरिक रूप से मजबूत, स्वस्थ व निरोगी बनाते हैं। दौड़ने, कूदने, भागने और उछलने से रक्त संचार तेज होता है जिससे स्फूर्ति आती है, क्रियाशीलता में वृद्धि होती है और माँसपेशियाँ मजबूत होती है इसलिए विभिन्न आयु स्तरों पर स्कूलों तथा विद्यालयों में बालकों के लिए विभिन्न शारीरिक खेलों की व्यवस्था की जाती है।

2. मानसिक विकास में महत्व– खेल मनोरंजन द्वारा मानसिक विकास की एक महत्वपूर्ण क्रिया है। खेलों से शारीरिक विकास ही नहीं मानसिक विकास भी अति विशिष्ट तरीके से होता है। ऐसा देखा गया है कि जिन बच्चों को खेलने के पर्याप्त अवसर नहीं मिलते हैं उनका मानसिक विकास धीमी गति से होता है।

खेल चाहे शारीरिक हो या मानसिक, घर में खेला जाने वाला हो या घर के बाहर, उनमें बालकों की मानसिक सक्रियता, सोच–विचार एवं बुद्धि का उपयोग अवश्य ही होता है। फलस्वरूप बालकों की बुद्धि, विचार, तर्क, चिन्तन और कल्पना शक्ति का विकास होता है। प्रमुख रूप से रचनात्मक खेलों में उसे मौलिक चिन्तन करना पड़ता है। निरन्तर चिन्तन करने से बालक की मानसिक शक्तियों का विकास स्वाभाविक रूप से होता रहता है अतः यदि बालकों का समुचित ढंग से मानसिक विकास कराना हो तो उन्हें ऐसे खेल उपलब्ध कराये जाने चाहिए जो उसके चिन्तन, कल्पना, तर्क, स्मृति और बुद्धि का विकास कर सके। शतरंज, ताश, क्विज तथा पजल आदि ऐसे ही खेल हैं जिनसे मनोरंजन के साथ–साथ मानसिक विकास भी होता है।

3. संवेगात्मक विकास में महत्व– खेल बालकों के विभिन्न संवेगों की अभिव्यक्ति के रंगमंच होते हैं। खेलों द्वारा बालक अपने संवेगों की अभिव्यक्ति तो करता ही है, साथ ही दूसरे बालकों के संवेगों को देखकर संवेगों की अभिव्यक्ति का ढंग सीखता है। अतः खेलों से संवेगों में परिपक्वता आती है तथा बालक उनकी अभिव्यक्ति करना सही ढंग से सीखता है। संवेगात्मक नियंत्रण भी बालकों में खेलों द्वारा ही होता है। संवेगात्मक नियंत्रण से बालक के व्यक्तित्व में विभिन्न शीलगुणों, जैसे– सहनशीलता, सहानुभूति, त्याग और सच्चाई जैसे गुणों का विकास होता है।

4. सामाजिक विकास में महत्व– खेल एक ऐसी क्रिया है जिसमें बालक समूह के संपर्क में आते हैं। सामूहिक खेलों द्वारा बालकों के भीतर विभिन्न सामाजिक गुणों का आविर्भाव होता है।

खेल बालक में उच्चकोटि के सामाजिक गुणों का विकास करते हैं। ये गुण अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं और बालक का सामाजिक समायोजन आसान बना देते हैं।

5. नैतिक विकास में महत्व– खेलों द्वारा बालकों में नैतिकता का विकास सहज ही हो जाता है क्योंकि खेलों का संचालन ईमानदारी, सच्चाई एवं आत्म–नियंत्रण द्वारा होता है अतः खेलने से नैतिकता स्वतः आ जाती है।

6. क्रियात्मक विकास में महत्व– खेल बालकों में विभिन्न कौशलों का विकास भी करते हैं, क्योंकि खेलते समय दौड़ने, भागने, उछलने, कूदने, पकड़ने, लपकने आदि की क्रियाएँ करने से धीरे–धीरे ये क्रियाएँ स्वतः ही परिपक्व और संतुलित होती जाती हैं जिससे आगे की अवस्था के क्रियात्मक विकास में सहायता मिलती है।

7. सृजनात्मक विकास में महत्व– खेलों के द्वारा बालक अपनी सृजनात्मकता की अभिव्यक्ति करते हैं। बालकों के खेलने के नये–नये ढंग तथा खेलों के लिए नये–नये विषयों के चुनाव से बालकों की सृजनात्मकता का पता चलता है।

8. बालकों के स्व–मूल्यांकन में सहायक– खेलों से बालकों को धीरे–धीरे आत्म–मूल्यांकन की अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है।

9. बालकों के शैक्षिक विकास में सहायक– खेलों के द्वारा बालकों के शैक्षिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहता है। खेल प्रणाली द्वारा दी गयी शिक्षा सरस, सुगम और रुचिकर होती है तथा इनके द्वारा खेल–ही–खेल में बालक विभिन्न सूचनाओं को आसानी से ग्रहण कर लेता है।

इसके अलावा खेल संवेगों के रचना में सहायक, अनुभव विकास में सहायक, भाषा विकास में सहायक, व्यक्तित्व निर्माण में सहायक, समायोजन में सहायक, मनोचिकित्सा के क्षेत्र में सहायक एवं आत्माभिव्यक्ति में सहायक होता है।

प्रश्न 5. "बाल्यावस्था जीवन का अनोखा काल है।" स्पष्ट कीजिए। (छिंदवाड़ा 2022)

***अथवा*, बाल्यावस्था जीवन पर टिप्पणी लिखिए।**

उत्तर– बाल्यावस्था वास्तव में मानव जीवन का वह स्वर्णिम समय है जिसमें उसका सर्वांगीण विकास होता है। **फ्रायड** यद्यपि यह मानते हैं कि बालक का विकास पाँच वर्ष की आयु तक हो जाता है, लेकिन बाल्यावस्था विकास की यह सम्पूर्णता गति प्राप्त करती है और एक परिपक्व व्यक्ति के निर्माण की ओर अग्रसर होती है। शैशवावस्था के बाद बाल्यावस्था का आरम्भ होता है। यह अवस्था, बालक के व्यक्तित्व के निर्माण की होती है। इस अवस्था में बालक के विभिन्न आदतो, व्यवहार, रुचि एवं इच्छाओं के प्रतिरूपों का निर्माण होता है।

कोल व **ब्रूस** के अनुसार– "बाल्यावस्था जीवन का अनोखा काल है।"

कीलपैट्रिक के अनुसार–"बाल्यावस्था जीवन का निर्माण काल है।"

ब्लेयर, जोन्स एवं **सिम्पसन** के अनुसार– "शैक्षिक दृष्टिकोण से जीवन चक्र में बाल्यावस्था से अधिक कोई महत्वपूर्ण अवस्था नहीं है। जो शिक्षक इस अवस्था के बालकों को शिक्षा देते हैं, उन्हें बालकों की आधारभूत आवश्यकताओं की जानकारी होनी चाहिए जो उनके व्यवहार को रूपान्तरित और परिवर्तित करती है।"

कोल तथा **ब्रूस** ने बाल्यावस्था को जीवन का अनोखा काल कहा है। उनके अनुसार, "वास्तव में माता-पिता के लिए बाल विकास की इस अवस्था को समझना कठिन है।"

कुप्पू स्वामी के अनुसार, "इस अवस्था में बालक में अनेक अनोखे परिवर्तन होते हैं।"

उदाहरणार्थ, 6 वर्ष की आयु में बालक का स्वभाव बहुत उग्र होता है और वह लगभग सब बातों का उत्तर न या नहीं में देता है। 7 वर्ष की आयु में उसमें अन्य बालकों में सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने की भावना बहुत प्रबल होती है। 12 वर्ष तक की आयु में विद्यालय में उसके लिए कोई आकर्षण नहीं रह जाता है। वह कोई नियमित कार्य न करके, कोई महान और रोमांचकारी कार्य करना चाहता है। बाल्यावस्था में बालक आत्मनिर्भर होने लगता है और वह अपने आस–पास के वातावरण को समझने लगता है। इस अवस्था में बालक के जीवन में स्थायित्व आ जाता है। इस अवस्था में शारीरिक, संवेगात्मक, सामाजिक तथा बौद्धिक विकास होते हैं। यह मिथ्या–परिपक्वता की अवस्था है। यह वही अवस्था है जब बच्चा अपने वातावरण पर नियंत्रण पाना सीखता है। इस अवस्था में बच्चों में मानसिक स्थिरता भी आती है, इसी अवस्था में सामाजीकरण की प्रक्रिया सशक्त रूप से शुरू होती है। अतः यह अवस्था जीवन का अनोखा काल है।

बाल्यावस्था की विशेषताएँ– प्रत्येक अवस्थाओं के अंतर्गत बच्चों में कुछ न कुछ विशेषताएँ देखने को मिलती है, अतः बाल्यावस्था के दौरान बच्चों में होने वाली गतिविधि से संबंधित महत्वपूर्ण विशेषताएँ निम्न हैं–

(1) विकास की धीमी गति– बालक का विकास जहाँ शैशवावस्था / शैशवकाल में विकास की गति तेज तथा गहन होती है, वही बाल्यकाल में यह गति अत्यन्त धीमी हो जाती है, परंतु इसका अर्थ यह नहीं होता है, कि गति रूक जाती है। यहाँ गति बड़ी ही स्थिरतापूर्वक आगे बढ़ती है।

(2) स्वतंत्रता– शैशवावस्था में जहाँ हर वह काम, जिसे एक बच्चा स्वयं नहीं कर सकता है, दूसरों पर ज्यादा निर्भर रहता है, परंतु बाल्यावस्था में बच्चा ज्यादा से ज्यादा काम स्वयं करना चाहता है और वह हर तरह की स्वतंत्रता चाहता है।

(3) भावनात्मक स्थिरता तथा नियंत्रण– इस अवस्था में बालक अपनी भावनाओं पर धीरे–धीरे नियंत्रण करना सीख जाता है। वह अब भावनात्मक रूप से अधिक स्थिर होता है अपने कार्यों में शैशवकाल के दौरान जहाँ भावनाओं को मुख्य स्थान देने वाला बालक अब अपने कार्यों में बुद्धि को महत्व देने लगता है।

(4) शारीरिक क्रियाएँ– बाल्यावस्था में शारीरिक क्रियाओं के प्रति बच्चे को रूझान ज्यादा होता है वह प्रत्येक काम को स्वयं करके देखना तथा सीखना चाहता है। वह चुपचाप बैठकर रहना पसंद नहीं करता है।

प्रश्न 6. बाल्यावस्था में शारीरिक विकास का वर्णन कीजिए। (ग्वालियर 2022)

***अथवा*, बाल्यावस्था में मानसिक तथा शारीरिक विकास की विशेषताएँ लिखिए।** (छतरपुर 2022)

***अथवा*, छः से ग्यारह वर्ष तक की आयु के बालकों की मानसिक एवं संवेगात्मक विशेषताएँ बताइए।** (ग्वालियर 2022)

उत्तर–बाल्यावस्था जन्मोपरान्त मानव विकास की दूसरी अवस्था है जो शैशवावस्था की समाप्ति के उपरान्त प्रारम्भ होती है। बाल्यावस्था में प्रवेश करते समय बालक अपने वातावरण से काफी सीमा तक परिचित हो जाता है। इस अवस्था में वह व्यक्तिगत तथा सामाजिक व्यवहार करना सीखना प्रारंभ करता है तथा उसकी औपचारिक शिक्षा का प्रारंभ इसी अवस्था में होता है। शैक्षिक दृष्टि से बाल्यावस्था जीवन की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवस्था है। बाल्यावस्था बालकों की वह अवस्था है, जिसमें छात्रों की स्मरण चेतना का विकास होता है। बाल्यावस्था को 6 से 12 वर्ष तक माना जाता है जिसमें छात्र नवीन वस्तुओं के संबंध में जानने हेतु जिज्ञासु होते हैं।

फ्रायड के अनुसार, "बाल्यावस्था बालक का निर्माणकारी काल है।"

रॉस के अनुसार, "बाल्यावस्था छदम (झूठा) परिपक्वता की आयु है।"

बाल्यावस्था में शारीरिक विकास–जन्म से 6 वर्ष तक की अवस्था में शारीरिक विकास सिर से प्रारंभ होकर पैरों की ओर जाता है। सिर का भार जन्म के समय 350 ग्राम होता है, 6 वर्ष की आयु तक 1250 ग्राम हो जाता है और 10 वर्ष की आयु में मस्तिष्क का भार शरीर का आठवाँ हिस्सा हो जाता है। 6 वर्ष की आयु में ऊँचाई लगभग 43 इंच और भार 12 पौंड हो जाता है।

बाल्यावस्था तक लंबाई में तीव्र गति से वृद्धि होती है, भार पर्याप्त मात्रा में बढ़ता है । 12 वर्ष तक के बालक–बालिकों का भार 85-95 पौण्ड के लगभग हो जाता है अर्थात् बालकों की तुलना में बालिकाओं का भार ज्यादा होता है। बाल्यावस्था में हड्डियों की संख्या 270 से बढ़कर 350 तक हो जाती है। 6 वर्ष की अवस्था तक चार दाढ़े व 8 काटने वाले दाँत आ जाते हैं उसके बाद स्थायी दाँत आ जाते हैं।

12 वर्ष की आयु तक 25 दाँत निकाल आते हैं। बाल्यावस्था तक बालक का मांसपेशियों पर नियंत्रण हो जाता है और इनका भार शरीर का 26% हो जाता है। इस अवस्था में बालक अपनी शारीरिक गति पर नियंत्रण करना सीख जाता है और अपने कार्य स्वयं करने लगता है। हस्तकला में वृद्धि, शक्ति में वृद्धि, खेल के संबंध में सुनिश्चितता आ जाती है। इस अवस्था में अनेक अनोखे परिवर्तन होते हैं जिनके कारण इस अवस्था को समझना कठिन होता है।

बाल्यावस्था में मानसिक विकास–पूर्व बाल्यावस्था में बालक के मानसिक विकास का माध्यम ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। धीरे–धीरे वह अपनी जिज्ञासा की शांति के लिए अनेक प्रकार के प्रश्न करता है। भाषा पर उसका अधिकार होने लगता है। स्मरण शक्ति में वृद्धि हो जाती है। वातावरण की वस्तुओं के नाम बताने, कहानी, कविता सुनाने एवं अपनी रुचि के अनुसार सीखने की इच्छा बढ़ जाती है। समस्या का चिंतन करके कारण व निदान खोजने का प्रयास करने लगता है। रटने की योग्यता विकसित हो जाती है। 6 से 12 वर्ष की आयु में उसमें दाएँ–बाएँ का ज्ञान, 14-15 वस्तुओं को गिनने व सरल प्रश्नों के उत्तर देने की क्षमता का विकास हो जाता है। 8 से 11 वर्ष की आयु में बालक का भाषा संबंधी विकास इतना हो जाता है कि वह छठवीं कक्षा तक लगभग पचार हजार शब्द ज्ञान हो जाता है। सही व सटीक, जटिल वाक्य बना लेता है। इस अवस्था में अवधान का विकास भी खूब हो जाता है।

शारीरिक विकास की विशेषताएँ–

(1) बच्चों में शारीरिक विकास में शरीर के विभिन्न अंगों की वृद्धि और विकास शामिल होता है, जिसमें आकार, वजन, लंबाई, मस्तिष्क, हड्डियाँ, दाँत आदि शामिल हैं।

(2) बच्चे के बढ़ने के साथ–साथ तंत्रिका तंत्र और अंतः स्त्रावी ग्रंथियाँ भी अधिक विकसित हो जाती हैं।

(3) व्यक्तिगत अंतर के कारण बच्चों में शारीरिक विकास भिन्न हो सकता है। शारीरिक विकास समय के साथ धीरे–धीरे होता है।

(4) शारीरिक विकास सभी बालकों में अलग–अलग हो सकता है, लेकिन उसकी प्रक्रिया लगभग समान होती है।

(5) बाल्यावस्था में विकास शिरोपुच्छीय तथा समीपो–दूरस्थ होता है।

(6) बालक के विभिन्न अंगों का विकास एक निश्चित क्रमानुसार होता है। जिसे क्रमानुसार विकास या सिर–पुच्छीय विकास कहते हैं।

मानसिक विकास की विशेषताएँ–

(1) बाल्यावस्था में मानसिक विकास बड़ी तीव्र गति से होता है।

(2) इस समय बालक की सहज प्रवृत्तियाँ एवं मूल प्रवृत्तियाँ उसके सीखने में सहयोग प्रदान करती हैं जिससे उसकी जिज्ञासा शांत होती है।

(3) उसमें रुचि, चिन्तन, स्मरण, निर्णय एवं समस्या समाधान आदि गुणों का स्वतः ही विकास होता है।

(4) जब कोई बालक 6 वर्ष का हो जाता है तब उसकी मानसिक शक्तियों और योग्यताओं का पूर्ण विकास हो जाता है।

(5) मानसिक विकास के अन्तर्गत मन के चेतन और अचेतन दोनों पक्षों का विकास होता है।

(6) बालिकाओं का विकास बालकों से एक वर्ष पूर्व होता है।

(7) शारीरिक विकास के समान मानसिक विकास में भी व्यैक्तिक भिन्नता होती है।

(8) सिर पर आघात लगने से मानसिक विकास में अवरोध आ जाता है और मानसिक रोग तक उत्पन्न हो जाते हैं।

(9) मानसिक विकास के फलस्वरूप ही व्यक्ति अतीत के अनुभवों, से लाभ उठाने में समर्थ होता है।

(10) मानसिक विकास होने पर ही शिक्षा की प्रक्रिया सुचारु रूप से चल सकती है।

संवेगात्मक विकास–प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में समय–समय पर क्रोध, भय, हर्ष, घृणा, प्रेम आदि का अनुभव करता है, इन्हें संवेग कहते हैं। मानव जीवन में संवेगों का महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य को संवेगों के माध्यम से विभिन्न कार्यों को करने की प्रेरणा मिलती है। संवेगात्मक विकास की परिभाषाएँ निम्न हैं–

(1) संवेगों की व्यापकता, संवेग सभी प्राणियों में पाये जाते हैं। मानव हो अथवा पशु–पक्षी, बालक हो या वृद्ध, सभी भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में।

(2) बालकों में संवेग थोड़े समय के लिए होते हैं। बालक अपने संवेगों की अभिव्यक्ति बाहरी व्यवहार द्वारा तुरन्त कर देते हैं जबकि बड़े होने पर बाहरी व्यवहार का सामाजिक नियंत्रण होता है।

(3) बालकों के संवेग तीव्र होते हैं। डर, क्रोध, खुशी आदि की अभिव्यक्ति अत्यधिक तीव्रता से करते हैं।

(4) बालकों के संवेग अस्थिर होते हैं। इनके संवेगों में तीव्रता से बदलाव होता है।

(5) बालकों के संवेग बार–बार दिखाई देते हैं, क्योंकि वे अपने संवेगों को छिपाने में असमर्थ होते हैं। बालक दिन में अनेक बार गुस्सा करते हैं या खुश होते हैं।

(6) बालकों की संवेगात्मक प्रतिक्रिया में भिन्नता पायी जाती है। एक ही संवेग की अवस्था में प्रत्येक बच्चा अलग–अलग प्रतिक्रिया देता है।

उदाहरणार्थ–अजनबी से सामने एक बच्चा भाग जायेगा व दूसरा रोने लगेगा।

प्रश्न 7. नैतिक विकास से क्या आशय है ? नैतिक विकास के सिद्धान्त की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। **(ग्वालियर 2015, 21 ; छिन्दवाड़ा 21)**

उत्तर–नैतिक विकास–मनुष्य में नैतिक गुणों को ग्रहण करने की प्रक्रिया को 'नैतिक विकास' कहते हैं। व्यक्ति जिस समाज में रहता है, समाज उसके ऊपर तरह–तरह के सामाजिक बंधन, निर्देश अथवा दायित्व आरोपित करता है, जिन्हें समाज का आदर्श या मानक कहते हैं।

बालक का जैसे–जैसे विकास होता है उनके नैतिक मूल्यों का भी विकास होता जाता है। नैतिक विकास के अंतर्गत सच–झूठ, न्याय–अन्याय, पाप–पुण्य, परोपकार आदि के नैतिक मूल्य विकसित होते हैं। नैतिक विकास पर **कोहलबर्ग** (मनोवैज्ञानिक) ने कई शोध किये हैं और अपने शोध परिणाम के अनुसार नैतिक विकास के सिद्धान्त प्रतिपादित किये। कोहलबर्ग ने 10 से 16 वर्ष तक की आयु के बालकों के सम्मुख कहानियों के रूप में नैतिक दुविधाओं को प्रस्तुत किया, इन साक्षात्कारों से प्राप्त सूचनाओं के विश्लेषण से कोहलबर्ग ने नैतिक विकास से निम्नलिखित 3 प्रमुख स्तर (Level) एवं 7 सोपान (Stage) बताएँ हैं–

1. प्रथम अवस्था–

पूर्व परंपरागत स्तर
(Pre-conventional Level)

- आत्मकेन्द्रित निर्णय (Self-centered)
- दंड एवं आज्ञा पालन अभिमुखता (Punishment and Obedience Orientation)
- यांत्रिक सापेक्षिक अभिमुखता (Instrumental Relativist Orientation)

2. दूसरी अवस्था–

परंपरागत स्तर
(Conventional Level)

- परस्पर एकरूपता अभिमुखता (Mutual Affinity Orientation)
- अधिकार संरक्षण अभिमुखता (Right Protection Orientation)

3. तीसरी अवस्था–

उत्तर–परंपरागत स्तर
(Post-conventional Level)

- सामाजिक अनुबंध विधि सम्मत अभिमुखता (Social Contract Orientation)
- सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्त अभिमुखता (Universal Ethical Principle Orientation)

1. पूर्व–परम्परागत स्तर–इस स्तर पर बालक अपनी आवश्यकताओं के संदर्भ में चिन्तन करते हैं। नैतिक मूल्य से संबंधित प्रश्नों पर इस स्तर के बालक का उत्तर प्रायः उनको होने वाले लाभ या हानि पर आधारित होते हैं।

इस स्तर पर होने वाले नैतिक विकास को निम्नलिखित उपसोपानों में बाँटा जा सकता है–

(अ) आत्मकेन्द्रित निर्णय–इस उपसोपान में बालक प्रत्येक उस कार्य को जिसे वे करना पसंद करते हैं अथवा उस वस्तु को जिसे वे प्राप्त करना चाहते हैं अथवा उस व्यक्ति को जो उनकी सहायता करता है, उसे अच्छा समझते हैं तथा जिस काम में रुचि न हो या जो व्यक्ति उसे खराब समझते हैं। इस स्तर पर बालकों में केवल अपनी इच्छा एवं अनिच्छा अथवा पसंद या नापसंद ही प्रबल होते हैं, इनसे हटकर नियमों–दायित्वों का कोई विचार इनके अंदर नहीं होता है।

(ब) दंड एवं आज्ञापालन अभिमुखता–इस सोपान में बालक किसी कार्य के परिणाम को समझकर उसे अच्छा या बुरा होने का निर्णय लेते हैं। किसी नियम के उल्लंघन से मिलने वाले दंड की चिन्ता करते हैं।

(स) यांत्रिक सापेक्षिक अभिमुखता–बालक इस सोपान में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वे स्वलाभ से प्रोत्साहित होते हैं। वे मानते हैं कि व्यक्ति को स्वयं को देखना होता है तथा कोई भी व्यक्ति केवल उन व्यक्तियों के प्रति उत्तरदायी होता है, जो उसकी सहायता करते हैं।

2. परम्परागत स्तर–(1) इस स्तर पर बालक सामाजिक कार्यों या सामाजिक अपेक्षाओं को पूरा करने में रुचि लेते हैं।

(2) वे अपने परिवार, राष्ट्र, सामाजिक समूह की अपेक्षाओं पर खरा उतरने का प्रयास करते हैं।

(3) वे महत्वपूर्ण व्यक्तियों तथा सामाजिक व्यवस्थाओं का अनुसरण करते हैं।

(4) इस स्तर में बालक परम्परागत नियमों का समर्थन करते हैं।

इस स्तर के नैतिक विकास को निम्नांकित दो उप–सोपानों में बाँटा जा सकता है–

(अ) परस्पर एकरूपता अभिमुखता–(1) इस उप–सोपान में बालक अच्छा बनकर अन्य व्यक्तियों से प्रशंसा प्राप्त करना चाहता है।

(2) वे अच्छे बालक–बालिकाओं जैसा व्यवहार करने में रुचि रखता है।

(3) बालक वो काम करते हैं जो दूसरे को अच्छा लगे या अन्य की सहायता करें या अन्यों के द्वारा स्वीकृत हो, बालक उसी को प्राथमिकता देता है।

(4) बालक सहयोग को सर्वोत्तम आचरण में स्वीकार करता है।

(ब) अधिकार संरक्षण अभिमुखता–(1) इस उपसोपान में बालक सामाजिक दृष्टिकोण से स्वीकृत नियमों एवं मानकों का अनुसरण करते हैं तथा सामाजिक प्रणाली को मान्यता देते हैं।

(2) इस स्तर पर बालक व्यक्ति हानि की स्थिति में भी नियमों का पालन करने की सहमति जताते हैं।

3. उत्तर–परम्परागत स्तर–नैतिक विकास के इस तृतीय तथा सर्वोच्च स्तर पर बालक सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों का विश्लेषण तथा उन्हें परिभाषित करने का प्रयास करते हैं। उनमें स्व–निर्धारित नैतिक सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा तथा उनका अनुसरण करने की भावना होती है।

इस स्तर के अन्तर्गत दो उपसोपान आते हैं जो इस प्रकार है–

(अ) सामाजिक अनुबंध विधि सम्मत अभिमुखता–इस स्तर में बालक में सभी नैतिक मूल्यों को आलोचनात्मक ढंग से परखने की प्रवृत्ति आ जाती है। किसी मानक एवं नैतिक मूल्य को स्वीकारने से पूर्व तार्किक विचार–विमर्श करने की प्रवृत्ति आ जाती है।

(ब) सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्त अभिमुखता—(1) इस सोपान में व्यक्ति उचित–अनुचित का निर्णय तार्किक एवं सार्वभौमिकता के आधार पर करता है।

(2) इस सोपान में बालक मानव जाति के प्रति सम्मान की भावना से युक्त होते हैं।

(3) इस सोपान में बालक किसी निर्णय को लेने से पूर्व परिस्थिति को महत्व देते हैं।

कोहलबर्ग के तीनों स्तर एवं सातों सोपान के अध्ययन से पता चलता है कि प्रथम स्तर पर बालक आत्मकेन्द्रित एवं स्वयं के हितों को ध्यान में रखता है जबकि तृतीय स्तर में बाह्य केन्द्रित एवं निष्पक्ष भाव से नैतिक मूल्यों का परिस्थिति के अनुसार आलोचनात्मक विश्लेषण करने में सक्षम हो जाता है।

प्रश्न 8. नैतिक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए। (जबलपुर 2022)

उत्तर—बालक का नैतिक विकास विभिन्न कारकों द्वारा प्रभावित होता है जिसमें परिवार, विद्यालय, साथी–समूह, जनसंचार माध्यम एवं बौद्धिक विकास मुख्य है। जिनका विस्तृत वर्णन निम्नलिखित हैं—

1. परिवार—बालकों के लिए शिक्षा, संस्कृति, अनुशासन, शिष्टता आदि सभी विषयों की प्राथमिक पाठशाला घर या परिवार ही है। घर–परिवार के वातावरण का प्रभाव बालक के नैतिक विकास पर पड़ता है। परिवार सांस्कृतिक प्रतिमानों को व्यावहारिक रूप में बच्चों को प्रदान कर सकता है। उन परिवारों में बच्चों का सकारात्मक नैतिक विकास तीव्रता से होता है जहाँ सदस्यों में आपस में सौहार्द्र हो, बच्चों को स्वतंत्रतापूर्ण निर्णय लेने व अपने निर्णय के परिणामों का सामना करने का अवसर मिले। नैतिक कहानियाँ व साहित्य बच्चों को उपलब्ध हो, सांस्कारिक व्यवहारों को प्रदर्शित करने पर पुरस्कार मिले, बालकों को नैतिक रूप से बलवान बनाने का प्रयास किया जाए।

जिन परिवारों में आपसी मत–भेद और तनाव का वातावरण हो वहाँ बालकों के नैतिक विकास पर भी नकारात्मक प्रभाव देखने को मिलता है।

2. विद्यालय—बालक परिवार से निकलकर विद्यालय में प्रवेश करता है। जहाँ शिक्षकों का व्यवहार, विद्यालय का वातावरण बालक के नैतिक विकास को प्रभावित करता है। बालक अध्यापकों से सबसे ज्यादा जुड़ाव महसूस करते हैं और उनको अपना आदर्श मानते हैं, ऐसी स्थिति में शिक्षक यदि बालकों के सामने उचित नैतिक व्यवहार प्रस्तुत करते हैं, तो बालक का नैतिक विकास सकारात्मक रूप से प्रभावित होगा, परन्तु इसके विपरीत यदि विद्यालय में शिक्षक का व्यवहार कठोर हो तथा विद्यालय में अनुशासनहीनता का माहौल हो तो बालक का नैतिक विकास निश्चित ही बाधित होता है।

3. साथी–समूह—ऐसा देखा गया है कि संगति का असर व्यक्ति पर सबसे अधिक पाया गया है। अतः बालक का साथी समूह कैसा है? उसका नैतिक विकास इससे भी प्रभावित होगा। जैसे यदि समूह में कोई साथी झूठ बोलते हैं या कोई अनुशासनहीनता वाले कार्यों में लिप्त रहते हैं तो बालक ऐसे समूह से फिर गलत आदतों को सीखता है और उसका नैतिक विकास बाधित होता है।

4. जनसंचार के माध्यम— वर्तमान समय में बालक का नैतिक विकास जनसंचार माध्यमों से जैसे—टेलीविजन, इंटरनेट, पत्र–पत्रिका, सिनेमा आदि से काफी हद तक प्रभावित होता है। बालक जैसा पत्र–पत्रिकाएँ पढ़ता है उसका विचार वैसा ही बनता है। सिनेमा से बालक का नैतिक विकास प्रभावित होता है। यदि सिनेमा में कोई संदेश या समाज के लिए प्रेरणादायक हो तो बालकों का नैतिक विकास होता है, परन्तु अर्थहीन सिनेमा समाज में गंदगी फैलाने का कार्य करता है। इस प्रकार, कहा जा सकता है कि परिवार का उत्तम वातावरण, शिक्षक का आदर्श रूप, शिक्षा प्रदान करने वाली फिल्में एवं प्रेरणादायक पत्र–पत्रिकाएँ बालक का नैतिक विकास करती है।

प्रश्न 9. बालकों के नैतिक विकास में शिक्षक की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—अध्यापक बालकों को न केवल विषय का ज्ञान देता है, बल्कि उसके नैतिक विकास में भी अहम् भूमिका अदा करता है। अतः शिक्षकों की भूमिका निम्नवत् रूप से देखी जा सकती है—

(1) बालकों का मनोविश्लेषण करके शिक्षक इस बात का पता लगा सकता है कि उनकी अभिरुचियाँ, क्षमताएँ कैसी है ? इस प्रकार, वह बालक को उचित दिशा एवं सही निर्देशन दे सकता है।

(2) शिक्षक खुद को एक आदर्श रूप में बालकों के समक्ष प्रस्तुत करें जैसे—समय पर कक्षा में आना, पक्षपात रहित व्यवहार, परिश्रमी आदि ताकि बालक उनको देखकर ऐसा बनने का प्रयास करें।

(3) अध्यापक का व्यक्तित्व विद्यार्थियों के लिए आदर्श व्यक्तित्व होता है, अतः उसे नैतिक मूल्यों से परिपूर्ण होना चाहिए। अध्यापक को ऐसे कार्य करने चाहिए जिनमें ईमानदारी, न्यायप्रियता, नियमबद्धता, सत्यता जैसे गुणों का परिचय मिलता है।

(4) प्रभावात्मक अनुशासन द्वारा बालकों के नैतिक विकास को उन्नत किया जा सकता है। दमनात्मक अनुशासन से अध्यापक को बचना चाहिए, यह पूर्णतया अमनोवैज्ञानिक है।

(5) अध्यापकों को पाठ्य–सहगामी क्रियाओं द्वारा विद्यार्थियों में नैतिकता का विकास करने का प्रयास करना चाहिए। इन क्रियाओं का आयोजन करने से बालकों को विभिन्न नियमों का पालन करना पड़ता है। समूह में विद्यार्थी एक–दूसरे के प्रति सहानुभूति, सहयोग, नेतृत्व, नैतिक मूल्यों पर अमल जैसे गुणों को अंगीकार करते हैं।

(6) पुरस्कार एवं दण्ड का पक्षपात रहित ढंग से प्रयोग करके भी शिक्षक बालकों के नैतिक विकास में अपना रचनात्मक योगदान देता है।

(7) अध्यापक अपने प्रशासकों, विद्यार्थियों, साथियों, विद्यार्थियों के अभिभावकों तथा समाज के विभिन्न समुदाय के सदस्यों के साथ अच्छे एवं सौहार्द्रपूर्ण संबंध बनाकर विद्यार्थियों के समक्ष अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत कर सकते हैं।

(8) बालकों को नैतिक मूल्यों का पालन करने तथा सन्तुलित व्यक्तित्व विकसित करने के लिए प्रोत्साहित कर सकता है।

(9) बालकों को वांछित तथा अवांछित, सन्तोषजनक एवं असंतोषजनक कार्य के प्रति स्वयं को संबद्ध करके उसका पथ प्रदर्शन कर सकते हैं।

प्रश्न 10. बालक के विकास पर माता–पिता के व्यक्तित्व, अभिवृत्तियों और व्यवहार का क्या प्रभाव पड़ता है ?

उत्तर—बालक के विकास पर माता–पिता के व्यक्तित्व, अभिवृत्तियों और व्यवहार पर निम्नलिखित प्रभाव पड़ता है—

1. व्यक्तित्व का प्रभाव—माता–पिता के व्यक्तित्व का प्रभाव भी उनके बालकों पर पड़ता है अर्थात् जैसा उनका व्यक्तित्व होगा वैसा ही व्यवहार वे अपने बच्चों के साथ करते हैं। यदि पिता की प्रशासकीय प्रवृत्ति है, तो वह हमेशा पत्नी व बच्चों पर भी इसी तरह आदेशात्मक व्यवहार करता है तो फिर प्रवृत्ति उनके बालकों में भी आती है।

2. अभिवृत्तियों का प्रभाव—माता–पिता की अभिवृत्तियों का बच्चों पर प्रभाव पड़ता है। अपने बच्चों में किसी की अधिक प्रशंसा करना या अधिक निन्दा करना अथवा अधिक संरक्षण देना या

उपेक्षा करना आदि बातों का प्रभाव बालक के विकास पर पड़ता है। बालक और बालिकाओं के अन्तर के फलस्वरूप उनके प्रति व्यवहार में अन्तर आना भी उनके विकास पर प्रभाव डालता है। किसी बच्चे को बार–बार डाँटना, उसके असभ्य व्यवहार के लिए सजा देना, लड़के को लड़की से श्रेष्ठ बताना आदि अभिवृत्तियों के फलस्वरूप कुछ बच्चों के विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। माता–पिता को बालकों के सामने आदर्श व्यवहार प्रस्तुत करना चाहिए। ताकि उनका समुचित दिशा में विकास हो सके।

3. व्यवहार का प्रभाव–बालक और माता–पिता के सम्बन्धों की महत्वपूर्ण बात घर का स्नेहमय वातावरण है। बालक–बालिकाओं के प्रति समान व्यवहार हो तथा समान रूप से दोनों की इच्छाओं की पूर्ति तथा समस्याओं के निदान हेतु प्रयास किया जाए। अस्वीकृति से आशय उनके प्रति रुचि न लेना, उनकी अपेक्षा करना, डाँटना, फटकारना, उन पर आरोप आदि से हैं। बालकों को आवश्यकता के अनुसार दी गई स्वतंत्रता और सीमित नियंत्रण का उनके विकास पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है, जबकि कठोर नियंत्रण और थोड़ी भी स्वतंत्रता न मिलने पर बालकों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। उनमें संवेगात्मक असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और ऐसे बच्चे कुंठाओं से ग्रसित हो जाते हैं।

4. माता–पिता और बालक के पारस्परिक संबंधों का प्रभाव–माता–पिता और बालक के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने हेतु तीन प्रमुख बातें ध्यान में रखना आवश्यक है। पहली बात यह है कि बालक अपने माता–पिता को किस रूप में देखता है और इसी बात पर उसका व्यवहार और समायोजन निर्भर करता है। यदि वह अपने माता–पिता को कठोर अनुशासन वाला, दण्ड देने वाला व्यक्ति मानते हैं तो उनका माता–पिता के प्रति असंतोष का भाव रहेगा जिसे वे किसी–न–किसी रूप में भली–भाँति अभिव्यक्त करेंगे। पर यदि वे अपने माता–पिता को स्नेहमय, दयालु और सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार करने वाला मानते हैं, तो वे उनके प्रति खुश और संतुष्ट रहेंगे।

माता–पिता अपने निर्देश पालन करवाने हेतु बालकों पर अनुशासन रखते हैं। वे बालक को सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों के अनुरूप आचरण करने के लिए प्रेरित करते हैं। वे चाहते हैं कि बच्चा निर्देशानुसार आचरण करे, पर जब वह ऐसा नहीं करता और अनुशासन भंग कर दण्ड का स्वरूप धारण कर लेता है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि बच्चे का आचरण ठीक नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि माता–पिता के सम्बन्ध में बालक की अवधारणा, उनके साथ सारूप्यता और अनुशासन माता–पिता और बालक के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण करते हैं जिनका कि बाल–विकास पर व्यापक पड़ता है।

प्रश्न 11. ऐसी दो अवस्थाओं का वर्णन कीजिए जिसमें अभिभावकों को बच्चों के साथ विश्वास स्थापित करने की अधिक आवश्यकता पड़ती है।

उत्तर–शैशवावस्था और किशोरावस्था जीवन की ऐसी महत्वपूर्ण दो अवस्थाएँ हैं जिसमें अभिभावकों को बच्चों के साथ विश्वास स्थापित करने की अधिक आवश्यकता पड़ती है।

(1) शैशवावस्था–शैशवावस्था को बालक का निर्माण काल कहा जाता है। यह अवस्था जन्म से पाँच वर्ष तक मानी जाती है। पहले तीन वर्ष पूर्व शैशवावस्था और तीन से पाँच वर्ष की आयु उत्तर शैशवावस्था कहलाती है। **न्यूमैन** के शब्दों में "पाँच वर्ष तक की अवस्था शरीर तथा मस्तिष्क के लिए बड़ी ग्रहणशील होती है।" **फ्रॉयड** के शब्दों में–"मनुष्य को जो कुछ भी बनना होता है, वह चार पाँच वर्षों में बन जाता है।"

यह पूरी तरह से बड़ों पर निर्भरता का दौर होता है। शैशव अनेक मनोवैज्ञानिक गतिविधियों के प्रारंभ होने का भी समय है। जैसे–बोलने की क्षमता, इन्द्रियों के अनुभवों और शारीरिक गतिविधियों,

हरकतों में तालमेल बिठाना, प्रतीकों का उपयोग करते हुए सोचना और दूसरों की नकल करके उनसे सीखना। जन्मोपरांत अन्य अवस्थाओं की तुलना में इस अवस्था में सबसे तीव्र वृद्धि और विकास होता है। बच्चे की कुशलताएँ और योग्यताएँ कई गुना बढ़ती हैं। शैशवावस्था के अंत तक वह चलने, दौड़ने और शब्दों द्वारा अपनी आवश्यकताओं को व्यक्त करने योग्य हो जाता है।

(2) किशोरावस्था—किशोरावस्था से तात्पर्य बालक की 12 वर्ष से 18 वर्ष तक की अवस्था से होता है। यह अवस्था बाल्यावस्था और प्रौढ़ावस्था का संधिकाल होता है। **जरशिल्ड** के शब्दों में ''किशोरावस्था वह समय है जिसमें विकासशील व्यक्ति बाल्यावस्था से परिपक्वता की ओर संक्रमण करता है।'' यह अवस्था यौवनारंभ की अवस्था होती है। लगभग ग्यारह से चौदह वर्ष के आस–पास की अवस्था यौवनारंभ कहलाती है। जब शारीरिक विकास बहुत तेजी से होता है। इसके परिणामस्वरूप ऊँचाई और वजन तेजी से बढ़ता है। तेज शारीरिक परिवर्तनों के कारण संवेदना के स्तर पर पुनः समायोजन की आवश्यकता होती है। किशोरों से परस्पर विरोधी आशाएँ रखी जाती हैं अर्थात् कभी तो उनसे बड़ों की तरह व्यवहार की अपेक्षा की जाती है तो कभी उनसे बच्चे समझकर व्यवहार किया जाता है। इसलिए अभिभावकों को चाहिए कि वो किशोरों के साथ विश्वास स्थापित करें उन्हें अपना मित्र समझकर उनको सभी बातों में भागीदार बनाएँ। इससे उनके आत्मविश्वास में वृद्धि होगी और समायोजन संबंधी कठिनाइयों का भी निवारण होगा। इस उम्र में हमउम्र साथी बहुत महत्वपूर्ण हो जाते हैं और किशोर अपने समूह के नियमों व संहिता का पालन करते हैं। परिवार से सहयोग न मिलने पर किशोर परिवार की मान्यताओं से अधिक मान्यता अपने साथियों को देते हैं। किशोरावस्था के दौरान विचार और भी विकसित तथा अधिक जटिल हो जाते हैं। वे अमूर्त समस्याओं के विषय में सोचकर उनका समाधान कर सकते हैं। ये सब उन भूमिकाओं व दायित्वों की तैयारी करने में किशोरों की मदद करते हैं जिनकी वयस्क होने पर उनसे अपेक्षा की जाती है।

प्रश्न 12. शैशवावस्था में मानसिक विकास का वर्णन कीजिए।

***अथवा*, शैशवावस्था की मानसिक क्षमताओं का वर्णन करें।**

उत्तर— सोरेनसन के शब्दों में– "जैसे–जैसे शिशु प्रतिदिन, प्रतिमास, प्रतिवर्ष बढ़ता जाता है, वैसे–वैसे उसकी शक्तियों में परिवर्तन होता जाता है।"

हम इन परिवर्तनों पर प्रकाश डाल रहे हैं, यथा—

(1) जन्म के समय व पहला सप्ताह— जॉन लॉक का मत है— "नवजात शिशु का मस्तिष्क कोरे कागज के समान होता है जिस पर अनुभव लिखता है" फिर भी शिशु जन्म के समय से ही कुछ कार्य जानता है, जैसे– छींकना, हिचकी लेना, दूध पीना, हाथ–पैर हिलाना, आराम न मिलने पर रोकर कष्ट प्रकट करना और सहसा जोर की आवाज सुनकर चौंकना।

(2) दूसरा सप्ताह— शिशु प्रकाश, चमकीली और बड़े आकार की वस्तुओं को ध्यान से देखता है।

(3) पहला माह— शिशु कष्ट या भूख का अनुभव होने पर विभिन्न प्रकार से चिल्लाता है और हाथ में दी जाने वाली वस्तु को पकड़ने की चेष्टा करता है।

(4) दूसरा माह— शिशु आवाज सुनने के लिए सिर घुमाता है। सब स्वरों की ध्वनियाँ उत्पन्न करता है और वस्तुओं को अधिक ध्यान से देखता है।

(5) चौथा माह— शिशु सब व्यंजनों की ध्वनियाँ करता है दी जाने वाली वस्तु को दोनों हाथों से पकड़ता है और खोये हुये खिलौनों को खोजता है।

(6) छठा माह— शिशु सुनी हुई आवाज का अनुकरण करता है, अपना नाम समझने लगता है एवं प्रेम और क्रोध में अंतर जान जाता है।

(7) आठवाँ माह– शिशु अपनी पसंद का खिलौना छाँटता है और दूसरे बच्चों के साथ खेलने में आनंद लेता है।

(8) दसवाँ माह– शिशु विभिन्न प्रकार की आवाजों और दूसरे शिशुओं की गतियों का अनुकरण करता है एवं अपना खिलौना छीने जाने पर विरोध करता है।

(9) पहला वर्ष– शिशु चार शब्द बोलता है और दूसरे व्यक्तियों की क्रियाओं का अनुकरण करता है।

(10) दूसरा वर्ष– शिशु दो शब्दों के वाक्यों का प्रयोग करता है। वर्ष के अन्त तक उसके पास 150 से 200 शब्दों का भंडार हो जाता है।

(11) तीसरा वर्ष– शिशु पूछे जाने पर अपना नाम बताता है और सीधी या लम्बी रेखा देखकर वैसी ही रेखा खीचने का प्रयत्न करता है।

(12) चौथा वर्ष– शिशु चार तक गिनती गिन लेता है, छोटी और बड़ी रेखाओं में अन्तर जान जाता है, अक्षर लिखना आरम्भ कर देता है और वस्तुओं को क्रम में रखता है।

(13) पाँचवा वर्ष– शिशु हल्की और भारी वस्तुओं एवं विभिन्न प्रकार के रंगों में अन्तर जान जाता है। वह अपना नाम लिखने लगता है, संयुक्त और जटिल वाक्य बोलने लगता है एवं 10-11 शब्दों के वाक्यों को दोहराने लगता है।

प्रश्न 13. किशोरावस्था की प्रमुख समस्याओं का उल्लेख कीजिए। **(उज्जैन 2022)**

उत्तर–किशोरावस्था विकास की जटिल अवस्था है। इसका काल 12 वर्ष से 18 वर्ष तक रहता है। इसमें होने वाले परिवर्तन बालक के व्यक्तित्व के गठन में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। अतः शिक्षा के क्षेत्र में इस अवस्था का विशेष महत्व है। किशोरावस्था बाल्यावस्था की समाप्ति के बाद शुरू होती है और प्रौढ़ावस्था के पहले समाप्त हो जाती है। किशोरावस्था को जीवन का 'बसंत काल' भी कहा जाता है। किशोरावस्था में बालक एवं बालिकाओं का तेजी से विकास होता है। किशोरावस्था को बाल्यावस्था तथा प्रौढ़ावस्था के मध्य का संधि काल कहते हैं।

(1) स्टेनले हाल के अनुसार–"किशोरावस्था बड़े संघर्ष, तनाव, तूफान तथा विरोध की अवस्था है।"

(2) जरशील्ड के अनुसार–"किशोरावस्था वह समय है जिसमें विचारशील व्यक्ति बाल्यावस्था से परिपक्वता की ओर संक्रमण करता है।"

(3) जोन्स एवं **सिम्पसन** के अनुसार–"किशोरावस्था प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में वह काल है, जो बाल्यावस्था के अंत में आरंभ होता है और प्रौढ़ावस्था के आरंभ में समाप्त होता है।"

(4) क्रो एवं **क्रो** के अनुसार–"किशोर ही वर्तमान की शक्ति व भावी आशा को प्रस्तुत करता है।"

किशोरावस्था की समस्याएँ–किशोरावस्था को समस्याओं की आयु कहा गया है। इस अवस्था में स्वयं किशोर बालक–बालिकायें अपने परिवार, विद्यालय, स्वास्थ्य, मनोरंजन, भविष्य, यौन आदि से संबंधित समस्याओं से जूझते हैं। इस अवस्था में किशोर तथा किशोरियों को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उनमें किशोरावस्था की प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं–

(1) स्वतंत्रता की समस्या–किशोरावस्था में आत्म प्रकाशन की भावना बड़ी प्रबल होती है। वे समाज की रूढ़ियों तथा अंधविश्वासों का विरोध करते हैं। वे माता–पिता के बंधन में बँधकर रहना नहीं चाहते। यदि उन पर नियंत्रण लगाया जाता है तो वे विद्रोह करने के लिए तैयार रहते हैं। किशोरों

को घूमना–फिरना, नयी–नयी जगहों पर जाना अत्यधिक पसंद होता है। उन्हें एक स्थान पर बँधकर रहना अच्छा नहीं लगता। जो माता–पिता किशोरों की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को अनुचित रूप से दबाते हैं, उनके बालकों में बेचैनी तथा निराशा उत्पन्न हो जाती है। वे उच्छृंखल एवं घूमंतू हो जाते हैं।

(2) स्थिरता एवं समंजन की समस्या–जिस प्रकार शिशु की मनःस्थिति नहीं होती, उसी तरह किशोर बालक–बालिकाओं में भी अस्थायित्व होता है। उनका व्यवहार बहुत ही परिवर्तनशील होता है। रॉस ने किशोरावस्था को शैशवावस्था का पुनरावर्तन कहा है। शिशुओं की तरह किशोर चंचल होता है। उसे यह भ्रांति होती है कि वह दूसरे व्यक्तियों के आकर्षण का केन्द्र है पर ऐसा हमेशा नहीं होता। शिशु की भाँति उसे अपने चारों तरफ के वातावरण से समंजन करना पड़ता है। वातावरण से संमजन में कठिनाई उसके शारीरिक तथा मानसिक विकास के कारण भी होती है। समंजन की समस्या के कारण कभी–कभी उनका व्यवहार अवांछनीय एवं अशोभनीय हो जाता है।

(3) विरोधी मनोभावों की समस्या–किशोरावस्था में किशोर बालक–बालिकाओं में विरोधी मनोभाव चरमसीमा पर होते हैं। किसी क्षण वे बहुत ही सक्रिय दिखायी देते हैं एवं किसी क्षण अत्यधिक आलसी तथा निष्क्रिय। कभी वे अत्यधिक उत्साह से परिपूर्ण आत्म विरोध के द्योतक होते हैं तथा इसका कारण संवेगात्मक ज्ञान योग का अभाव होता है।

(4) प्रबल जिज्ञासा की समस्या–किशोरावस्था के उत्तरार्द्ध में जिज्ञासा की प्रबलता हो जाती है। अब किशोर बालक–बालिकाएँ प्रौढ़ जीवन विषयक ज्ञान की खोज में लग जाते हैं। इस अवस्था में होने वाले नये–नये परिवर्तन उनकी जिज्ञासा को उद्दीप्त करने का कार्य करते हैं। विपरीत लिंग के लोगों के संबंध में उनकी जिज्ञासा बढ़ती जाती है क्योंकि उनके विषय में प्राप्त होने वाले अनुभव रुचिपूर्ण और आनंददायक होते हैं। किशोरों की जिज्ञासा का उचित समाधान अति आवश्यक है।

(5) आत्म गौरव की समस्या–किशोरावस्था में आत्म गौरव की भावना का विकास होता है। इसका कारण उनके अंदर नवीन दृष्टिकोण का विकास होता है। वे जहाँ भी होते हैं अपना सम्मान चाहते हैं। वे साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परिषदों और कार्यक्रमों में कोई–न–कोई पद प्राप्त करना चाहते हैं, जिससे उनकी आत्म गौरव की भावना की संतुष्टि हो। ऐसा न होने पर वे संघर्ष एवं विद्रोह पर उतारू हो जाते हैं।

(6) आत्मनिर्भरता की समस्या–किशोरावस्था में किशोर आत्मनिर्भर तथा स्वावलंबी बनना चाहते हैं क्योंकि एक तो उन्हें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु धन की आवश्यकता होती है, दूसरे वे यह मानने लगते हैं कि वे अब बड़े हो गये हैं एवं उन्हें माता–पिता पर बोझ नहीं बनना चाहते।

(7) कल्पनाशील क्रियाओं की समस्या–किशोरावस्था में किशोर बालक–बालिकाएँ कल्पना जगत में विचरण करते रहते हैं। वास्तविक संसार से उनका कोई सरोकार नहीं रहता। वे अपना अलग ही कल्पना का संसार संजोये रहते हैं तथा दिवास्वप्नों में खोये रहते हैं। कल्पना के द्वारा वे अपनी अतृप्त इच्छाओं को पूर्ण करने की कोशिश करते हैं। जिन वस्तुओं का उनको अभाव होता है। उनको वे कल्पना के द्वारा पूरा कर लेते हैं।

(8) व्यवसाय चयन की समस्या–किशोरों की एक प्रमुख समस्या व्यवसाय का चुनाव करने की होती है। इस अवस्था में वे अपने लिए उपयुक्त व्यवसाय को चुनने, उसके लिए तैयारी करने, उसमें प्रवेश करने तथा उसमें उन्नति करने के लिए अत्यधिक चिंतित रहते हैं। पर व्यवसाय के संबंध में उनका चिंतन बड़ा अवास्तविक होता है। वे साधारण व्यवसायों को पसंद नहीं करते वरन् ऐसे व्यवसायों को चुनना चाहते हैं जो उनकी योग्यता से बहुत ऊँचे होते हैं।

(9) नैतिक व सामाजिक मूल्यों की समस्या–किशोर बालक–बालिकाओं के सामने नैतिक व सामाजिक मूल्यों की समस्या भी अत्यंत कठिन होती है। वे इन मूल्यों में बँधा हुआ महसूस करते हैं एवं इनको अपनी स्वतंत्रता में बाधक मानते हैं। माता–पिता अध्यापक तथा समाज किशारों से इन मूल्यों का पालन करने की अपेक्षा रखते हैं और किशोर अपनी एवं अपने साथियों की इच्छाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति करना चाहते हैं जिससे इन दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित करने में कठिनाई आती है तथा वे दुविधा में फँस जाते हैं।

प्रश्न 14. विभिन्न प्रकार के विकासों में आपसी सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए। (इंदौर मार्च 2023)

उत्तर–विकास निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है जो सकारात्मक बदलाव की ओर इशारा करती है। एक ऐसा बदलाव जो मानव समाज, देश की प्रकृति को बेहतरी की ओर ले जाता है। विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत रुचियों, आदतों, दृष्टिकोण, जीवन मूल्यों, स्वभाव, व्यक्तित्व, व्यवहार इत्यादि को भी शामिल किया जाता है।

मुनरों के अनुसार–"परिवर्तन शृंखला की वह व्यवस्था, जिसमें बालक भ्रूणावस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक गुजरता है, विकास के नाम से जानी जाती है।"

विभिन्न प्रकार के विकास में आपसी संबंध–

(1) शारीरिक विकास–जन्म से पूर्व ही गर्भावस्था में ही व्यक्ति का शारीरिक विकास प्रारंभ हो जाता है जो एक स्वाभाविक, प्राकृतिक एवं सतत् प्रक्रिया है। जिस पर वातावरण एवं वंशानुक्रम का प्रभाव पड़ता है।

(2) सामाजिक–भावनात्मक विकास – सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल बालकों में व्यवहार करने तथा समायोजन करे की योग्यता का विकास ही सामाजिक विकास कहलाता है। शिशु जन्म से सामाजिक नहीं होता। एक वर्ष के भीतर शिशु माता–पिता को पहचानने लगता है, प्रेम और क्रोध के व्यवहार में अंतर समझने लगता है।

दो और तीन वर्ष की आयु के बीच बालक खेलने के लिए साथी बनाकर उनसे सामाजिक संबंध स्थापित करने लगता है। पाँच या छः वर्ष की आयु में बालक में नैतिक भावना का विकास होता है। बाल्यावस्था में नए वातावरण से अनुकूलन करना व समूह बनाकर या समूह में शामिल होकर सामाजिक गुणों का विकास करता है। किशोरावस्था में मित्रता की भावना का समुचित विकास हो जाता है। इस अवस्था में समूहों का निर्माण, उद्देश्य, पिकनिक, सिनेमा देखना, नृत्य–संगीत द्वारा सामाजिक विकास होता है।

(3) संज्ञानात्मक विकास – संज्ञान का अर्थ होता है–देखना, अवबोधन करना, समझना, अंतर्निहित करना अथवा जानना। इस प्रकार संज्ञानात्मक विकास का तात्पर्य जानने की वृद्धि तथा क्षमता, समयानुसार समझना और अवबोधन करना जो कि परिपक्वता तथा वातावरण के साथ अंतः क्रिया करने से सुसाध्य होता है। संज्ञान में मानसिक प्रतिमानों की संरचना करने की योग्यता समाहित है, जिसमें विचार तर्क, स्मृति और भाषा की भूमिका है।

प्रत्येक व्यक्ति का उसकी प्रेक्षण करने की विशिष्ट रीति के अनुसार उसका खुद का विशिष्ट प्रतिमान होता है। यही एक तरीका है जिससे सीखने वाला अपने चारों ओर के वातावरण के बारे में सीखता है।

(4) भाषा और प्रारंभिक साक्षरता विकास (Language and Early literacy Development)– लगभग सभी लोग एक ही तरीके से अपनी–अपनी भाषा का विकास करते हैं। यह बात अलग है कि

भाषा विकास की गति हर एक की भिन्न–भिन्न होती है। यह माना जाता है कि भाषा सीखने की प्रक्रिया का अभिन्न अंग है, आसपास का वातावरण, प्रकृति की चीजों व लोगों से कार्य व भाषा दोनों के माध्यम से संवाद स्थापित करना है। ऐसी स्थिति में बालक की परिपक्वता की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। भाषा के विभिन्न अंश और उसके प्रयोगों के तरीके बहुत हद तक अनुभव पर निर्भर करते हैं। अनेक भाषाओं के विकास और संप्रेषण प्रक्रियाओं के अनुसार महत्वपूर्ण परिवारों के बीच अंतर करते हैं।

(5) नैतिक विकास (Moral Development) — चरित्र एक अर्जित मानसिक संरचना है जिससे बालक अपनी उस सामाजिक परम्परा के अनुसार व्यवहार करता है जिसके बीच उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। इच्छाशक्ति, मूल प्रवृत्तियाँ, संवेगों, स्थायी भावों और आदतों का नैतिक विकास की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान है। चरित्र का आधार मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं । यह मूल प्रवृत्तियाँ व्यक्ति को जन्म से ही प्राप्त होती हैं। सामान्यत: माध्यमिक विद्यालय स्तर के बालक दूसरे लोगो द्वारा उन नियमों का पालन न करते देख भ्रमित होते हैं जो कुछ लोगों पर लागू होते हैं, परंतु कुछ लोगों पर नहीं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्यक्ति के जीवन में विकास में आपसी सम्बन्ध है तथा वे व्यक्ति को किसी न किसी प्रकार से प्रभावित करते रहते हैं। बालक को जिस प्रकार का सामाजिक, नैतिक, भाषायी वातावरण मिलेगा उसमें वैसे ही गुणों का विकास होगा।

प्रश्न 15. विकास को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों की विस्तृत विवेचना करें।

(जबलपुर 2022)

***अथवा*, बालक के विकास को प्रभावित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए।**

(छतरपुर 2022)

उत्तर– बाल विकास अध्ययनों का मुख्य उद्देश्य सामान्य बालकों के विकास प्रतिमानों का अध्ययन करना है तथा इनके कारणों की जाँच करना है यद्यपि इस दिशा में अनेक अध्ययन हुए है परंतु कुछ अध्ययन प्रारम्भिक विकास अवस्थाओं तथा कुछ अध्ययन अंतिम विकास अवस्थाओं तक हो। गर्भधारण के बाद गर्भस्थ शिशु में वृद्धि (Growth) तक विकास प्रारम्भ होता है। प्राणी में विवृद्धि और विकास के चलते रहने से प्राणी में सक्रियता और उसका जीवन चलता रहता है। वृद्धि और विकास दो अलग–अलग प्रत्यय है। इनके संबंध में कुछ अधिक कहने से पहले इनके अर्थ को समझना आवश्यक होता है।

विकास को प्रभावित करने वाले कारक

बालक के विकास को अनेक कारक प्रभावित करते हैं। इनमें से कुछ कारक स्वतंत्र रूप से बालक के शारीरिक विकास को प्रभावित करते हैं तथा कुछ कारकों की पारस्परिक अन्त: क्रियाएँ बालकों के शारीरिक विकास को प्रभावित करती है। इसी प्रकार से कुछ कारक स्वतंत्र रूप से बालक के मानसिक विकास को प्रभावित करते हैं तथा कुछ कारकों की पारस्परिक अन्त: क्रियाएँ बालकों के मानसिक विकास को प्रभावित करती है। कुछ प्रमुख कारक निम्न प्रकार से हैं

1. वातावरण (Enviroment)– वातावरण में वे सभी बाह्य शक्तियाँ प्रभाव, परिस्थितियाँ आदि सम्मिलित हैं, जो प्राणी के व्यवहार, शारीरिक और मानसिक विकास को प्रभावित करती है। भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार का वातावरण बालक के शारीरिक और मानसिक विकास को प्रभावित करता है। अन्य क्षेत्रों के वातावरण की अपेक्षा बालक के घर का वातावरण उसके विकास को सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रकार से प्रभावित करता है।

2. आहार (Nutrition)– माँ का आहार गर्भकालीन अवस्था के शिशु के विकास को प्रभावित करता है। माँ का आहार जितना अधिक पौष्टिक होता है, उतना ही बालक के स्वस्थ होने की सम्भावना होती है। माँ का आहार बालक के विकास को जन्म के उपरान्त उस समय तक प्रभावित करता है जब तक बालक स्तनपान करता है। इसके बाद बालक स्वयं जो आहार ग्रहण करता है, वह भी बालक के विकास को प्रभावित करता है। आहार की मात्रा की अपेक्षा आहार में विद्यमान तत्व बालक के विकास को अधिक महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करते हैं।

3. रोग (Diseases)– शारीरिक बिमारियाँ बालक के शारीरिक, मानसिक विकास को प्रभावित करती है। बाल्यावस्था में यदि कोई बालक अधिक बीमार रहता है तो उसका शारीरिक और मानसिक विकास अवरूद्ध हो जाता है। यदि उपयुक्त उपचार न किया जाए तो यह अवरूद्धता प्रौढ़ अवस्था तक अपना प्रभाव छोड़ती है। जिन बालकों का सामान्य स्वास्थ्य बना रहता है और उन्हें बीमारियाँ कम से कम रहती है, उनका शारीरिक और मानसिक विकास प्रायः सामान्य गति से चलता है।

4. अन्तः स्त्रावी ग्रंथियाँ (Endocrine glands)– बालक के अंदर पाई जाने वाली ग्रंथी से जो स्त्राव निकलते हैं, वे बालक के शारीरिक व मानसिक विकास पर अपना प्रभाव डालते हैं। पैराथाइराइट ग्रंथी से जो स्त्राव निकलता है, उस पर हड्डियों का विकास निर्भर करता है। साथ ही साथ दाँतों का विकास भी इस ग्रन्थि से संबंधित होता है।

5. बुद्धि (Intelligence)– बालक की बुद्धि भी एक महत्वपूर्ण कारक है जो बालक के शारीरिक, मानसिक विकास को प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। अध्ययनों से स्पष्ट हुआ है कि तीव्र वृद्धि वाले बालकों का विकास मन्द बुद्धि वाले बालकों की अपेक्षा तीव्र गति से होता है दुर्बल बुद्धि वाले बालकों में बैठना, चलना, बोलना, दौड़ना तथा अन्य कौशलों का विकास तीव्र बुद्धि बालकों की अपेक्षा मन्द गति से होता है। तथा विभिन्न विकास प्रतिमान अपेक्षाकृत अधिक आयु स्तरों पर पूर्ण होते हैं।

6. यौन (Sex)– यौन भेदों का भी शारीरिक और मानसिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। जन्म के समय लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा कम लम्बी जन्म लेती है। परंतु वयः सन्धि अवस्था के प्रारम्भ होते ही लड़कियों में परिपक्वता के लक्षण लड़कों की अपेक्षा तीव्र विकसित होने लगते हैं। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों का मानसिक विकास पहले पूर्ण हो जाता है।

प्रश्न 16. विकास पर सहपाठियों के प्रभाव का वर्णन कीजिए। **(छतरपुर 2022)**

उत्तर–बालकों के मित्र समूह द्वारा भी उनके विकास को प्रभावित किया जाता है। जिन बालकों के मित्र नैतिक वातावरण की दृष्टि से विकसित होते हैं, उन बालकों का नैतिक विकास तीव्र गति से होता है, क्योंकि बालक अपने मित्रों से बहुत कुछ सीखता है तथा अपने व्यवहार में परिवर्तन लाता है। इसके विपरीत जिन बालकों के मित्र अनैतिक आचरण में लिप्त पाये जाते हैं उन बालकों पर अपने मित्रों का कुप्रभाव अनिवार्य रूप से होता है और उन बालकों का नैतिक विकास मंद गति से होता है। इसलिए अभिभावक अपने बालकों की मित्र मण्डली का पूर्ण ध्यान रखते हैं, जिससे कि उनके बालकों का संतुलित विकास हो सके। इसलिए बालकों के तीव्र नैतिक विकास की दृष्टि से बालकों का मित्र वर्ग भी नैतिक विकास से परिपूर्ण होना चाहिए।

सामान्यतः बालक की मित्र मण्डली यदि अच्छी होती है तो उसके उसी रूप में विकसित होने की अधिक संभावना होती है, क्योंकि बालक का स्वभाव सदैव इस तथ्य से निर्धारित होता है कि

उसका परिवेश किस प्रकार का है। बालक के विविध क्षेत्रों में होने वाले विकास को उसके सहपाठियों द्वारा प्रभावित किया जाता है।

जैसे–एक बालक सैनिक का पुत्र है। उसके पिता उसे सैनिक ही बनाना चाहते हैं। यदि उसके सहपाठियों मे शिक्षक के बालकों की अधिकता है तथा शिक्षक व्यवसाय को श्रेष्ठ माना जाता है तो वह बालक सैनिक बनने के स्थान पर शिक्षक बन सकता है।

इस प्रकार बालकों के साथियों/सहपाठियों की उसके विकास में महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

विकास पर सहपाठियों का प्रभाव (विशेषताएँ)–

(1) सकारात्मक अहसास, स्वसम्मान, स्व महत्व आदि का विकास होता है।

(2) साथियों की घनिष्ठता एवं निकटता का अनुकूल प्रभाव।

(3) विचार–विमर्श, समस्या समाधान, तर्क क्षमता आदि का विकास।

(4) साथियों के साथ अन्तर्क्रिया करके व्यवहार के मानकों को समझकर अपनाना।

(5) साथियों के प्रति निष्ठा, नियमों का पालन, न्याय, सहनशीलता आदि गुणों का विकास।

(6) अपने विचारों को एक–दूसरे के समक्ष अभिव्यक्ति।

(7) साथियों के साथ स्वतंत्रता के कारण बालक अधिक सक्रिय होते हैं।

प्रश्न 17. संवेगात्मक विकास की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर–संवेग के विकासवादी सिद्धांत के अंतर्गत मुख्य रूप से मनोवैज्ञानिक ब्रिजेज एवं बनहम द्वारा शिशुओं पर किये गये प्रयोग उल्लेखनीय हैं। इन सिद्धांतवादियों के अनुसार, जन्म के समय बालक में किसी प्रकार का संवेग उपस्थित नहीं होता, बल्कि शिशु में केवल सामान्य उत्तेजना ही विद्यमान रहती है। शिशु में संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ तीन माह की अवधि से विकसित होती हैं। इस समय शिशु को कष्ट एवं आनंद की अनुभूति होती है जिसके कारण बालक द्वारा की गयी प्रतिक्रियाओं– रोने, चिल्लाने आदि से माँसपेशीय तनाव की उत्पत्ति होती है। शिशु अपनी पेशीय लोचकता के कारण मुस्कुराने की प्रतिक्रिया करता है।

6 माह की अवधि में कष्ट नामक संवेग से भय, घृणा एवं क्रोध संवेगों की उत्पत्ति होती है। एक वर्ष की अवस्था के शिशुओं में उल्लास एवं वयस्कों के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। डेढ़ वर्ष की आयु में ब्रिजेज के अनुसार बालक में अन्य बालकों के प्रति प्रेम एवं घृणा की उत्पत्ति होती है और दो वर्ष की अवधि में बालक में खुशी (आनंद) संवेग की उत्पत्ति हो जाती है।

इस प्रकार सभी महत्वपूर्ण संवेगों की उत्पत्ति बालक में 2 वर्ष की आयु तक हो जाती है। सभी संवेगों की उत्पत्ति एवं विकास परिपक्वता एवं अधिगम का परिणाम होता है। इन्हीं के आधार पर संवेगों एवं संवेगात्मक व्यवहारों में परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं परिमार्जन होता रहता है।

संवेगों की विशेषताएँ (Characteristic of Emotions)–

(1) तीव्रता–संवेगों में तीव्रता पायी जाती है, इस कारण यह व्यक्ति या बालक में एक प्रकार का तूफान पैदा कर देता है। एक अशिक्षित और शिक्षित व्यक्ति के संवेगों की तीव्रता की मात्रा में अंतर होता है। एक अशिक्षित व्यक्ति की तुलना में एक शिक्षित व्यक्ति संवेगों पर नियंत्रण करना जल्द सीख जाता है।

(2) व्यापकता–संवेग सभी प्राणियों में समान रूप से देखे जा सकते हैं। संवेगों में व्यापकता पायी जाती है। जैसे–बिल्ली में उसके बच्चे को छेड़ने पर, बालकों में उनका खिलौना छीनने पर, व्यक्ति की आलोचना करने पर उसे गुस्सा आ जाता है।

(3) संवेगात्मक संबंध–संवेग का अनुभव किसी निश्चित वस्तु के संबंध में ही किया जाता है। इसका अभिप्राय है कि संवेग की दशा में एक व्यक्ति का किसी दूसरे व्यक्ति, वस्तु या विचार से संबंध होता है।

(4) वैयक्तिकता–सभी व्यक्ति एक संवेग के प्रति पृथक–पृथक प्रतिक्रिया करते हैं। उदाहरण के लिए–किसी भिखारी को देखकर कोई व्यक्ति उस पर गुस्सा करेगा और उसे डाँटकर भगा देगा तो कोई व्यक्ति उसे देखकर द्रवित हो जाता है और उसे भोजन या पैसे देता है।

(5) स्थिरता की प्रवृत्ति–संवेगों में साधारणत: स्थिरता की प्रवृत्ति होती है। जैसे–बाहर डाँट खाकर घर लौटने वाला व्यक्ति अपने बच्चों को डाँटता एवं पीटता है।

(6) पराश्रयी स्वरूप–पराश्रयी स्वरूप को भी हम संवेगों की प्रमुख विशेषता कह सकते हैं क्योंकि पशुओं या व्यक्तियों में जिन संवेगों की अभिव्यक्ति होती है, उसका आधार कोई विशेष प्रवृति होती है।

(7) व्यवहार में परिवर्तन–संवेग आने पर व्यक्ति का व्यवहार बदल जाता है। जैसे–दया से ओत–प्रोत व्यक्ति का व्यवहार उसके सामान्य व्यवहार से बिल्कुल अलग होता है।

(8) शारीरिक परिवर्तन–संवेगों के समय व्यक्ति की शारीरिक दशा में कई परिवर्तन देखे जा सकते हैं। जैसे–डर के समय काँपना, रोंगटे खड़े होना, मुख सूख जाना आदि।

(9) मानसिक परिवर्तन–संवेग की अवस्था में व्यक्ति की मानसिक दशा में भी अनेक परिवर्तन देखे जा सकते हैं।

जैसे–किसी वस्तु या स्थिति का ज्ञान, स्मरण या कल्पना, ज्ञान के कारण सुख–दुख की अनुभूति, अनुभूति के कारण उत्तेजना, उत्तेजना के कारण कार्य करने की प्रवृति उत्पन्न होती है।

(10) विचार शक्ति का लोप–संवेग हमारी विचार शक्ति का लोप कर देता है। इसलिए हम उचित या अनुचित का विचार किये बिना कुछ भी कर बैठते हैं।

उदाहरण–क्रोध के वशीभूत होकर मानव ही मानव की हत्या करने से भी नहीं चूकता।

प्रश्न 18. आपके अनुसार बालक के लालन–पालन की कौन–सी विधि सर्वश्रेष्ठ है, क्यों ?

(इंदौर मार्च 2023)

उत्तर–बच्चे के लालन–पालन की सर्वश्रेष्ठ विधि उनकी आयु, व्यक्तिगत आवश्यकताओं, परिवार के सहयोग, संस्कृति के साथ बदल सकती है। उनके लालन–पालन की निम्न विधियाँ हैं–

(1) प्रेम और स्नेह–बालक को प्रेम व स्नेह से पालना उनके आत्मसमर्पण और स्वाभाविक विकास को प्रोत्साहित करता है।

(2) सुरक्षित और प्रेरणास्पद वातावरण–सुरक्षित और प्रेरणास्पद वातावरण प्रदान करना महत्वपूर्ण है। बच्चे को अपने विश्वास के साथ खेलने और सीखने के लिए स्वतंत्रता मिलनी चाहिए।

(3) सही पोषण–बालक को सही पोषण प्रदान करना अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्हें सभी आवश्यक पोषण सामग्री और संतुलित आहार प्रदान करना चाहिए।

(4) शिक्षा का महत्व–शिक्षा को महत्वपूर्ण मानना और उनके शैक्षिक विकास को समर्थन देना चाहिए।

(5) रुचियों का समर्थन–बालक की रुचियों का समर्थन करना चाहिए। यह उनके स्वाभाविक प्रतिविकल्पों का समर्थन करता है।

(6) संवाद को सुनना—बालक की हर अच्छी या गलत बातों को ध्यान से सुनना चाहिए जिससे उनके विचारों और अभिव्यक्ति का समर्थन हो सके।

(7) संतुष्टि—उनकी संतुष्टि और सुखमय जीवन के लिए खुश रहने के महत्व को समझना चाहिए।

बच्चे के पालन–पोषण की सबसे महत्वपूर्ण बात है कि उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति करें जिससे उनका सर्वांगीण व समुचित विकास हो।

प्रश्न 19. किशोरों की विकासात्मक विशेषताओं का वर्णन कीजिए, संज्ञानात्मक विकास के चरणों के शैक्षिक निहितार्थ की चर्चा कीजिए। **(भोपाल 2022)**

उत्तर—किशोरावस्था में बालक का सर्वांगीण विकास होता है, वह शारीरिक, मानसिक और संवेगात्मक आदि क्षेत्रों में विकास के चर्मोत्कर्ष पर होता है। इसी समय पुरुषत्व एवं नारीत्व संबंधी विशेषताएँ भी प्रकट होने लगती हैं। इसलिए किशोर स्वयं अपने–अपने समूहों में नियंत्रित होते हैं। इसी प्रकार किशोरों तथा किशोरियों की मानसिक क्षमताओं का भी पूर्ण विकास हो पाता है। उनमें बुद्धि की स्थिरता, कल्पना शक्ति का बाहुल्य, तर्क शक्ति की प्रचुरता, विचार में परिपक्वता और विरोधी मानसिक दशाएँ आदि मानसिक विशेषताओं का विकास हो जाता है।

शारीरिक एवं मानसिक विकास के कारण उनके संवेगात्मक विकास पर भी प्रभाव पड़ता है। इस आयु के किशोर एवं किशोरियाँ भावात्मक एवं रागात्मक जीवन व्यतीत करते हैं। वे अपने निश्चय के समक्ष सामाजिक मान्यताओं की भी परवाह नहीं करते हैं क्योंकि उनका मन और तर्क उद्धेगात्मक शक्ति से परिपूर्ण रहता है।

संज्ञानात्मक विकास का शैक्षिक निहितार्थ—संज्ञानात्मक विकास का शैक्षिक निहितार्थ निम्न हैं—

(1) संज्ञानात्मक विकास शिक्षक एवं छात्र दोनों के लिए सहायक है। बालक अपने पाठ्यक्रम तथा पाठ्य–सहगामी क्रियाओं के चयन में निपुण होते हैं। शिक्षक उन्हें शिक्षण–अधिगम प्रक्रिया को आसानी से प्रवाहित कर सकते हैं।

(2) शिक्षक को छात्रों के संज्ञानात्मक विकास को समझकर यह ज्ञात हो जाता है कि छोटे बच्चों को उनके संज्ञानात्मक विकास के अनुसार किस प्रकार पाठ्यक्रम तथा शिक्षण विधियों एवं शिक्षण सामग्री का चयन किया जाये जिससे उनके अधिगम को सरल बनाया जा सके।

(3) संज्ञानात्मक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान होने से उनकी क्षमता के अनुसार पाठ्य–पुस्तकें तैयार करने तथा मूल्यांकन की प्रविधियों के चयन में सहायता मिलती है।

(4) बालक के संज्ञानात्मक विकास के द्वारा ही शिक्षक उनकी विभिन्नताओं का ज्ञान कर उनके अनुकूल शिक्षा का वातावरण, शिक्षा विधि एवं बालकों का वर्गीकरण करने में सफलता प्राप्त करता है। इससे बालकों को अधिगम में सहायता मिलती है।

(5) इसके द्वारा शिक्षक बालक की प्रवृत्तियों का ध्यान रखता है। शिक्षक अपने शिक्षण में बालक की जिज्ञासा, रचना, सामाजिक आदि प्रवृत्तियों को आधार मानकर शिक्षण करता है। ये प्रवृत्तियाँ बालक में विभिन्न क्षेत्रों के प्रति उनकी रूचि को प्रदर्शित करती है। जिसे शिक्षक बल प्रदान कर उनके क्षेत्र विशेष की योग्यताओं में वृद्धि करता है।

(6) अध्यापक बालक के पूर्व संज्ञानात्मक विकास के आधार पर ही आगामी विकास हेतु वास्तविक पदार्थों का प्रयोग कर शिक्षण–अधिगम को उपयुक्त बनाता है। यह विधि छोटे बालकों हेतु अत्यधिक उपयुक्त होती है।

किशोरावस्था की विशेषताएँ–किशोरावस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं–

(1) किशोरावस्था में बुद्धि का अधिकतम विकास होता है।

(2) किशोरावस्था में तर्क, चिंतन और निर्णय शक्ति बढ़ जाती है।

(3) किशोरावस्था में तीव्र शारीरिक परिवर्तन होते हैं।

(4) किशोर कल्पना प्रधान होता है। उसका अधिकांश समय दिवास्वप्न देखने में व्यतीत होता है।

(5) किशोरावस्था में सोचने का तरीका आत्मकेन्द्रित होता है।

(6) इस उम्र के बालकों में विचारों में मतभेद, मानसिक स्वतंत्रता एवं विद्रोह की प्रवृत्ति देखी जाती है।

प्रश्न 20. विकास की विभिन्न अवस्थाओं में गामक विकासक्रम का उल्लेख कीजिए। (रीवा 2022)

उत्तर–गर्भावस्था–गर्भ में आने के कुछ महीनों पहले ही गर्भस्थ जीव का नाड़ी मंडल, माँसपेशियाँ और अन्य अंग भली–भाँति विकसित हो जाते हैं। तीसरे महीने तक उसकी बाँहों तथा टाँगों में गतियाँ होने लगती हैं। सिर के क्षेत्र में अधिक सक्रियता पाई जाती है। गर्भ के भीतर 7 मास की समाप्ति पर गर्भस्थ जीव अनेक क्रियायें करने लगता है। जैसे–सिर और धड़ को घुमाना, छूने पर अपने अंगों को सिकोड़ना और फैलाना और माँ के पेट में इधर–उधर सरकना आदि।

शैशवावस्था–5-6 मास का शिशु अपनी इच्छानुसार अपना सिर दायें–बायें तेजी से घुमाता है। सिर के क्षेत्र में नेत्र की गतिविधि, मुस्कुराना और सिर को ऊपर उठाने की क्रिया का विकास होता है। धड़ के गामक विकास के अन्तर्गत वह करवट लेने और बैठने की शक्ति का विकास करता है। वह पट से चित्त और पट हो जाता है।

16 सप्ताह से 20 सप्ताह तक बिना सहारे के बैठना सीख लेता है। 5 वर्ष में वह वयस्क के समान बैठने लगता है। वह सिर और पैर की माँसपेशियों पर नियंत्रण करना सीखता है। हड्डियों, माँसपेशियों, पैर और धड़ की स्नायु विकसित होने पर वह क्रमशः लुढ़कना, खिसकना, रेंगना, खड़े होना, चलना, दौड़ना, कूदना, फाँदना, चढ़ना–उतरना, तैरना, साइकिल चलाना सीख लेता है।

बाल्यावस्था–शैशवावस्था में बालक की गतियाँ क्रियायें भौंडी असम्बद्ध और असमन्वित होती है। पर बाल्यावस्था में उनमें सुडौलता, क्रमबद्धता समन्वय और ताल बद्धता का समावेश हो जाता है। साथ ही उसमें रफ्तार और सार्थकता आ जाती है। इससे बालक की शक्ति और समय का अपव्यय नहीं होता। इस अवस्था में स्वयं खाने–पीने, वस्त्र पहनने तथा नहाने के कौशल में निखार आ जाता है। बाल सँवारना, गेंद फेंकना और पकड़ना, कूदना, सरपट दौड़, छलांग और तैरना सीख सकते हैं। आँख और हाथ का समन्वय करना बच्चे सीख लेते हैं। पूर्ण कौशल प्राप्त करने में व्यक्तिगत भेद पाये जाते हैं। लड़कियाँ सूक्ष्म कौशल–जैसे कढ़ाई–बुनाई, चित्रकला, आदि में लड़कों से आगे रहती हैं। लड़के साहस के कार्यों, खेलों में लड़कियों से आगे रहते हैं। इस समय वे दायें–बायें दोनों हाथों का प्रयोग करते हैं।

किशोरावस्था–समाज द्वारा स्वीकृत गति संबंधी कौशलों, खेलकूद, नाच तथा सामाजिक क्रियाकलापों में किशोर–किशोरी दिलचस्पी लेते हैं। उनमें कुशलता प्राप्त करके ही वे दम लेते हैं। गत्यात्मक कार्य करने की योग्यता की परिपक्वता लड़कियों में 14 वर्ष और लड़कों में 17 वर्ष में आ जाती हैं। सामाजिक सम्मान प्राप्त होने वाले कौशलों तथा प्रतियोगिता वाले खेल–कूदों में किशोर अधिक रुचि लेने लगता है। किशोरियों की रुचि कम बल वाले खेलों में रहती है। जैसे–नृत्य करना, इस अवस्था में आँख और हाथ का संयोजन चरम सीमा पर होता है।

प्रश्न 21. गामक क्रियाओं के विकासक्रम को विस्तार से समझाइये।

अथवा, **गामक विकास के विभिन्न स्तरों को समझाइये।**

उत्तर—गैसेल, मार्टिन, हरलॉक, थामसंन एवं मेक्ग्रा (1966) के अनुसार— "बालक के गामक विकास का एक निर्दिष्ट क्रम होता है और उसकी एक निश्चित दिशा होती है।" सम्पूर्ण गामक विकास–क्रम को 4 भागों में बाँटा जा सकता है—

1. सिर के क्षेत्र का गामक विकास,
2. भुजाओं तथा हाथों का गामक विकास,
3. धड़ का गामक विकास,
4. पैरों का गामक विकास।

1. सिर के क्षेत्र का गामक विकास—इस विकास के अन्तर्गत नेत्र की गतिविधि, मुस्कुराना, हँसना और सिर को ऊपर उठाने की क्रियाओं का विकास होता है। जन्म के कुछ घण्टे पश्चात् शिशु के आँख की गतिविधि असम्बद्ध रहती है। उस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं रहता। दूसरे महीने के अंत तक वह अपनी दृष्टि किसी स्थिर वस्तु पर केन्द्रित कर सकता है और तीसरे महीने चलती–फिरती वस्तुओं पर अपनी दृष्टि दौड़ा सकता है। **ब्रेंकेनरिज** और **विन्सेन्ट** के अनुसार, 6 वर्ष के पूर्व बालक पूर्ण रूप से दृष्टिनियंत्रण नहीं कर पाता और पढ़ने लायक दृष्टिसंयोजन नहीं हो पाता।

मुस्कुराने की सहज क्रिया एक सप्ताह के शिशु में देखी जा सकती है। यह क्रिया स्नायुविक एवं त्वचीय उत्तेजना के फलस्वरूप हो सकती है। परन्तु 3 माह के पूर्व वह हँसने की क्रिया सामाजिक स्तर पर नहीं कर पाता। **जोंस** के अनुसार, सामाजिक मुस्कुराहट 39 दिन की अवस्था पर आती है। इसी समय पलक–प्रत्यावर्तन की क्रिया का विकास होता है।

ब्रायन के अनुसार— "नवजात शिशु जन्म से 20 मिनट पश्चात् अपना सिर पूरा उठाने में सक्षम होता है। यदि एक महीने के शिशु को लिटाकर सीने और पेट का सहारा दिया जाये तो वह अपना सिर सीधा कर सकता है।"

गैसेल के अनुसार— "6 महीने में शिशु अपना सिर बिना किसी सहारे उठाने में समर्थ होता है। जब गर्दन और माँसपेशियाँ, विकसित हो जाती हैं, तो वह बिना कठिनाई के अपना सिर और गर्दन इधर–उधर घुमाने में समर्थ हो जाता है।"

2. भुजाओं तथा हाथों का गामक विकास—नवजात शिशु अत्यन्त कोमल, असहाय और असमर्थ होता है परन्तु उसकी भुजाओं तथा हाथों में जन्म से ही गति पाई जाती है। जन्म से ही मुट्ठी बाँधने की सहज क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। वह बिना उद्देश्य के ऊटपटांग ढंग से, बाँह, हाथों को आगे–पीछे झटक देता है और अंगुलियों को मनमाने ढंग से खोलता, फैलाता, सिकोड़ता और बंद करता है। कभी–कभी निद्रावस्था में भी ऐसा करता है। जन्म के कुछ समय बाद उसके हाथों में संयोजित गति देखी जाती है। कभी–कभी अपनी जान की रक्षा के लिए अपना हाथ चलाता है। यह एक सहज क्रिया है।

शैरमैन और **शैरमैन के अनुसार—**"दूसरे सप्ताह तक हाथों की यह क्रिया संयोजित हो जाती है।"

पकड़ना—किसी वस्तु को आँख से देखकर उसकी ओर हाथ बढ़ाकर उसे पकड़ना और असफल होना किन्तु ज्योंहि, आँखें और हाथ में समन्वय हो जाता है वह पकड़ने की चेष्टा करता है। पाँचवें महीने तक वह अंगुलियों का उपयोग करने लगता है। 6 महीने की आयु तक शिशु की आँख तथा हाथों में पर्याप्त संयोजन की क्रिया विकसित हो जाती है। अब वह वस्तु को पकड़कर मुँह तक

ले जाता है। सातवें महीने वह अनेक वस्तुओं को पकड़ कर मुँह तक ले जाता है। 9 महीने तक बालक स्वेच्छा से खाने की वस्तु को मुँह तक ले जाता है व 10 महीने तक वस्तु को पकड़ने में सक्षम हो जाता है।

खाना–साल भर में वह अपने प्याले से स्वयं दूध पीने में समर्थ होता है और चम्मच से कुछ उठाकर खा सकता है। **गैसेल** के अनुसार, 2 वर्ष में स्वयं अपने हाथ से खाने लगता है।

वस्त्र पहनना–बालक 3 साल की अवस्था तक कपड़ा पहनने के पूर्व उसे उतार देना सीखता है। **क्रो** के अनुसार, डेढ़ से साढ़े तीन वर्ष की आयु में शिशु में कपड़े पहनने की योग्यता का विकास बड़ी तेजी से होता है। कुर्ता, कमीज, कोट और मोजे पहनना आसानी से सीख लेता है।

बैगनर और आर्मस्ट्रांग के अनुसार– "5 वर्ष का बालक आसानी से बटन खोल व लगा सकता है।"

फेंकना–प्रायः छः माह का बालक हल्के ढंग से वस्तु को फेंकने की कोशिश करता है। 11 महीने तक वह गेंद को अनिश्चित दिशा में लुढ़का सकता है। दूसरे वर्ष वह निश्चित दिशा में गेंद फेंक सकता है।

लिखना–लिखना एक जटिल क्रिया होती है जिसमें हाथ और अंगुलियों का महत्वपूर्ण उपयोग होता है। साथ ही इसके सम्पादन में क्रियात्मक, ज्ञानात्मक एवं भावात्मक पहलू सम्मिलित होते हैं। 2 साल की उम्र का बालक लिखने में असमर्थ रहता है। 2-3 वर्ष की आयु में वह टेढ़ी–मेढ़ी रेखायें खींच लेता है।

हिल्ड्रेथ के अनुसार– "3 वर्ष की अवस्था तक ऊटपटांग ढंग से बच्चा कागज पर कुछ गोदना–गादना सीखता है। चौथे वर्ष तक उसकी लिखावट में कुछ आकार और रूप में निखार होता है। 5 वर्ष तक वह सार्थक अक्षर या शब्द लिखने में समर्थ होता है। 6 वर्ष तक वह सार्थक ढंग से लिखना सीख लेता है।"

हाथ के अन्य कार्य (हस्तिकता)–4 वर्ष की आयु में बालक एक स्थान से दूसरे स्थान तक वस्तुओं को बिना बिगाड़े उठाने तथा रखने में समर्थ होता है। साढ़े चार वर्ष में भोजन की थाली, पानी और गिलास को लाने और अन्य हाथ के छोटे कार्यों को करने में समर्थ होता है।

गैसेल के अनुसार– "पाँच वर्ष के लड़के कागज को मोड़ सकते हैं। कुछ चित्र खींच सकते हैं और संदूक में खिलौनों को एक ढंग से जमा कर रख सकते हैं। कुछ बालकों के बाएँ हाथ की प्रधानता रहती है, परन्तु बाद में वह प्रधानता दाएँ हाथ की ओर चला जाता है। कुछ लोगों की धारणा है कि, बाएँ ओर का मस्तिष्क दाएँ ओर के मस्तिष्क से अधिक प्रभावशाली होता है, इसलिए व्यक्ति दाहिने हाथ वाला होता है। वामहस्तता सामाजिक व्यवस्था, वृहत् मस्तिष्क की प्रधानता, आँख के उपयोग आदि के कारण पाई जाती है। हाथ के साथ–साथ आँख की भी प्रधानता होती है। नवजात शिशु न तो वामहस्त होता है और न ही दक्षिणहस्त। हस्तता वंशानुगत होती है और वह सांस्कृतिक प्रभाव शिक्षण और अभ्यास पर निर्भर रहती है। इस पर माता–पिता और शिक्षक का भी प्रभाव रहता है। वाम–हस्तता को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है।"

3. धड़ का गामक विकास–

करवट लेना–जन्म के उपरांत शिशु जहाँ–तहाँ पड़ा रहता है। करवट बदलने या पीठ के बल उलटने में असमर्थ रहता है। दो महीने में करवट बदलने लगता है, शरीर मुड़ने लगता है। 6 महीने तक वह चित्त या पट्ट हो सकता है पूरा शरीर मुड़ सकता है।

शाल्टन ब्रान्ड के अनुसार– "घूमने से पहले बच्चे के सिर का अंग घूमता है। इसके पश्चात् कंधा, पेट और अंत में झटके के साथ पाँव।"

बैठना—पीठ और कमर की माँसपेशियाँ यथेष्ट रूप से विकसित होने पर शिशु बैठने में समर्थ होता है।

गैसेल और थाम्पसन के अनुसार— "शिशु 16 सप्ताह में बैठने का उपक्रम करता है और 20 सप्ताह तक सहारा पाने पर बैठने लगता है। लड़कियाँ, लड़कों से पूर्व बैठने लगती हैं। 9-10 महीने में बिना सहारे के बैठता है। 2-3 वर्ष में वह हाथ के बल बैठता है। 5 वर्ष में प्रौढ़ व्यक्ति के समान उठने–बैठने लगता है।"

4. पैरों का गामक विकास—बच्चे के चलने का पूर्वाभ्यास भ्रूणावस्था से शुरू होता है। वह अपने पाँव को एक के बाद एक उछालता रहता है। पैरों को फैलाते या उछालते समय पैरों की माँसपेशियों पर नियन्त्रण करना सीखता है। 9 से 15 माह की आयु के बीच हड्डियों, माँसपेशियों और पैर तथा धड़ स्नायु के विकसित होने पर चलने की प्रक्रिया करने लगता है।

लुढ़कना—सर्वप्रथम चलने की गति संबंधी व्यवहार लुढ़कने की क्रिया में दिखाई पड़ता है। इस क्रिया में बालक अपने पैरों तथा हाथों की सहायता से शरीर को आगे बढ़ाने का प्रयास करता है।

खिसकना—इसके बाद वह बैठे–बैठे खिसकने की क्रिया शुरू करता है। जिसमें वह पैरों, भुजाओं या हाथों की सहायता से अपने शरीर को आगे की ओर धकेलता है। बैठे–बैठे खिसकना वह 6 माह में शुरू कर देता है।

रेंगना और घुटने पर चलना—खिसकने की क्रिया के बाद वह हाथ व पैर के बल रेंगने अथवा घुटने के बल चलने की प्रक्रिया करता है। चौथे महीने में इस क्रिया को शुरू कर देता है। सातवें और आठवें महीने तक वह घुटनों में चलने में सक्षम हो जाता है।

खड़ा होना—इस क्रिया के बाद 9-10 महीने तक वह बिना सहारे के खड़े होने का उपक्रम करता है। संतुलन स्थापित करने के पूर्व वह डगमगाता है बाद में वह खड़े होने लगता है।

चलना—अच्छी तरह खड़ा होना सीखने के बाद वह चलने के लिए आगे कदम बढ़ाता है। डेढ़ वर्ष की अवस्था तक वह वयस्क की भाँति चलना प्रारम्भ कर देता है। चलने की प्रारम्भिक अवस्था में उसका पूरा शरीर क्रियाशील रहता है जिससे वह छोटे–छोटे कदम रखता है। वह चलने में प्रवीणता अभ्यास और प्रयत्न के आधार पर प्राप्त करता है। डेढ़ वर्ष से लेकर 6 वर्ष की आयु तक बालक का चलने संबंधी कौशल बढ़ता ही जाता है।

दौड़ना—चलने के पश्चात् वह दौड़ने लगता है। आरम्भ में दौड़ते समय वह बहुधा गिर जाया करता है। 5 वर्ष की अवस्था में उसे दौड़ने में आनन्द आने लगता है।

कूदना—4 वर्ष की अवस्था में वह कूदना सीख लेता है। **गहरिज** के अनुसार, पाँच वर्ष के बच्चे अच्छी तरह कूद सकते हैं। कूदने की क्षमता आयुवृद्धि के साथ बढ़ती जाती है। इसके बाद एक पैर से कूदना एवं छलांग मारना आता है।

चढ़ना—चलने से पहले ही बालक घुटने–घुटने सीढ़ी पर चढ़ना और उतरना सीख लेते हैं। तीन वर्ष की अवस्था तक सभी बालकों को पैर को एक के बाद एक सीढ़ी पर चढ़ाना आ जाता है। चौथे और पाँचवें वर्ष में बालक–बालिकाओं में चढ़ने की योग्यता समान एवं सामान्य रहती है।

तैरना—तैरने की योग्यता, अवसर तथा प्रशिक्षण पर निर्भर रहती है। कुछ बालक 4 वर्ष की अवस्था या उससे पहले ही तैरना सीख लेते हैं। श्वसन क्रिया और हाथ–पैर की गति पर पूर्ण नियंत्रण कर लेने पर तैरना जल्दी आ जाता है।

प्रश्न 22. बालक के शारीरिक गत्यात्मक विकास में खेलों की भूमिका का वर्णन कीजिये।
(म. प्र. 2020)

उत्तर–शारीरिक और क्रियात्मक कौशलों का विकास अभ्यास करने पर निर्भर करता है। खेल ऐसी क्रिया है जो बच्चों को अभ्यास के पर्याप्त अवसर प्रदान करती है। यह घटना इस बात को स्पष्ट करती है। एक माँ जब चार महीने के शिशु के आगे एक झुनझुना रख देती है शिशु का ध्यान झुनझुना की तरफ आकर्षित होता है और वह अपनी पीठ से पेट पर पलट कर उस तक पहुँचने की कोशिश करता है। यह करने के लिए माँसपेशियों का समन्वय जरूरी है। बार–बार झुनझुने तक पहुँचने के प्रयास में शिशु को मिट्टी खाने का अवसर मिलता है और धीरे–धीरे वह आसानी से कर लेता है।

बच्चे जब ईंटों की एक पंक्ति पर चलने की कोशिश करते हैं, दीवार फाँदते हैं, सीढ़ी चढ़ते हैं, झूलों में लटकते हैं, दौड़ने के खेल खेलते हैं, साइकिल की सवारी करते हैं तो उनकी बहुत माँसपेशियों का समन्वय बढ़ता है। खेल–खेल में जमीन में गड्ढे खोदने, फूलों के हार बनाने, चित्र बनाने और उनमें रंग भरने में बच्चों की लघु माँसपेशियों का विकास होता है।

प्रश्न 23. गामक कौशल कितने प्रकार के होते हैं ? प्रत्येक पर टिप्पणी लिखिए।
***अथवा*, सूक्ष्म क्रियात्मक कौशल एवं स्थूल क्रियात्मक कौशल को स्पष्ट कीजिए।**
***अथवा*, गत्यात्मक विकास संबंधी कोई आठ कौशलों के केवल नाम लिखिए।**

उत्तर–गामक कौशल दो प्रकार के होते हैं–

(1) स्थूल गत्यात्मक कौशल एवं (2) सूक्ष्म गत्यात्मक कौशल।

(1) स्थूल गत्यात्मक विकास वे योग्यतायें होती हैं जो शैशवावस्था तथा प्रारंभिक बाल्यकाल के दौरान अर्जित की जाती हैं। जब बच्चा दो वर्ष का होता है तो लगभग सभी बच्चे खड़े होना, दौड़ना तथा सीढ़ी चढ़ना सीख जाते हैं। प्रारम्भिक बाल्यावस्था में ये निर्मित होते हैं, सुधार आता है और फिर ये बेहतर नियंत्रित होते हैं। स्थूल गतियाँ बड़ी माँसपेशीय समूहों से आती हैं और समस्त शरीर को गति प्रदान करती है।

(2) सूक्ष्म गत्यात्मक विकास का संबंध छोटी माँसपेशियों की क्रियाओं से है जो शरीर के विभिन्न अंगों में होती है जैसे उंगलियों में प्रायः इन सबका आँखों के साथ समन्वय होता है। पाँच या छः वर्ष के बच्चे सरल तथा छोटी माँसपेशियों की क्रियाओं में उंगलियों तथा हाथों के समन्वय के लिए तैयार हो जाते हैं जैसे लिखने में, चित्रकारी में, काटने में, सीने–पिराने में, क्राफ्ट में आदि।

प्रश्न 24. गामक विकास का बालक के विकास में क्या महत्व है ?

उत्तर–बालक के जीवन में गामक विकास का विशेष महत्व है–जितना शीघ्र वह अपनी माँसपेशियों तथा गतियों पर नियंत्रण कर पाता है उतना ही शीघ्र वह वातावरण के साथ समायोजन कर पाता है। जैसे–नवजात शिशु प्रायः लेटा रहता है या गोद में रहता है। अतः उसकी गतियों का दायरा सीमित रहता है परन्तु ज्योंहि उसमें गामक विकास होता है वह उठने, कूदने, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना, खेलने में सक्रिय सहभागिता करता है। सभी शारीरिक क्रियायें गामक विकास पर निर्भर होती हैं इससे बालक में आत्मनिर्भरता आती है। गामक योग्यताओं का बौद्धिक क्षमताओं से संबंध रहता है। अन्य बच्चों के साथ खेलकूद करके सामाजिक संबंध स्थापित करते हैं। गामक विकास से सूक्ष्म एवं माँसपेशीय क्रियाओं पर नियंत्रण कर पाता है।

गामक कौशलों से बालक का व्यक्तित्व विकास भी होता है उसकी क्रियात्मक योग्यताओं और विशेषताओं में उनके व्यक्तित्व की झलक मिलती है। संतोषजनक शिक्षाक्रम के लिए गामक विकास को समझना और नियन्त्रण करना बहुत आवश्यक है।

प्रश्न 25. गामक विकास की विशेषतायें लिखिये।

अथवा, **स्थूल गति कौशल की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।** **(म. प्र. 2020)**

उत्तर–गामक विकास की विशेषताएँ–

1. निश्चित क्रम एवं क्रमबद्धता–शरीर की विभिन्न क्रियाओं की योग्यताओं का विकास एक निश्चित अनुक्रम के अनुसार होता है न कि अचानक। शारीरिक क्रियाओं का विकास सिर से प्रारम्भ होकर पैर की ओर होता है।

2. सामान्य से विशिष्ट क्रियाओं की ओर–बच्चों में सबसे पहले सामान्य क्रियायें प्रारम्भ होती हैं।

3. बड़े अंगों से छोटे अंगों की ओर–कोई भी शारीरिक क्रिया करते समय पहले बड़ी माँसपेशियों में गति आती है फिर छोटी माँसपेशियों में।

4. व्यक्तिगत विभिन्नता–गामक विकास एक निश्चित क्रम में होता है परन्तु इसमें व्यक्तिगत विभिन्नतायें पाई जाती हैं जैसे वाहन चलाना कोई बच्चे जल्दी सीख जाते हैं। कुछ बाद में या कुछ सीख नहीं पाते।

5. वृद्धि एवं प्रशिक्षण का योग–गामक विकास में वृद्धि एवं अभ्यास दोनों ही जुड़े होते हैं। आयु के अनुसार बच्चे में परिपक्वता आती है और आयु बढ़ने के साथ ही विशेष प्रकार की क्रिया के सम्पादन में उसे सीखने की आवश्यकता पड़ती है।

6. शारीरिक कौशलों का विकास–बालक में शारीरिक कौशलों का विकास 3-11 वर्ष तक होता है। यह माँसपेशियों पर नियन्त्रण, परिपक्वता, प्रशिक्षण, अवसर, प्रोत्साहन और अनुकरण पर निर्भर है।

7. निकट और दूर वाला विकास–जो अंग प्रधान अंग के जितना निकट रहता है उसका विकास भी पहले होता है, जो अंग दूर रहता है उसका विकास देर से होता है।

8. अभ्यास–क्रियात्मक कौशल प्राप्त करने के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है अन्यथा सीखा हुआ कौशल बच्चे भूल भी जाते हैं।

प्रश्न 26. बच्चे/हम भाषा का उपयोग किन–किन उद्देश्यों के लिए करते हैं ? दो उदाहरण देकर समझाइए।

उत्तर–हममें से कई लोग भाषा को बातचीत का साधन मानने के लिए इतने ज्यादा आदी हो चुके हैं कि हम सोचने, महसूस करने और चीजों से जुड़ने के साधन के रूप में भाषा के उपयोग को अकसर भूल जाते हैं। भाषा के उपयोग का यह बड़ा दायरा उन लोगों के लिए बेहद महत्वपूर्ण है जो छोटे बच्चों के साथ काम करना चाहते हैं।

बच्चे/हम भाषा का उपयोग विभिन्न उद्देश्यों के लिए करते हैं, जैसे–

(1) दूसरों के क्रियाकलाप और ध्यान का संचालन–भाषा के इस उपयोग से माता–पिता और अध्यापक के रूप से हम अच्छी तरह परिचित हैं क्योंकि हमारा बहुत–सा समय बच्चों की माँगों को पूरा करने में लगता है। अक्सर हम शारीरिक किस्म की माँगों के प्रति सचेत रहते हैं, पर दूसरी तरह की माँगें–जिनमें दिमागी और दिली माँगें शामिल हैं भी महत्वपूर्ण हैं। बच्चे अजीब या आकर्षक चीजों की ओर ध्यान खींचने के लिए भाषा का उपयोग करते हैं। उन्हें यह उम्मीद रहती है कि जिस चीज ने उनका ध्यान खींचा है वह उनकी बात सुनने वाले का ध्यान भी खीचेंगी।

(2) समझाना–बच्चों की बात का मकसद कई बार यह बताना होता है कि कोई चीज कैसे हुई। उदाहरण के तौर पर यदि आप एक बच्चे से पूछें कि बारिश कैसे हुई तो शायद वह आपको बताएगा कि पहले आसमान काले बादलों से घिर गया, फिर छोटी–छोटी बूँदें टपकने लगीं, फिर

बारिश हुई जो बाद में इतनी तेज हो गई कि कोई चीज दिखाई तक न दे। घटनाक्रम बताकर बच्चा यह समझाता है कि एक बड़ी घटना कैसे घटी।

प्रश्न 27. तर्क देकर समझाइए कि "भाषा संस्कृति का हिस्सा है।"

उत्तर–भाषा एक प्रतीकों का व्यवस्थित ढाँचा है। इस व्यवस्था में बने प्रतीकों का कुछ मान्य अर्थ होता है। इन प्रतीकों से बनी भाषा द्वारा ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सांस्कृतिक विचार व धरोहर संचारित होती है। भाषा के द्वारा समाज के लोग एक–दूसरे से बातचीत कर सकते हैं। यह संस्कृति का एक अहम हिस्सा है। भाषा इंसान की मदद करती है कि वह एक–दूसरे को बता सके कि उनका क्या अनुभव रहा है, वे क्या अनुभव कर रहे हैं और उनकी भविष्य को लेकर क्या योजनाएँ हैं। संस्कृति की तरह ही, भाषा इंसान के पैदा होने से पहले ही उपस्थित रहती है और सभी लोग इसे आपस में सामूहिक रूप से बाँटते हैं। अमेरीका में पैदा होने वाला बच्चा अँग्रेजी भाषा के सम्पर्क में आता है, रूस में पैदा होने वाला रूसी के। इस तरह भाषाएँ अलग–अलग समाजों में प्रतीकात्मक समझ के लिए एक संदर्भ प्रदान करती हैं। इस मायने में भाषा संस्कृति का हिस्सा है जो इंसान को अनुभवातीत करता है। भाषा के बिना लोगों को संस्कृति संचारित करने में परेशानी होगी। संस्कृति के बिना मानव अपनी अद्वितीय मानवता खो देंगे।

प्रश्न 28. "भाषा बच्चों के व्यक्तित्व विकास पर सीधा असर डालती है।" समझाइये।

उत्तर–भाषा बच्चों के व्यक्तित्व विकास पर सीधा असर डालती है। बच्चों के जीवन में भाषा की विभिन्न जिम्मेदारियों की इस चर्चा से एक बात स्पष्ट होती है कि भाषा एक बेहद लचीला माध्यम है हम उसे जीवन की किसी भी परिस्थितियों के अनुसार ढाल सकते हैं। हम उसे अपनी जरूरत के अनुसार ढाल कर हर परिस्थिति को भी अपने अधीन और अनुकूल बना लेते हैं, रोजाना की जिन्दगी में इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं। जब हम किसी से नाराज होते हैं तो अपने गुस्से को प्रगट करने के लिए शब्द व स्वर चुनते हैं जो परिस्थिति पर हमारी इच्छा के अनुसार असर डाले। लड़ने की इच्छा हो तो हम बड़े शब्द का प्रयोग करते हैं मामलों को शांत करना हो तो नर्म शब्दों का प्रयोग करते हैं। धीमी स्वर से भी काम चला सकते हैं जिससे बच्चों में विकास अविरल होता रहे। भाषा बच्चों का व्यक्तित्व, उसकी दृष्टि, क्षमताओं, मनोवृत्तियों, रुचियों और मूल्यों को प्रभावित करती है। क्योंकि बच्चा भाषा द्वारा रचे गए वातावरण में जीता और बड़ा होता है। जिसके द्वारा बच्चों में शारीरिक विकास, बौद्धिक विकास एवं व्यक्तित्व का विकास होता है।

प्रश्न 29. किशोरावस्था की प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।

(छिन्दवाड़ा 2021, 22; जबलपुर 22)

उत्तर–किशोरावस्था मानव की जन्म उपरान्त विकास की तृतीय अवस्था है, जो बाल्यावस्था की समाप्ति के उपरान्त प्रारंभ होती है तथा प्रौढ़ावस्था के प्रारंभ होने तक चलती है। किशोरावस्था 13 से 19 वर्ष तक की आयु को माना गया है। परन्तु व्यक्तिगत विभिन्नता जलवायु आदि के कारण किशोरावस्था में कुछ अंतर पाया जाता है।

किशोरावस्था को अंग्रेजी में **ऐडोलेसेन्ट** (Adolescent) कहते हैं, जो लैटिन भाषा के **ऐडोलिसियर** से लिया गया है। जिसका अर्थ होता है 'परिपक्वता की ओर बढ़ना'। अत: किशोरावस्था वह अवस्था है, जिसमें बालक परिपक्वता की ओर अग्रसर होता है।

हॉल ने किशोरावस्था को संघर्ष, तनाव तथा तूफान की अवस्था भी कही है। संवेगात्मक उथल–पुथल के कारण कुछ मनोवैज्ञानिक इसे **समस्यात्मक अवस्था** भी कहते हैं।

किशोरावस्था की विशेषताएँ–

1. शारीरिक विकास–(1) इस अवस्था को शारीरिक विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण काल माना जाता है।

(2) इस अवस्था में किशोर एवं किशोरियों में कुछ दाढ़ी–मूँछ निकलना, आवाज भारी होना, किशोरियों में मुँहांसे निकलना, वक्षस्थल व कूल्हे विकसित होना आदि कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं, अर्थात् किशोर पुरूषत्व की ओर एवं किशोरियाँ नारीत्व की ओर अग्रसर होती हैं।

2. मानसिक विकास–(1) इस अवस्था में कल्पना, स्मृति, दिवास्वप्नों की क्रिया अधिक होती है।

(2) तर्क शक्ति, निर्णय लेने की क्षमता अधिक विकसित हो जाती है।

(3) किशोर सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं में रुचि लेने लगते हैं।

3. स्थिरता तथा समायोजन का अभाव–किशोरावस्था में इनकी मनःस्थिति अस्थिर होती है, इनके व्यवहार में बहुत तेजी से परिवर्तन होते हैं। इनके विचार क्षण–क्षण में परिवर्तित होते हैं। परिणामतः वे अन्य व्यक्तियों तथा वातावरण के साथ समायोजन करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं।

4. व्यवहार में विभिन्नताएँ–इस अवस्था में हर संवेग अपनी पराकाष्ठा पर होता है। इस अवस्था में किशोर–किशोरियों में असंभव एवं असाधारण कार्य करने की प्रबल क्षमता होती है। भिन्न–भिन्न अवसरों पर उनके व्यवहार भिन्न–भिन्न दिखाई देते हैं व कभी तो अदम्य उत्साह से पूर्ण तो कभी बिल्कुल हतोत्साहित दिखाई देते हैं।

5. घनिष्ठ मित्रता– इस अवस्था में मित्रों की अहम भूमिका होती है। इस अवस्था में किशोर–किशोरियों के कुछ घनिष्ठ मित्र होते हैं जिनके लिए उनमें बहुत ही लगाव तथा आत्मीयता होती है।

6. स्वतंत्रता एवं विद्रोह की भावना–किशोरावस्था में स्वतंत्रता की भावना अत्यंत प्रबल होती है। किशोर–किशोरियाँ अपने बड़ों के आदेशों, परिवार व समाज की परम्पराओं को सहज ही स्वीकार नहीं करते हैं। वे अपना जीवन स्वतंत्र व्यतीत करना चाहते हैं। बिना तर्क के किसी बात को स्वीकार नहीं करते हैं।

7. स्वाभिमान की भावना–इस अवस्था में स्वाभिमान एवं आत्मगौरव की प्रबल भावना होती है, वे छोटी–छोटी बातों को अपने स्वाभिमान से जोड़ लेते हैं।

8. अपराध प्रवृत्ति का विकास–इच्छापूर्ति में बाधा, निराशा, असफलता, प्रेम का अभाव, नवीन अनुभवों की ललक आदि के कारण किशोरों में अपराध प्रवृत्ति की भावना विकसित होती है।

9. व्यवसाय की चिन्ता–यह उम्र न तो बचपन वाली शांति देती है और न ही प्रौढ़ावस्था वाली स्थिरता। इस अवस्था में बालक अपने भविष्य को लेकर चिंतित रहता है, कौन–सा व्यवसाय चुने, अपने भविष्य को कैसे संवारें इस उधेड़–बुन में उलझा रहता है।

ये सारी किशोरावस्था की कुछ विशेषताएँ हैं जिससे कुछ बातें स्पष्ट होती है कि यह अवस्था मुख्य रूप से बालक के जीवन का (Turning Point) होता है।

प्रश्न 30. किशोरावस्था में आने वाली समस्याओं के समाधान में एक शिक्षक की क्या भूमिका होती है ?

***अथवा*, किशोरावस्था के बालकों के लिए शिक्षक का दायित्व स्पष्ट करें।**

उत्तर—एक शिक्षक पर बहुत बड़ा दायित्व होता है कि वो कैसे बालक को इस अवस्था में सही मार्गदर्शन करें एवं उनकी समस्या के समाधान में बालक की सहायता करें। शिक्षक को निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए ताकि वो अपनी भूमिका का उत्तम तरीके से निर्वाह कर सके—

(1) उनकी (बालकों के) प्रत्येक समस्या को ध्यानपूर्वक एवं प्रेम से सुने और उनका सही समाधान उन्हें बतायें।

(2) बालकों को ऐसे शैक्षिक कार्य दें जिनमें वे मानसिक रूप से व्यस्त रहें, क्योंकि सबसे बड़ी उलझन तो मन एवं मस्तिष्क की ही होती है।

(3) बालकों को उनकी रुचि के रचनात्मक कार्य करने के अवसर प्रदान करें।

(4) बालकों को समाज का महत्वपूर्ण अंग होने का विश्वास दिलायें।

(5) बालकों को उत्तरदायित्व के कार्य सौंपें।

(6) किसी भी बात को सामने रहस्य रूप में न रहने दें।

(7) आवश्यकतानुसार उन्हें यौन शिक्षा (Sex Education) उपलब्ध करायें।

(8) शिक्षक स्वयं भी उनके सामने आदर्श चरित्र का प्रदर्शन करें क्योंकि इस उम्र में बालक अपने शिक्षक से बहुत प्रभावित होते हैं।

(9) बालकों को स्वतंत्र रूप से उनके विचार व्यक्त करने का अवसर प्रदान करें।

(10) बालकों को नैतिकता की अप्रत्यक्ष शिक्षा प्रदान करें।

(11) आवश्यकता अनुसार बालकों के साथ एक विश्वासी मित्र की भूमिका अदा करें।

यह बहुत विचित्र अवस्था है, इसमें बालक कभी तो फूलों की तरह नाजुक प्रतीत होता है, तो कभी पत्थर की तरह कठोर परन्तु एक शिक्षक मनोविज्ञान के ज्ञान से इतना समर्थ हो जाता है कि किशोरावस्था की प्रचुर ऊर्जा को सकारात्मक दिशा में मोड़ सकता है।

प्रश्न 31. मानव विकास को प्रभावित करने वाले कारकों की व्याख्या कीजिए।

(छिंदवाड़ा 2021; भोपाल 22)

उत्तर—मानव विकास क्रम को प्रभावित करने वाले अनेक तत्व होते हैं। इन तत्वों द्वारा विकास को गति प्राप्त होती है तथा ये तत्व विकास को नियंत्रित भी रखते हैं। यहाँ उन तत्वों पर संक्षिप्त में विवरण दिया गया है। ये इस प्रकार हैं—

1. वंशानुक्रम—बालक का विकास वंशानुक्रम से उपलब्ध गुण एवं क्षमताओं पर निर्भर रहता है। गर्भाधान करने के साथ ही बालक में पैतृक कोषों का आरंभ हो जाता है तथा यहीं से बालक की वृद्धि एवं विकास की सीमाएँ सुनिश्चित हो जाती हैं। ये पैतृक गुण पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं। बालक के कद, आकृति, बुद्धि, चरित्र आदि भी वंशानुक्रम संबंधी विशेषताएँ प्रभावित करती हैं।

2. वातावरण—वातावरण भी बालक के विकास को प्रभावित करने वाला तत्व है। वातावरण के प्रभाव स्वरूप व्यक्ति में अनेक विशेषताओं का विकास होता है। अच्छे वातावरण में बालक का विकास वांछित दिशा में होता है तथा गलत वातावरण में बालक के विकास पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

3. बुद्धि—मनोवैज्ञानिकों द्वारा अध्ययन करने पर यह पाया गया है कि कुशाग्रबुद्धि वाले बालक का शारीरिक एवं मानसिक विकास मन्दबुद्धि वाले बालकों की अपेक्षा अधिक तेजी से होता है।

4. लिंग—बालकों के शारीरिक एवं मानसिक विकास में लिंग–भेद का प्रभाव भी पड़ता है। जन्म के समय बालकों का आकार बड़ा होता है किन्तु बाद में बालिकाओं में शारीरिक विकास की गति तीव्र होती है।

5. भयंकर रोग एवं चोट—लम्बी बीमारी, भयंकर रोग एवं चोट आदि बालक के विकास पर नकारात्मक प्रभाव डालते हैं।

6. उचित पोषाहार—शोध द्वारा ज्ञात होता है कि कुपोषण से बालक का विकास अवरुद्ध होता है एवं उचित एवं पोषित आहार से बालक के विकास की दर बढ़ती है।

7. अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ (Endocrine Glands)—बालक के शरीर में बहुत–सी अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ होती हैं, जिनका प्रभाव उसके विकास पर पड़ता है, जिनसे विशेष प्रकार के रसों व हॉर्मोन्स का स्राव होता है, जैसे—गल ग्रंथि (Thyroid Gland) से निकलने वाले हॉर्मोन्स से बालक के कद पर प्रभाव पड़ता है, अन्यथा बालक का कद बहुत अधिक प्रभावित होता है।

प्रश्न 32. "किशोरावस्था भीषण तनाव, तूफान और संघर्ष की अवस्था है।" इस कथन की विवेचना कीजिए। **(इन्दौर मार्च 2023)**

***अथवा,* किशोरावस्था को जीवन का सबसे कठिन काल क्यों कहते हैं ?**

(जबलपुर 2021; छतरपुर 22)

उत्तर—स्टेनले हॉल ने अपनी पुस्तक **'Adolescence'** में उन्होंने किशोर काल का वर्णन एक ऐसे समय के रूप में किया है जो कि बहुत जटिलतापूर्ण, तनावपूर्ण व संघर्षपूर्ण है। सन् 1992 में **'Atlantic Monthly'** के **Volume 129** में छपे एक शोध पत्र में उन्होंने लिखा है कि किशोरावस्था हलचल की अवस्था है। इस अवस्था में आन्तरिक दबाव एवं बाह्य परिस्थितियाँ दोनों ही किशोर के मन को प्रभावित करती हैं। इस आयु में माता–पिता/अभिभावक भी किशोरों को न बच्चा समझते हैं और न बड़ा। यही कारण है कि इस दौर में जब किशोर स्वतंत्र रहना चाहता है तो उसे अक्सर मना किया जाता है। प्रायः यह कहा जाता है कि "बच्चे हो बच्चे जैसे रहो"। परन्तु दूसरे ही क्षण, जब किशोर उनके मनोनुकूल कार्य नहीं करता तो कहा जाता है कि "अब तुम बच्चे नहीं रह गये हो"। इसलिए इस कार्य को पूरा करना तुम्हारी जिम्मेदारी है। विरोधाभास की यह स्थिति किशोरों में अन्तर्द्वन्द की स्थिति को जन्म देती है। बालक यह नहीं समझ पाते कि उनके लिए क्या सही है और क्या गलत है।

उपयुक्त शिक्षा न मिल पाने से किशोर के मन में अनेक प्रश्न उठने लगते हैं जो उनके कोमल मन में तनाव व संघर्ष की स्थिति उत्पन्न करते हैं। इसीलिए प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक **स्टेनले हॉल** ने किशोरावस्था को संघर्ष, तनाव और तूफान तथा विरोध की अवस्था माना है।

उम्र के इसी दौर में हिंसा, चोरी, लूटपाट की घटनाएँ भी पायी जाती हैं। बहुधा इसका कारण उच्च महत्वाकांक्षा, ईर्ष्या और क्षमता से अधिक अपेक्षा का पाया जाना है। पालक अति महत्वकांक्षी होने के कारण अपने बच्चों से ढेरों अपेक्षाएँ रखते हैं, बच्चे भी आशान्वित रहते हैं और असफल होने पर आत्महत्या अथवा घर से भागने जैसा अविवेकी कदम उठा लेते हैं।

अतः प्रत्येक माता–पिता/अभिभावक, शिक्षक एवं समाज के हर जिम्मेदार नागरिक को किशोरों की मनोदशा एवं समस्याओं को समझना चाहिए तभी उनके व्यक्तित्व का संतुलित विकास हो सकेगा और वे जीवन को सही नजरिये से देख सकेंगे

प्रश्न 33. किशोरावस्था में शारीरिक विकास की प्रमुख विशेषताऐं लिखिए। (रीवा 2017, 22)

उत्तर—किशोरावस्था में आन्तरिक तथा बाह्य विकास काफी तेजी से होता है। इन्हीं परिवर्तनों के फलस्वरूप ही किशोर–किशोरियों के व्यक्तित्व में एक विशेष प्रकार का विकास होता है। किशोरावस्था में होने वाले शारीरिक परिवर्तन अग्रलिखित हैं—

1. लम्बाई (Length)—इस अवस्था में बालक एवं बालिकाओं की लम्बाई बहुत तेजी से बढ़ती है। आयु अनुसार बालक एवं बालिकाओं में लम्बाई की गति भिन्न–भिन्न होती है। 12 वर्ष की अवस्था में बालिकाओं की औसत लम्बाई 139·2 से.मी. और बालकों की औसत लम्बाई 138·3 सेमी. होती है। परन्तु 18 वर्ष की अवस्था तक पहुँचते–पहुँचते बालकों की औसत लम्बाई बालिकाओं की औसत लम्बाई की अपेक्षा बहुत तीव्रता से बढ़ती है।

2. भार (Weight)—इस अवस्था में बालक–बालिकाओं के भार में भी काफी वृद्धि होती है। किशोरों और किशोरियों का भार तीव्र गति से बढ़ता है। 12 वर्ष से 14 वर्ष तक की अवस्था में बालिकाओं का औसत भार बालकों के औसत भार की अपेक्षा अधिक होता है।

3. सिर तथा मस्तिष्क (Head and Brain)—इस अवस्था में सिर तथा मस्तिष्क का विकास शरीर की अपेक्षा मन्द गति से होता है। लगभग 16 वर्ष की अवस्था तक सिर व मस्तिष्क का विकास पूर्ण रूप से हो जाता है। पूर्ण विकसित मस्तिष्क का भार प्रायः 1200 ग्राम से 1400 ग्राम के मध्य में होता है।

4. हड्डियाँ (Bones)—इस अवस्था में हड्डियों का लचीलापन समाप्त हो जाता है। हड्डियों में मजबूती एवं अस्थिकरण (Ossification) की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। इस अवस्था में कुछ छोटी हड्डियाँ एक–दूसरे से जुड़ जाती हैं। अतः हड्डियों की संख्या भी कम हो जाती है। प्रौढ़ व्यक्ति में कुल 206 हड्डियाँ होती हैं।

5. दाँत (Teeth)—किशोरावस्था में प्रवेश करने के साथ अर्थात् 13 वर्ष तक स्थायी दाँत निकल आते हैं। बालकों की अपेक्षा बालिकाओं के स्थायी दाँत पहले निकल आते हैं। दाँत, चेहरे की आकृति में स्थायित्व लाते हैं और उन्हें सुन्दर बनाते हैं।

6. हाथ व पैर (Hand and Foot)—किशोरावस्था में बालकों के पैर लम्बे और सीधे हो जाते हैं तथा बालिकाओं के पैर अन्दर की ओर कुछ झुकाव ले लेते हैं। भुजायें भी लम्बी होने लगती हैं।

7. हृदय गति (Heart rate)—शैशवावस्था की तुलना में बाल्यावस्था में हृदय के धड़कनों की गति कम हो जाती है। 18 वर्ष के बालकों का हृदय प्रति मिनट 85 बार धड़कता है।

उक्त समस्त विकास के द्वारा बाल्यावस्था के अन्त तक मानव शरीर एक निश्चित आकार लेना शुरू कर देता है जो किशोरावस्था में लगभग पूर्ण हो जाता है।

8. माँसपेशियाँ (Muscles)—इस अवस्था में माँसपेशियों का विकास बहुत तेजी से होता है। 16 वर्ष की अवस्था तक माँसपेशियों का भार शरीर के कुल भार का 44% होता है। हृदय की धड़कन भी 1 मिनट में 70-72 बार होने लगती है। माँसपेशियों के गठन में पहले की अपेक्षा दृढ़ता आ जाती है।

9. अन्य अंग (Other Organs)—किशोरावस्था में बालक–बालिकाएँ शारीरिक रूप से परिपक्व हो जाते हैं। इस अवस्था के अंत तक बालक–बालिकाओं की सभी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का विकास पूर्ण हो जाता है। किशोरों में कंधे चौड़े, मुख पर दाढ़ी और मूँछ आने लगती हैं। किशोरियों में वक्षस्थल तथा कूल्हों में परिवर्तन होने लगता है। किशोर और किशोरियों में प्रजनन अंगों का पूर्ण विकास हो जाता है। थायरॉइड ग्रंथि के सक्रिय होने से लड़कों की आवाज में भारीपन तथा लड़कियों की आवाज में कोमलता और मृदुलता आ जाती है। इस अवस्था में उनकी बीमारियों से लड़ने की क्षमता का भी विकास होता है।

प्रश्न 34. शैशवावस्था की प्रमुख विशेषताएँ बताइये। **(छतरपुर 2021)**

उत्तर—सामान्यतः शिशु के जन्म के बाद प्रथम 6 वर्ष की आयु उसकी शैशवावस्था कहलाती है, जो मानव की सर्वप्रथम तथा सबसे महत्वपूर्ण अवस्था है। इस अवस्था को मानव जीवन की आधार-शिला के रूप में देखा जाता है।

शैशवावस्था के महत्व के संबंध में कुछ विद्वानों के विचार निम्न हैं—

ऐडलर के अनुसार—"बालक के जन्म के कुछ माह बाद ही यह निश्चित किया जा सकता है कि जीवन में उसका क्या स्थान है।"

स्ट्रैंग के अनुसार—"जीवन के प्रथम दो वर्षों में बालक अपने भावी जीवन का शिलान्यास करता है, यद्यपि किसी भी आयु में उसमें परिवर्तन हो सकता है, पर प्रारम्भिक प्रवृत्ति और प्रतिमान सदैव बने रहते हैं।"

शैशवावस्था की विशेषताएँ—

1. शारीरिक विकास की तीव्रता—इस अवस्था में शिशु का शारीरिक विकास बहुत तीव्र गति से होता है, विशेषतः जन्म से 3 वर्ष की अवस्था में 1 वर्ष के भीतर ही शिशु की हड्डियाँ, माँसपेशियाँ एवं अन्य अंग इतने विकसित हो जाते हैं कि वह उठने, बैठने व खड़े होने में समर्थ हो जाता है। बालक के भार एवं लम्बाई में भी वृद्धि होती है।

2. मानसिक शक्तियों का तीव्र विकास—शैशवावस्था में बालक की मानसिक शक्तियाँ, संवेदना, ध्यान, कल्पना, प्रत्यक्षीकरण आदि का विकास बहुत तीव्र गति से होता है। तीन वर्ष की अवस्था तक बालक की लगभग सभी मानसिक शक्तियाँ कार्य करने लगती हैं।

3. सीखने की प्रक्रिया में तीव्रता—प्रारम्भिक वर्षों में बालक के सीखने की प्रक्रिया में बहुत तीव्रता होती है क्योंकि बालक बहुत अधिक जिज्ञासु होता है।

4. काल्पनिक जगत में विचरण—शैशवावस्था में बालक सत्य व असत्य में पूर्णतः भेद नहीं कर पाता है तथा उसमें अपने वातावरण को नियंत्रित करने की क्षमता भी नहीं होती है। परिणामतः यह काल्पनिक जगत में विचरण करने लगते हैं। तथा बालक सिनेमा या नाटक की नकल करते पाये जाते हैं।

5. परनिर्भरता—जन्म के बाद शिशु दूसरों पर ही निर्भर रहता है, कुछ भी स्वयं नहीं कर सकता। भोजन एवं अन्य आवश्यकताओं के लिए भी वह दूसरों पर ही आश्रित होता है।

6. जिज्ञासा की प्रवृत्ति—इस अवस्था में शिशु की जिज्ञासा की प्रवृत्ति बहुत तेज होती है। वह प्रत्येक खिलौने को अनेक प्रकार से खेलने, फेंकने, तोड़ने आदि की क्रियाएँ करता है। इन क्रियाओं के माध्यम से वह अपनी जिज्ञासा शान्त करना चाहता है तथा वह प्रत्येक वस्तु के विषय में अधिक जानना चाहता है।

7. मूल प्रवृत्तियों पर आधारित व्यवहार—शैशवावस्था में बालक के अधिकतर व्यवहार एवं कार्य मूल प्रवृत्तियों पर आधारित होते हैं, जैसे—भूख लगने पर वह पास में पड़ी हुई किसी भी चीज को मुँह में रख लेता है।

8. आत्म-प्रेम की भावना—इस आयु में बालक स्वकेन्द्रित होते हैं और केवल अपने बारे में सोचते हैं। इस अवस्था में बालक के अन्दर स्वप्रेम की भावना होती है।

9. नैतिकता का अभाव—इस अवस्था में बालकों में नैतिकता का अभाव होता है। उन्हें उचित या अनुचित, अच्छी या बुरी, सही या गलत का ज्ञान नहीं होता है। वह वही करता है जिसे करके उन्हें स्वयं को आनंद मिलता है।

10. अनुकरण करने की प्रवृत्ति—शैशवावस्था में अनुकरण करने की प्रवृत्ति बहुत प्रबल होती है। बालक अपने माता–पिता, भाई–बहन का अनुकरण करता है। इस अवस्था में मानसिक विकास एवं भाषा विकास का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत अनुकरण ही है।

प्रश्न 35. किशोरावस्था के प्रमुख विकासात्मक कार्यों का वर्णन कीजिए। शिक्षा के लिए विकासात्मक कार्यों का औचित्य भी बताइए।

उत्तर—किशोरावस्था बालक के विकास की सर्वोत्तम अवस्था है। इस अवस्था में 13 से 19 वर्ष तक की आयु के बालक आते हैं। इस अवस्था में बालक का शारीरिक तथा मानसिक विकास चरम पर होता है। इसीलिए इस अवस्था में किशोरों के लिए निम्नलिखित विकासात्मक कार्य निर्धारित किये गये हैं—

(1) उचित पुरुषोचित (Masculine) या स्त्रियोचित (Feminine) सामाजिक भूमिकाएँ सीखना।

(2) दोनों यौन की समान उम्र के साथियों के साथ नया एवं एक परिपक्व संबंध कायम करना।

(3) माता–पिता तथा अन्य वयस्कों से हटकर एक सांवेगिक स्वतंत्रता कायम करना।

(4) किसी व्यवसाय का चयन करना तथा उसके लिए अपने आपको तैयार करना।

(5) जीवन की प्रतियोगिताओं के लिए आवश्यक संप्रत्यय तथा बौद्धिक कुशलताओं को सीखना।

(6) पारिवारिक जीवन तथा शादी/विवाह हेतु स्वयं को तैयार करना।

(7) सामाजिक रूप से उत्तरदायी व्यवहार का निर्धारण करना तथा उसे प्राप्त करने की भरपूर कोशिश करना।

(8) आर्थिक स्वतंत्रता की प्राप्ति की ओर अग्रसर होना।

हैविगहर्स्ट ने, किशोरावस्था के लिए उक्त विकासात्मक कार्य तैयार किये हैं जिनकी विवेचना से शिक्षक, माता–पिता और अन्य वयस्कों को बालकों के व्यवहारों को समझने तथा उससे किस तरह के व्यवहार की उम्मीद की जा सकती है का निर्धारण करने में काफी सहायता मिलती है। शिक्षा के लिए विकासात्मक कार्य के निम्नलिखित औचित्य हैं—

(1) इन विकासात्मक कार्यों से बालकों को मार्गदर्शन हेतु निर्देशन देने में शिक्षकों एवं पालकगण को विशेष सहायता मिलती है।

(2) इनसे शिक्षकों एवं अभिभावकों को यह जानकारी रहती है कि किस अवस्था में बालक क्या सीख सकते हैं अथवा उन्हें क्या सीखना चाहिए।

(3) इनसे बालकों को भी अपनी अवस्था के अनुरूप कार्य व्यवहारों को सीखने की प्रेरणा मिलती है तथा वे अपना घर, परिवार, समाज एवं विद्यालय में आसानी से समायोजित हो जाते हैं।

(4) विकासात्मक कार्यों के आधार पर बालकों को भावी चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार किया जा सकता है।

प्रश्न 36. किशोरावस्था में शिक्षा का स्वरूप किस प्रकार का होना चाहिए ? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—अनेक मनोवैज्ञानिकों ने अपने विचारों और सिद्धान्तों से यह सिद्ध किया है कि किशोरावस्था क्रान्तिकारी परिवर्तनों की अवस्था है, तथा इस अवस्था में किशोर एवं किशोरियाँ संवेगात्मक अस्थिरता एवं काम भावना के आवेग से भी ग्रसित रहते हैं, अतः इस अवस्था का उनकी शिक्षा की दृष्टि से बहुत महत्व है।

किशोरावस्था में शिक्षा की व्यवस्था करते समय निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए—

1. शारीरिक विकास हेतु शिक्षा की व्यवस्था—किशोरावस्था में किशोर के संतुलित शारीरिक विकास के लिए शिक्षकों को विशेष ध्यान रखना चाहिए। इस अवस्था में होने वाले शारीरिक परिवर्तनों

के परिणामस्वरूप किशोरों में ऊर्जा एवं शक्ति का तीव्र प्रवाह होता है। इस शक्ति के उचित उपयोग तथा शारीरिक विकास के लिए विद्यालयों में शारीरिक शिक्षा को एक अनिवार्य विषय बनाना चाहिए तथा विद्यालयों में खेल, व्यायाम तथा परिश्रम वाले क्रियाकलापों के आयोजन की उत्तम व्यवस्था करनी चाहिए। इस आयु की बालिकाओं के लिए भी नृत्य, संगीत, नाटक तथा हस्तकार्यों की व्यवस्था उपयोगी होती है।

2. मानसिक विकास हेतु शिक्षा– किशोरावस्था में शारीरिक विकास हेतु शिक्षा व्यवस्था करने के साथ ही किशोरों की मानसिक शक्तियों के सर्वांगीण विकास हेतु उचित शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए। किशोरों में प्रमुख मानसिक शक्तियों जैसे–ध्यान, कल्पना, तर्क, निर्णय व समस्या समाधान आदि के समुचित विकास के लिए तद्नुसार पाठ्यक्रम का निर्माण किया जाना चाहिए। किशोरों के लिए उपयुक्त शिक्षण विधि का प्रयोग करना चाहिए ताकि उन्हें स्व–परीक्षण, निरीक्षण, विचार एवं तर्क करने का अवसर मिल सके। शिक्षण के माध्यम से किशोरों की रुचियों को जाग्रत करने तथा उन्हें क्रियाशीलता के अवसर प्रदान किये जाने चाहिए।

3. संवेगात्मक विकास के लिए शिक्षा–इस अवस्था में किशोर व किशोरियों में संवेगों की प्रबलता होती है। किन्तु माता–पिता तथा शिक्षक इस ओर कम ध्यान देते हैं। इस समय किशोरों के संवेगात्मक जीवन में अनेक संवेगों से संघर्ष रहता है तथा वह उचित व अनुचित का सही निर्णय करने में स्वयं को अक्षम महसूस करता है।

अतः उचित शिक्षा द्वारा उन्हें निकृष्ट व दुखद संवेगों को दबाने अथवा मार्गान्तरीकरण करने का तथा उत्तम संवेगों का विकास करने का प्रयास किया जाना चाहिए।

4. सामाजिक विकास हेतु शिक्षा–किशोर अपने परिवार व विद्यालय की अपेक्षा समूह को अत्यधिक महत्व देता है। अतः विद्यालयों में शिक्षकों की देखभाल में ऐसे संघों व समूहों का निर्माण किया जाना जिसका सदस्य बनकर विद्यार्थी उत्तम आचरण एवं व्यवहार की शिक्षा ले सके, विद्यालयों में उत्सवों, सांस्कृतिक कार्यक्रमों एवं ऐसे सामुदायिक क्रियाकलापों का भी आयोजन होना चाहिए ताकि बालकों में उचित सामाजिक गुणों का विकास हो सके।

5. व्यावसायिक निर्देशन–किशोरावस्था में मुख्य समस्या व्यवसाय के चयन की होती है। यदि उन्हें उचित व्यावसायिक निर्देशन इस आयु में नहीं मिलता है तो वे आजीवन असंतुष्ट रहते हैं। अतः शिक्षक का कर्त्तव्य है कि बालकों की बुद्धि, दृष्टिकोण, विचारों, सुझावों, भावनाओं, रुचियों व विशेष योग्यताओं का परिचय प्राप्त करके उन्हें उचित व्यावसायिक निर्देशन प्रदान करें जिससे वे आगे चलकर अपने लिए उपयुक्त व्यवसाय को अपना सकें।

6. सृजनात्मक कार्यों की व्यवस्था–किशोरों को विभिन्न सृजनात्मक कार्यों, संगीत आदि के द्वारा अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए अधिकाधिक अवसर उपलब्ध कराये जाने चाहिए।

प्रश्न 37. विभिन्न अवस्थाओं में होने वाले शारीरिक विकास के विषय में एक निबंध लिखिए।
(रीवा 2022)

उत्तर–शारीरिक विकास का अर्थ–शारीरिक विकास से तात्पर्य बालकों में आयु के अनुसार शारीरिक आकार, शारीरिक अनुपात, अस्थियों, माँसपेशियों, दाँत तथा तंत्रिका तंत्र में समुचित विकास से होता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से यह स्पष्ट हो गया है कि बालकों में शारीरिक विकास हमेशा एक समान गति से नहीं होता। कभी तो यह तेजी से होता है और कभी मंद गति से। इसके साथ ही बालक का शारीरिक विकास उसके समस्त प्रकार के व्यवहार के साथ–साथ विकास के अन्य सभी पक्षों को भी सार्थक रूप से प्रभावित करता है। इस प्रकार शारीरिक विकास के अंतर्गत शरीर

रचना, स्नायुमंडल, माँसपेशीय वृद्धि, गामक तंत्र, अंतःस्रावी ग्रन्थियाँ आदि प्रमुख रूप से आती हैं। चूँकि बालक के शारीरिक विकास का उसके मानसिक तथा सामाजिक विकास पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है इसलिए शैक्षिक दृष्टि से बालक के शारीरिक विकास को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया है। गति व प्रकृति की दृष्टि से विकास की विभिन्न अवस्थाओं में शारीरिक विकास की प्रक्रिया में कुछ-न-कुछ भिन्नता अवश्य होती है। **शिक्षा शब्दकोश** में शारीरिक विकास के अर्थ को स्पष्ट करते हुये लिखा है—"शारीरिक विकास शरीर की संरचना के आकार, प्रकृति, क्रिया आदि में परिवर्तन है। **उदाहरणार्थ,** अस्थियों का उत्तरोत्तर कैल्सीकरण, चेहरे के आकार में परिवर्तन, सीने की आकृति आदि अथवा शारीरिक प्रशिक्षण के कारण अधिक सक्षम क्रियायें करना।" **हरबर्ट सोरेन्सन** ने शारीरिक विकास को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"शारीरिक विकास उत्तरोत्तर परिवर्तन एवं परिपक्वता की ओर उन्नति का संकेत करता है।"

शारीरिक विकास की विशेषताएँ—बालक के शारीरिक विकास की विशेषताओं का विवरण इस प्रकार है—

(1) बालक के शारीरिक विकास के साथ-साथ बालक के शरीर का आकार, भार, लम्बाई, सिर, मस्तिष्क, हड्डियाँ एवं दाँत आदि भी बढ़ते हैं।

(2) शारीरिक विकास के साथ ही स्नायु तंत्र भी विकसित होता है।

(3) अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ भी शारीरिक विकास के साथ अभिवृद्धि करती हैं।

(4) बालक के शारीरिक विकास में वैयक्तिक भिन्नता के कारण अंतर पाया जाता है।

(5) शारीरिक विकास में उत्तरोत्तर परिवर्तन होता रहता है।

विभिन्न अवस्थाओं में शारीरिक विकास—जन्म पूर्व शारीरिक विकास—शुक्राणु के साथ मिलकर अण्ड के निषेचित होते ही मानव जीवन का आरंभ हो जाता है। निषेचित अंड सर्वप्रथम दो कोषों में विभाजित होता है जिनमें से प्रत्येक कोष पुनः दो-दो कोषों में विभाजित हो जाते हैं तथा इसी प्रकार प्रत्येक नया कोष दो कोषों में विभक्त होता जाता है। कोष विभाजन की यह प्रक्रिया अत्यंत तीव्र गति से चलने लगती है तथा शरीर कोषों से ही माँसपेशियों, स्नायुओं तथा शरीर के अन्य भागों का निर्माण होता है। निषेचन से जन्म तक के समय को जन्म पूर्व काल (Prenatal period) कहा जाता है जो सामान्यतः 40 सप्ताह या 280 दिन का होता है। इस काल में निषेचित अण्ड का आकार लगभग पचास हजार गुना हो जाता है तथा इसका भार लगभग 3·5 किग्रा. हो जाता है। जन्म पूर्व काल को तीन अवस्थाओं—डिम्बावस्था (Period of ovum), पिण्डावस्था (Period of embryo) तथा भ्रूणावस्था (Period of foetus) में बाँटा जा सकता है, जिनकी अपनी-अपनी विशिष्ट योग्यताएँ होती हैं।

जन्म पूर्व विकास का प्रथम काल डिम्बावस्था कहलाता है। यह अवस्था अण्ड के निषेचित होने के क्षण से प्रारंभ होकर लगभग 2 सप्ताह तक चलती है। डिम्बावस्था के दौरान निषेचित अण्ड अथवा संयुक्त कोष बाहर से लगभग नहीं के बराबर पोषण पाता है तथा यह अण्ड में उपस्थित भोजन (Yolk) से ही पोषित होता है। इस अवधि में यह एक मुक्त रूप से विचरण करने वाला कण (Free floating particle) होता है, इस काल में इसका आकार तो लगभग अपरिवर्तित रहता है। परंतु इसकी आंतरिक संरचना में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। निषेचित अण्ड अत्यंत तीव्र गति से विभक्त अथवा पुनर्विभक्त होता रहता है। इसके प्रत्येक नये कोष में पुराने कोष के समस्त जीन्स (Genes) उपस्थित रहते हैं। निषेचन के लगभग दस दिन बाद निषेचित अण्ड गर्भाशय (Uterine) की दीवार पर स्थापित होने के लिए कोई उपयुक्त स्थान पा लेता है तथा अपने स्पर्श अंगों को गर्भाशय

की दीवार में चुभोकर गर्भाशय की सतह की रक्त नलिकाओं (Blood vessels) से अपना संबंध जोड़ लेता है। इस प्रक्रिया को आरोपण (Implantation) कहते हैं। अतः यह आवश्यक है कि अण्ड में भोजन पदार्थ इतना पर्याप्त होना चाहिए कि निषेचित अण्ड सक्रिय रह सके। भोजन पदार्थ कम होने की स्थिति में यह कुछ समय बाद निष्क्रिय होकर समाप्त हो सकता है। माता की थायरॉयड व पीयूष ग्रन्थियों से निकलने वाले हॉर्मोन्स भी निषेचित अण्ड के लम्बे समय तक आरोपित न हो पाने के उत्तरदायी होते हैं। अतः डिम्बावस्था के दौरान, निषेचित अण्ड में पर्याप्त रूप से भोजन पदार्थ होना, माता की थायरॉइड व पीयूष ग्रंथि तथा गर्भाशय की क्रियाशीलता के मध्य उचित तालमेल होना आवश्यक है जिसमें गर्भाशय की दीवारें उचित समय पर संयुक्त कोष को स्वीकार करने के लिए तत्पर हो सकें। इसके साथ ही संयुक्त कोष द्वारा अपने आप को गर्भाशय में किसी उचित स्थान पर ही आरोपित करना आवश्यक है ताकि उसे माता से पर्याप्त पोषण मिलता रहे व उसका विकास हो सके।

निषेचन के बाद तीसरे सप्ताह से लेकर आठवें सप्ताह तक गर्भस्थ शिशु पिण्डावस्था (Period of embryo) में रहता है। लगभग 6 सप्ताह तक चलने वाली यह अवस्था पिण्डावस्था परिवर्तन की अवस्था है जिसमें कोषों का समूह एक लघु मानव के रूप में विकसित हो जाता है। शरीर की लगभग समस्त विशेषताएँ बाह्य एवं आंतरिक इस लघु अवधि में स्पष्ट हो जाती हैं। इस काल में विकास मस्तकाधोमुखी दिशा (Ephalocaudal sequence) में होता है अर्थात् मस्तक क्षेत्र का विकास पहले होता है फिर धड़ क्षेत्र का तथा सबसे अंत में पैर क्षेत्र का विकास पहले होता है। प्लैसेण्टा (Placenta), नाभिनाल (Umblical cord) तथा गर्भझिल्ली (Sac) का निर्माण भी इसी काल में होता है। इस समय शिशु के शरीर में नाभिनाल के द्वारा माँ का रक्त प्रवाहित होने लगता है जो उसके लिए पोषण के आवश्यक तत्व; जैसे ऑक्सीजन, जल व भोजन आदि प्रदान करता है।

पिण्डावस्था दो कारणों से अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है—प्रथम, कुपोषण, संवेगात्मक सदमों, अत्यधिक शारीरिक गतिशीलता, ग्रंथियों के कार्यों में व्यवधान अथवा अन्य किसी कारण से भ्रूण गर्भाशय की दीवार से अलग हो सकता है जिसके परिणामस्वरूप स्वतः गर्भपात (Spontaneous abortion) हो जाता है। द्वितीय पिण्डावस्था में भ्रूण के शरीर निर्माण की प्रक्रिया में कुछ ऐसी विकासात्मक विसंगतियाँ (Developmental irregularities) हो सकती हैं जो प्रायः बाद में दूर नहीं की जा सकती हैं तथा बालक के भावी विकास को बुरी तरह से प्रभावित कर सकती हैं।

निषेचन के नवें सप्ताह से लेकर बच्चे के जन्म तक का समय भ्रूणावस्था (Period foetus) कहलाता है। भ्रूण का लगभग संपूर्ण शरीर ऊपर बतायी गयी दोनों अवस्थाओं में विकसित हो चुका होता है किन्तु उसकी वृद्धि भ्रूणकाल में होती रहती है। भ्रूणावस्था भी कई प्रकार से महत्वपूर्ण मानी जाती है—प्रथम, गर्भाधान के उपरांत पाँच माह तक गर्भपात की संभावनाएँ बनी रहती हैं। द्वितीय, माता के गर्भ में बालक को मिल रहे वातावरण की प्रतिकूल परिस्थितियाँ भ्रूण के विकास को प्रभावित कर सकती हैं। तृतीय, इस अवस्था में विकास की प्रक्रिया में उचित तालमेल न होने पर अपरिपक्व प्रसव (Pre-mature deliveries) हो सकता है। चतुर्थ, जन्म–पूर्व भ्रूणावस्था की परिस्थितियों से प्रसव की सरलता अथवा जटिलता सदैव प्रभावित होती है। अतः इस अवस्था में माता के भोजन, स्वास्थ्य तथा अन्य परिस्थितियों पर ध्यान देना आवश्यक होता है।

गर्भावस्था के दौरान शिशु के विकास का काल शैक्षिक दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। शिशु की आनुवंशिकता तो निषेचन के समय ही निश्चित हो जाती है किंतु माँ के खान–पान, रहन–सहन और औषधियों के सेवन का बच्चे के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि माँ शिक्षित,

बुद्धिमान, साहसी, संयमी और अच्छे विचारों वाली हो तो शिशु में भी इन गुणों के आने की प्रबल संभावना रहती है। अतः माँ को गर्भधारण करने के बाद शिशु के समुचित विकास का ध्यान रखते हुए अपनी जीवनचर्या निर्धारित करनी चाहिए। यह कार्य केवल शिक्षा के सहारे किया जा सकता है।

शैशवावस्था में शारीरिक विकास—जन्म से लेकर 6 वर्ष की आयु होने तक बालक शिशु कहलाता है तथा इस अवधि को शैशवावस्था कहते हैं। शारीरिक विकास की दृष्टि से यह अवस्था अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस अवस्था को दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(1) तीव्र गति से विकास की अवस्था एवं (2) मंद गति से विकास की अवस्था।

प्रथम अवस्था जन्म से 3 वर्ष तक होती है। वास्तव में इसी काल में बालक शिशु (Infant) कहा जा सकता है। 'Infant' का अर्थ 'नहीं बोलने वाला' होता है। तीन वर्ष की अवस्था के बाद शिशु भली प्रकार बोलना सीख लेते हैं इसलिए 'Infancy' की अवस्था तीन वर्ष बाद समाप्त हो जाती है, परंतु सुविधा व व्यवहार की दृष्टि से 6 वर्ष तक की आयु को शैशवावस्था कहा जाता है। प्रथम 3 वर्षों में बालक का शारीरिक विकास बहुत तीव्र गति से होता है, अगले तीन वर्षों में विकास की गति तुलनात्मक रूप से कुछ मंद पड़ जाती है। अतः इस काल को मंद गति से विकास का काल कहते हैं।

शैशवावस्था में होने वाले शारीरिक विकास से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों का संक्षेप में विवरण इस प्रकार है—

1. लंबाई अथवा आकार (Length/Height or Size)—जन्म के समय बालक की लम्बाई लगभग 20·5 इंच और बालिका की लम्बाई 20·3 इंच तक पायी जाती है। बालक और बालिका की लम्बाई का यह अंतर शैशवावस्था पर्यन्त रहता है। तत्पश्चात् 3 या 4 वर्षों के बाद बालिकाओं की लम्बाई बालकों से अधिक हो जाती है।

2. भार (Weight)—नवजात शिशु का भार लगभग 6-8 पौण्ड (3 किग्रा.) होता है। प्रथम 6 माह में भार बढ़कर दोगुना तथा अगले 6 माह में तीन गुना हो जाता है। एक वर्ष से लेकर 6 वर्ष तक भार क्रमशः 8 किग्रा., 12 किग्रा., 14 किग्रा., 15 किग्रा. तथा 16 किग्रा. के आसपास हो जाता है। बालिकाओं का भार बालकों की अपेक्षा कुछ कम रहता है।

3. मस्तिष्क अथवा सिर (Brain or Head)—जन्म के समय शिशु के सिर की लम्बाई उसके शरीर की कुल लम्बाई की एक-चौथाई होती है। प्रथम दो वर्षों में शिशु का सिर अति तीव्र गति से बढ़ता है, तत्पश्चात् अभिवृद्धि की गति मंद हो जाती है। जन्म के समय शिशु के मस्तिष्क का भार 350 ग्राम तक पाया जाता है। दो वर्षों में इसका भार दोगुना और 6 वर्षों में लगभग 1250 से 1300 ग्राम तक हो जाता है। शैशवावस्था में मस्तिष्क की वृद्धि सर्वाधिक होती है।

4. माँसपेशियाँ (Muscles)—शारीरिक विकास के साथ-साथ माँसपेशियों में भी वृद्धि होने लगती है। जन्म के समय शिशु की माँसपेशियों का भार उसके शरीर के भार का 23% होता है। 6 वर्ष की आयु तक इनमें लचीलापन रहता है।

5. हड्डियाँ (Bones)—शरीर संरचना वास्तव में हड्डियों का ढाँचा होती है। हड्डियाँ मानव के अन्य अंगों की सुरक्षा तथा शरीर को ढाँचा प्रदान करती हैं। हड्डियों का विकास शरीर को सुदृढ़, मजबूत तथा संचालन योग्य बनाता है। हड्डियों के ढाँचे के अनुरूप ही शरीर, चेहरा, हाथ-पैर तथा अन्य अंग अपना वैयक्तिक स्वरूप ग्रहण करते हैं। नवजात शिशु में हड्डियों की संख्या लगभग 270 होती है। नवजात शिशु की हड्डियाँ छोटी, कोमल तथा लचीली होती हैं। शैशवावस्था के दौरान कैल्शियम, फॉस्फोरस तथा अन्य खनिज पदार्थों को पाकर ये धीरे-धीरे कठोर व मजबूत होती हैं।

बाल्यावस्था में शारीरिक विकास– 6 वर्ष की आयु से लेकर 12 वर्ष की आयु तक की अवधि बाल्यावस्था कहलाती है। बाल्यावस्था के प्रथम तीन वर्षों के दौरान अर्थात् 6 से 9 वर्ष की आयु तक शारीरिक विकास तीव्र गति से होता है। बाद में शारीरिक विकास की गति कुछ धीमी हो जाती है। बाल्यावस्था में होने वाले शारीरिक विकास से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन निम्नलिखित हैं–

1. लम्बाई (Length)– 6 वर्ष से 12 वर्ष की आयु तक चलने वाली बाल्यावस्था में शरीर की लम्बाई लगभग 5 सेंटीमीटर से 7 सेंटीमीटर प्रतिवर्ष की गति से बढ़ती है। बाल्यावस्था के प्रारंभ में जहाँ बालकों की लम्बाई बाालिकाओं की लंबाई से लगभग एक सेंटीमीटर अधिक होती है वहीं इस अवधि की समाप्ति पर बालिकाओं की औसत लम्बाई बालकों की औसत लम्बाई से लगभग 1 सेंटीमीटर अधिक हो जाती है। बाल्यावस्था के दौरान बालकों के भार में काफी वृद्धि होती है।

2. भार (Weight)–बाल्यावस्था में बालक के भार में तीव्र गति से वृद्धि होती है। 12 वर्ष तक की आयु तक पहुँचते–पहुँचते उसका भार 80 से 95 पौण्ड तक हो जाता है। 9 से 10 वर्ष की आयु तक बालकों का भार बालिकाओं के भार से अधिक रहता है। तदुपरांत बालिकाओं के भार में अभिवृद्धि होना प्रारंभ हो जाती है।

3. सिर तथा मस्तिष्क (Head and Brain)–बाल्यावस्था में सिर का विकास तो होता है, किन्तु शरीर और सिर का अनुपात वयस्क के शरीर और सिर के अनुपात की समानता की ओर प्रवृत्त होने लगता है अर्थात् शरीर के अन्य अंगों की तुलना में सिर अपेक्षाकृत बड़ा होता है। शरीर के विभिन्न अंगों की अनुपातहीनता धीरे–धीरे कम होती जाती है। शैशवावस्था के अंत तक मस्तिष्क का विकास वयस्क मस्तिष्क का 90% होता है जो बाल्यावस्था के अंत तक बढ़कर 95% हो जाता है। इस प्रकार बाल्यावस्था में मस्तिष्क का आकार तथा भार दोनों ही दृष्टि से लगभग पूर्णरूपेण विकसित हो जाता है।

4. माँसपेशियाँ (Muscles)–बाल्यावस्था में माँसपेशियों का विकास मंद गति से होता है। 8 वर्ष की आयु में माँसपेशियों का भार शरीर के कुल भार का 27% होता है तो 12 वर्ष में बढ़कर 33% हो जाता है।

5. धड़ का विकास (Truck part of the Body)–बाल्यावस्था में बालक एवं बालिकाओं के धड़ का विकास बहुत महत्व रखता है। इस आयु में शरीर बलिष्ठ, पुष्ट तथा शक्तिशाली होने लगता हैं जिसमें बालक अपने अंगों एवं शक्तियों के संचालन पर नियंत्रण प्राप्त कर लेते हैं। बालकों के कंधे चौड़े होने लगते हैं तथा कूल्हे पतले होने लगते हैं। बालिकाओं के कंधे पतले व कूल्हे चौड़े होने लगते हैं।

6. हड्डियाँ (Bones)–बाल्यावस्था में हड्डियों की संख्या तथा उनकी दृढ़ता दोनों में ही वृद्धि होती है। शिशु के शरीर की कुछ झिल्लियों के हड्डियों के रूप में बदल जाने के कारण हड्डियों की संख्या में वृद्धि हो जाती है। यहाँ इस बात का भी संकेत देना उचित होगा कि वृद्धि की प्रक्रिया में कुछ कोमल हड्डियाँ मिलकर एक हो जाती हैं जिसके कारण भी हड्डियों की संख्या में बदलाव आता है। बाल्यावस्था में हड्डियों की संख्या 270 से बढ़कर 350 हो जाती है। इस अवस्था के दौरान हड्डियों का दृढ़ीकरण अथवा अस्थिकरण (Ossification) तेजी से होता है जिसके परिणामस्वरूप बालकों की हड्डियों का लचीलापन समाप्त होने लगते हैं तथा उनमें कड़ापन आने लगता है।

7. दाँत (Teeth)–बाल्यावस्था के प्रारंभ में बालक के दूध के दाँत गिरने लगते हैं और उनके स्थान पर स्थायी दाँत निकलने लगते हैं। बाल्यावस्था की समाप्ति तक उसके सभी स्थायी दाँत

निकल आते हैं। बालकों की अपेक्षा बालिकाओं के स्थायी दाँत पहले निकल आते हैं। दाँत चेहरे की आकृति में स्थायित्व लाते हैं व उन्हें सुंदर बनाते हैं।

8. हाथ व पैर (Hand and Legs)—बाल्यावस्था में बालकों के पैर लम्बे और सीधे हो जाते हैं तथा बालिकाओं के पैर अंदर की ओर कुछ झुकाव ले लेते हैं। भुजायें भी लम्बी होने लगती हैं।

9. यौन अंगों का विकास (Development of Sex Organs)—बालकों तथा बालिकाओं दोनों के प्रजनन अंगों का विकास भी बाल्यावस्था में होने लगता है, किन्तु बालकों में यह विकास धीमी गति से होता है। 11-12 वर्ष तक आते–आते बालिकाओं के यौन अंगों का विकास तीव्र गति पकड़ लेता है।

10. हृदय गति (Heart Beating)—शैशवावस्था की तुलना में बाल्यावस्था में हृदय के धड़कने की गति कम हो जाती है। 18 वर्ष के बालकों का हृदय प्रति मिनट 85 बार धड़कता है।

उक्त समस्त विकास के द्वारा बाल्यावस्था के अंत तक मानव शरीर तक निश्चित आकार लेना शुरू कर देता है जो किशोरावस्था में लगभग पूर्ण हो जाता है।

किशोरावस्था में शारीरिक विकास—प्रश्न क्रमांक 33 का उत्तर देखें।

प्रश्न 38. भाषा विकास को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों की विस्तृत विवेचना कीजिए।
(छिंदवाड़ा 2021)

उत्तर—भाषा विकास को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारक निम्नलिखित हैं—

1. बुद्धि (Intelligence)—भाषा के विकास में बुद्धि अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान होता है। जिस बालक की बुद्धि जितनी प्रखर होती है, वह उतनी ही जल्दी भाषा को सीखता है। मन्द बुद्धि वाला बालक भाषा को जल्दी सीख नहीं पाता है और सीखता भी है तो बहुत–सी त्रुटियाँ व्याप्त होती हैं। प्रखर बुद्धि वाले बालक भाषा का प्रयोग तेजी से करते हैं, चाहे उनके पास व्यापक भाषा का भण्डार हो।

2. वातावरण (Environment)—बालक की भाषा के विकास में सबसे पहले व सबसे अधिक प्रभाव पारिवारिक वातावरण का पड़ता है। बालक के परिवार के लोग जो भाषा प्रयुक्त करते हैं, जिस तरह विचारों का आदान–प्रदान करते हैं, बालक भी वैसे ही सीखता है। निम्न सामाजिक–आर्थिक स्तर के परिवार के बच्चे अक्सर भाषा विकास में पिछड़ जाते हैं। उन्हें दूसरों से सम्पर्क और सुविधाओं का अवसर कम ही प्राप्त होता है। जिस परिवार में माता–पिता तथा अन्य लोग शिक्षित व सुसंस्कृत होते हैं, उन परिवारों के बच्चों का भाषा विकास सराहनीय होता है।

3. परिस्थिति (Situation)—बालक का पालन–पोषण जिस तरह की परिस्थितियों में होता है उसका प्रभाव उसके भाषा–विकास पर पड़ता है। जिन परिवारों में माता–पिता दोनों नौकरी करते हैं तो बालक दिन में एक लम्बे समय तक आया या नौकरों की देखरेख में रहता है। इस परिस्थिति का असर बालक की भाषा पर पड़ता है।

4. शारीरिक स्वास्थ्य (Physical health)—स्वस्थ बालक का भाषा विकास तीव्र गति से होता है। जो बालक अक्सर बीमार रहते हैं, उनके भाषा–विकास की प्रक्रिया में रुकावट आती है। बालक भाषा को अनुकरण के माध्यम से सीखता है, अस्वस्थ बालक की अनुकरण क्षमता कम हो जाती है। बीमारी के कारण उसे बोलने का कम ही अवसर मिलता है, उसकी आवश्यकताएँ बिना बोले ही पूर्ण कर दी जाती हैं, जिससे वह अपने साथियों तथा अन्य लोगों के सम्पर्क में नहीं आ पाता, सम्पर्क से भाषा विकास होता है। सम्पर्क के अभाव में बालक की भाषा का विकास प्रभावित होता है।

5. शरीर–रचना (Body Structure)—बालक की शरीर–रचना भी भाषा विकास को प्रभावित करती है। शरीर–रचना से तात्पर्य स्वरयंत्र, जीभ, तालू, दाँत आदि की बनावट से है, क्योंकि ये अंग ही बोलने की क्रिया में सहायक होते हैं। यदि बालक का स्वरयंत्र परिपक्व होता है, जीभ की माँसपेशियाँ क्रियाशील होती हैं व दाँतों की रचना सामान्य होती है तो वह शीघ्र और स्पष्ट बोलता है।

6. लिंग–भेद (Sex difference)—बहुत–से मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि भाषा का विकास लिंग–भेद से भी प्रभावित होता है। **मैकार्थी** ने अपने अध्ययनों से प्रमाणित किया कि समान आयु वाले बालक–बालिकाओं में बालिकाओं की भाषा जल्दी समझ में आने योग्य हो जाती है। अन्य शोधों के निष्कर्ष भी दर्शाते हैं कि लड़कियाँ, लड़कों की तुलना में शीघ्र बोलने लग जाती हैं। लड़कियों का शब्द–भण्डार भी लड़कों से अधिक होता है। बालिकाओं की अपेक्षा बालकों में उच्चारण दोष अधिक पाया जाता है।

7. परिपक्वता (Maturity)—जब तक बालक के बोलने से संबंधित अंगों (फेफड़े, गला, जीभ, दाँत, होंठ, स्वरयंत्र तथा मस्तिष्क) को परिपक्वता नहीं प्राप्त होती तब तक बालक को चाहे जितना प्रशिक्षण दिया जाये, भाषा विकास नहीं हो सकता।

8. सीखने के अवसर (Learning opportunity)—भाषा सीखने से विकसित होती है। जिन घरों में सदस्यों की संख्या अधिक होती है वहाँ बालक जल्दी सीख जाते हैं, क्योंकि सभी लोग उससे बात करते हैं तो उसे सीखने के अधिक अवसर मिलते हैं।

9. अनुकरण की प्रवृत्ति (Tendency of Imitation)—बालक में अनुकरण की प्रवृत्ति होती है। वह अपने परिवार के सदस्यों का अनुकरण करके बोलना सीखता है। जब वह घर से बाहर जाने लायक हो जाता है तो अपने पड़ोसियों, साथियों और अध्यापकों का अनुकरण करके भाषा सीखता है।

10. अभिप्रेरणा (Motivation)—भाषा के विकास में अभिप्रेरणा की बहुत बड़ी भूमिका होती है। अवलोकन से ज्ञात होता है कि बोलने वाले शिशु को, उसके पसन्द की खाने की चीज का प्रलोभन देकर स्पष्ट भाषी बनाया जा सकता है। शिशुओं को चित्र दिखाकर उनके नाम याद कराए जा सकते हैं; जैसे—'अ' से अमरूद, 'आ' से आम आदि। ये अभिप्रेरणा के महत्व को दर्शाते हैं। वाद–विवाद प्रतियोगिता में जीतने पर बालक को पुरस्कार मिलता है, तो उसे अधिक प्रभावशाली वक्ता बनने की प्रेरणा मिलती है।

11. निर्देशन (Guidance)—भाषा विकास के लिए प्रेरणा के साथ–साथ निर्देशन की भी आवश्यकता होती है। जो शब्द बच्चे साथ बोले जाते हैं, यदि उनके प्रतिरूप (Model) दिखाकर बोला जाये तो बच्चा बोले गये शब्द की सही तस्वीर अपने मस्तिष्क में अंकित कर लेता है; जैसे—'केला' दिखाकर उसके सामने केला शब्द का उच्चारण किया जाता है तो धीरे–धीरे 'केला' शब्द और उसकी आकृति बच्चे के मस्तिष्क में अंकित हो जाती है, जिससे भविष्य में जब कभी वह केला देखता है तो स्वयं ही केला बोल पड़ता है। अतः उचित निर्देशन से बालक जल्दी बोलना सीखता है।

12. वैयक्तिक भिन्नताएँ (Individual differences)—भाषा विकास सभी बालकों में एक जैसा नहीं होता, वैयक्तिक भिन्नता का प्रभाव रहता है। जो बालक बहिर्मुखी (Extrovert) तथा उत्साही होते हैं, उनमें भाषा विकास उन बालकों की अपेक्षा जल्दी होता है जो अन्तर्मुखी (Introvert) व शान्त होते हैं।

प्रश्न 39. बाल्यावस्था में शैक्षिक विकास के संदर्भ में विचार में लिए जाने वाले बिन्दुओं का उल्लेख कीजिए। (उज्जैन 2022)

उत्तर—बाल्यावस्था जिसका समय 6-12 वर्ष है, बालक के जीवन का अनोखा काल माना जाता है। बाल्यावस्था विकास का वह काल है जो शैशवकालीन विशेषताओं को पीछे छोड़ देता है और किशोरावस्था की विशेषताओं को प्रकट करने के लिए तत्पर हो जाता है। इसमें बालक स्वयं को स्वतंत्र तथा निश्चित व्यक्तित्व में ढालने लगता है। बाल्यावस्था वास्तव में मानव जीवन का वह स्वर्णिम समय है जिसमें उसका सर्वांगीण विकास होता है। फ्रायड यद्यपि यह मानते हैं कि बालक का विकास पाँच वर्ष की आयु तक हो जाता है। लेकिन बाल्यावस्था में विकास की यह सम्पूर्णता गति प्राप्त करती है और एक परिपक्व व्यक्ति के निर्माण की ओर अग्रसर होती है।

बाल्यावस्था में बालक का शिक्षण कार्य विशेष प्रशिक्षित अध्यापक, माता–पिता और समाज के विभिन्न सदस्यों को करना चाहिए। इस समय बालक के मूल्य, आदर्श और दृष्टिकोण का निर्माण होता है जो उसके भविष्य को निर्धारित करते हैं। अतः बालकों की शिक्षा में निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए—

(1) भाषा का सही ज्ञान—बालकों के व्यक्तित्व संबंधी गुणों का प्रथम प्रकाशन भाषा के माध्यम से होता है। भाषा में शब्दों का चयन, वाक्य विन्यास एवं बोलने का ढंग आदि दूसरे लोगों को प्रभावित करते हैं। इसलिए इस आयु के बालकों को भाषा का सही प्रशिक्षण दिया जाय। यही प्रशिक्षण उनकी आंतरिक अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन बनता है। इस प्रशिक्षण में सुलेख, यानि शब्दों की बनावट पर विशेष ध्यान देना चाहिए। मनोवैज्ञानिकों और लेख विशेषज्ञों ने बताया कि 'लेख' व्यक्तित्व के मापन में सहायक होता है। अतः भाषा का सही ज्ञान बालकों के व्यक्तित्व को निखारने में होता है।

(2) विषय चयन—बालकों के लिए विषयों का चयन अत्यंत सावधानी के साथ करना चाहिए। विषय चयन का आधार उनकी बुद्धि, क्षमता, रुचि, परिपक्वता और सामयिक उपयोगिता होना चाहिए। जीवन में मनुष्य को सामान्य ज्ञान की विशेष आवश्यकता पड़ती है। अतः उसे सभी प्रकार के विषयों का व्यावहारिक ज्ञान दिया जाना चाहिए। इन विषयों में रोचक सामग्री का चयन किया जाय ताकि बाल्यावस्था में बालकों का मन उस चयनित विषय में लग सके और वे अपने व्यक्तित्व के विकास में सहायता ले सके।

विषय सामग्री में वीरता, साहस से भरे कार्य, आश्चर्यजनक तथ्य, हास्य–विनोद, वार्तालाप, नाटक, कहानियाँ, पशु और जगत की यथार्थता से संबंधित ज्ञान होना चाहिए।

(3) बाल्यावस्था में शिक्षण विधियाँ—बाल्यावस्था में ज्ञान देने के लिए मनोवैज्ञानिक शिक्षण विधियों का प्रयोग किया जाना चाहिए। शिक्षण की अनेकों विधियाँ हैं। इन विधियों का सार्थक प्रयोग ही बाल्यावस्था में सही ज्ञान दे सकता है। शिक्षण विधियाँ बालकों की रुचि, कार्य का स्वभाव और अध्यापक की निपुणता पर निर्भर होनी चाहिए।

बाल्यावस्था में रुचि परिवर्तन तीव्र गति से होता है। अतः बाल शिक्षा से संबंधित सही विधियों का प्रयोग करना चाहिए ताकि बालकों का बहुमुखी विकास किया जा सके।

(4) पाठयान्तर क्रियाएँ—बाल्यावस्था में बच्चों का मन चलायमान होता है, उनको एक ही स्थान पर केन्द्रित करना मुश्किल होता है। इसलिए मनोवैज्ञानिकों ने शिक्षा के अतिरिक्त कुछ क्रियाओं का भी प्रशिक्षण विद्यालयों में देना प्रारंभ किया है। इनको पाठयान्तर क्रियाएँ कहा जाता है।

ये बालक के शारीरिक, मानसिक और सामाजिक विकास में सहयोग देती हैं। इन क्रियाओं में खेलकूद, सांस्कृतिक कार्यक्रम, पर्यटन, स्काउट आदि प्रमुख हैं। इनके माध्यम से बालक की अतिरिक्त शक्ति का रचनात्मक प्रयोग किया जाना चाहिए।

(5) समूहमन का विकास—समूहमन एक भाव है जिसमें व्यक्तिगत भाव का विलय समष्टिगत भाव में होता है। बालक समूह में होता है तो वह समूह की भावना का ही आदर करता है न कि अपनी राय का। वह अधिक–से–अधिक बालकों से मिलना–जुलना, उनके साथ खेलना, उनके साथ विभिन्न कार्यों को करना आदि में रूचि लेता है।

(6) देखो और सीखो विधि—बाल्यावस्था में जिज्ञासा विकास चरम सीमा पर होता है। बालक शीघ्र–से–शीघ संसार के ज्ञान को सीखना चाहता है। अतः वह सीखने में तीव्रता प्रकट करता है। शिक्षकों को चाहिए कि बालकों को अधिक –से–अधिक देखो और सीखो विधि द्वारा सीखने के लिए प्रोत्साहित करें।

विद्यालय के अंदर पुस्तकालय व्यवस्था एवं उसका उपयोग, प्रयोगशालाएँ, स्काउट, राष्ट्रीय सेवा योजनाएँ, एन.सी.सी., खेलकूद, सांस्कृतिक कार्यक्रम और प्रमुख स्थानों की यात्रा आदि के शिक्षण कार्य को देखों और सीखो विधि के द्वारा प्रारंभ करना चाहिए। इससे बालक अनुकरण के द्वारा शीघ्र सीख लेगा। यह विधि भविष्य में भी लाभदायक सिद्ध होगी।

(7) संवेगात्मक स्थिरता और नियंत्रण—बाल्यावस्था में संवेगों का प्रकाशन गत्यात्मक क्रियाओं द्वारा न होकर समाजीकरण के नियमों के आधार पर होता है। बालक अपने भावों पर नियंत्रण करना और उन्हें छिपाना भी सीख लेता है। अतः इस अवस्था को संवेगात्मक स्थिरता और नियंत्रण का प्रमुख काल कहा जाता है। बालकों में देखो और सीखने की विधि का प्रचुर मात्रा में विकास हो जाता है, जो उन्हें संवेगों का सही प्रकाशन क्या है ? का ज्ञान देता रहता है।

यही कारण है कि बालक साइकिल से गिर जाता है और उसे काफी चोट लग जाती है, तो भी वह अपने संवेग पर नियंत्रण कर लेता है और कहता है कि अधिक चोट नहीं लगी जबकि शैशवावस्था का बालक जोर से रोना प्रारंभ कर देता है। अत : समाजीकरण के द्वारा उन संवेगों को सही रूप में नियंत्रण का नाम दिया जाता है।

(8) सामाजिक एवं नैतिक गुणों की शिक्षा—सामाजिक एवं नैतिक गुण समाज की देन होते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में मानवीय गुणों को ही सामाजिक एवं नैतिक गुणों की संज्ञा दी जाती है। अतः बाल्यावस्था में प्रत्येक समाज, विद्यालय या प्रशासन बालकों में अच्छे नागरिक के गुणों का विकास करने के लिए शिक्षा देते हैं।

बालक समाज और नैतिकता के भाव समझने में असफल रहता है, फिर भी वह इनको धारण करना अपना परम कर्त्तव्य मानता है। शिक्षा के क्षेत्र में ऐसी क्रियाओं का संगठन करना चाहिए, जिनमें भाग लेकर बालकों में अनुशासन आदि सामाजिक गुणों का विकास हो सके। इसी प्रकार से बालकों में विश्वास, अच्छी आदतें, जीवन मूल्य तथा जीवन का होना अति आवश्यक है।

प्रश्न 40. किशोरावस्था में कौन–से शारीरिक परिवर्तन होते हैं ? किशोरों के उचित शारीरिक विकास के लिए कुछ गतिविधियों का सुझाव दीजिए। **(ग्वालियर 2022)**

उत्तर—किशोरावस्था मनुष्य के जीवन का बसंत काल माना गया है। यह काल 12 से 19 वर्ष तक रहता है। यह काल भी सभी प्रकार की मानसिक शक्तियों के विकास का काल है। मानव विकास की सबसे विचित्र तथा जटिल अवस्था किशोरावस्था है। इसमें होने वाले परिवर्तन बालक के व्यक्तित्व के गठन में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि किशोरावस्था वह काल है, जो परिपक्वता की ओर संक्रमण करता है।

शारीरिक परिवर्तन—किशोरावस्था में बालक–बालिकाओं का बहुत ही तेजी से विकास होता है। इस अवस्था में विभिन्न अंगों का विकास होता है। जैसे–मस्तिष्क का विकास, हड्डियों का

विकास, लंबाई का विकास, मोटाई का विकास, आवाज में परिवर्तन, आंतरिक अंगों का विकास एवं अन्य अंगों का विकास इत्यादि परिवर्तन किशोरावस्था में होता है।

स्टेनले हॉल के अनुसार—"किशोरावस्था बड़े संघर्ष, तनाव, तूफान तथा विरोध की अवस्था है।"

जरसिल्ड के अनुसार—"किशोरावस्था वह अवस्था है जिससे मनुष्य बाल्यावस्था से परिपक्वता की ओर बढ़ता है।"

किशोरों के शारीरिक विकास हेतु गतिविधि—शारीरिक विकास हेतु निम्न गतिविधियाँ हैं—

(1) स्क्वैट्स—स्क्वैट्स एक महत्वपूर्ण गतिविधि है जो मजबूत पैर, ग्लूट्स और कोर सुनिश्चित करता है।

(2) लंघन—रस्सी कूद और विभिन्न प्रकार का प्रदर्शन करना किशोरावस्था में किशोरों के लिए सर्वोत्तम शारीरिक गतिविधि है।

(3) पुश अप—पुश अप डराने वाला हो सकता है क्योंकि इसको करना कठिन है। जब कोई पुश अप करता है तो उनके शरीर का पूरा भार उसके हाथों पर आ जाता है। यह हाथों की ताकत बढ़ाने का महत्वपूर्ण उपाय है।

(4) पर्वतारोही—यह एक और शारीरिक गतिविधि है जो पूरे शरीर—पैर, हाथ और कोर पर केन्द्रित होती है।

(5) खेलने हेतु प्रोत्साहित करना—किशोरों को खेलने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। खेल समन्वय में सुधार लाने, मांसपेशियों को मजबूत बनाने तथा गति एवं चपलता प्रदान करने के लिए खेल महत्वपूर्ण है।

शारीरिक गतिविधि से शरीर के सभी हिस्से सक्रिय हो जाते हैं। जिसमें मांसपेशियों का उपयोग होता है तथा जिसके लिए ऊर्जा की आवश्यकता होती है। इस प्रकार शारीरिक विकास हेतु दौड़ना, कूदना, चलना, नाचना, तैराकी करना, योग करना, सीढ़ियाँ चढ़ना आदि अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

शारीरिक गतिविधि के लाभ—शारीरिक गतिविधियों के निम्न लाभ हैं—

(1) उचित शारीरिक वजन एवं वसा का शरीर में उपयुक्त वितरण।

(2) विभिन्न प्रकार की बीमारियों से सुरक्षा।

(3) स्वस्थ शरीर, हड्डियों एवं मांसपेशियों का निर्माण।

(4) मानसिक स्वास्थ्य एवं स्फूर्ति में सहायक।

(5) सम्पूर्ण शरीर को सक्रिय बनाने हेतु शारीरिक विकास एवं शारीरिक गतिविधियाँ महत्वपूर्ण हैं।

(6) हृदय एवं फेफड़ों संबंधी बीमारियों से छुटकारा।

प्रश्न 41. "बालक के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण का सापेक्षिक महत्व है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए। **(रीवा 2017, 22)**

उत्तर—मानव विकास के संदर्भ में वातावरण संबंधी जितने भी अध्ययन हुए है, उनसे प्रतीत होता है कि मनुष्य के विकास पर वातावरण का ही मुख्य रूप से प्रभाव पड़ता है तथा वंशानुक्रम संबंधी जितने अध्ययन या प्रयोग हुए हैं उनसे लगता है कि मनुष्य के विकास का मूल कारक वंशानुक्रम ही है। इस प्रकार, यह तय करना काफी कठिन है कि बालक के विकास में वातावरण और वंशानुक्रम में सबसे प्रभावी कौन है ?

यह कहा जा सकता है कि बालक के विकास में वातावरण और वंशानुक्रम दोनों का अपना–अपना महत्वपूर्ण स्थान है। दोनों एक–दूसरे के पूरक और सहायक है। **मैकाइवर** और **पेज** ने दोनों के सापेक्ष महत्व को स्वीकार करते हुए कहा है–"जीवन की प्रत्येक घटना दोनों का परिणाम होती है। किसी भी निश्चित परिणाम के लिए एक उतनी ही आवश्यक है जितनी कि दूसरी। कोई भी न तो हटायी जा सकती है और न ही पृथक् की जा सकती है।"

बालक के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण के सापेक्षिक महत्व को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है–

1. वंशानुक्रम व वातावरण की अपृथक्ता– बालक के व्यक्तित्व के किसी भी विशेष गुण या विशेषता के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि यह वंशानुक्रम के कारण है अथवा वातावरण के कारण। वास्तव में व्यक्तित्व वंशानुक्रम और वातावरण की संयुक्त देन है।

2. वंशानुक्रम और वातावरण का परस्पर सहयोगी प्रभाव– बालक के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण दोनों में से कौन अधिक महत्वपूर्ण है ? यह कहना संभव नहीं है, दोनों ही अति–आवश्यक और समान उपयोगी है। किसी भी हालत में दोनों को एक–दूसरे का विरोध नहीं किया जा सकता है। दोनों ही एक–दूसरे के पूरक तथा घनिष्ठ सहयोगी है।

3. वंशानुक्रम और वातावरण का समान महत्व–बालक की वृद्धि और विकास के संदर्भ में वंशानुक्रम और वातावरण के बीच जो रिश्ता है उसमें 'अथवा' और 'या' की कोई जगह नहीं होती। यह संबंध केवल 'और' से व्यक्त किया जा सकता है। अतः बालक का विकास वंशानुक्रम और वातावरण दोनों पर निर्भर करता है। वंशानुक्रम एवं वातावरण के बीच में वास्तव में क्या संबंध है ? इसके लिए **वुडवर्थ** ने कहा "वंशानुक्रम और वातावरण का संबंध जोड़ की तरह न होकर गुणा की तरह अधिक है।"

$$\text{व्यक्ति} = \text{वंशानुक्रम} \times \text{वातावरण}$$

अतः यह कहा जा सकता है कि बालक के व्यक्तित्व के विकास में ये दोनों कारक महत्वपूर्ण है। इन दोनों कारकों पर ध्यान देते हुए अध्यापकों और अभिभावकों को बालक के विकास में सहयोग देना चाहिए।

प्रश्न 42. शिक्षा प्रक्रिया में वंशानुक्रम तथा वातावरण का महत्व स्पष्ट कीजिए।

(ग्वालियर 2015; रीवा 21; छतरपुर 21)

***अथवा*, शिक्षक के लिए वातावरण एवं वंशानुक्रम का ज्ञान कैसे महत्वपूर्ण है ?**

उत्तर– शैक्षिक दृष्टि से वंशानुक्रम एवं वातावरण का अत्यन्त महत्व है। निःसंदेह वंशानुक्रम को परिवर्तित नहीं किया जा सकता, परन्तु वंशानुक्रम को ध्यान में रखकर बालक के विकास के लिए उचित वातावरण प्रदान किया जा सकता है जिससे उसका सर्वांगीण विकास हो सके। आधुनिक शिक्षक को बाल केन्द्रित शिक्षा माना गया है। अतः बालक के विकास को प्रभावित करने वाले इन दोनों ही कारकों का अध्ययन महत्वपूर्ण माना जाता है।

अभिभावक, अध्यापक तथा प्रशासकगण मानव विकास में वंशानुक्रम तथा वातावरण की भूमिका तथा अन्तःक्रिया से अवगत होकर बालकों के शैक्षिक विकास के लिए अनुकूलतम प्रयास कर सकते हैं। इन प्रयासों को निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है–

(1) शारीरिक विकास के लिए–बालक का शारीरिक विकास शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य है। बालकों के वंशानुक्रम के कारण शारीरिक विभिन्नता पायी जाती है। शारीरिक विकास का शिक्षा

पर भी प्रभाव पड़ता है। इसलिए अध्यापक को शारीरिक विकास तथा वैयक्तिक विभिन्नता के अनुसार शैक्षिक योजना और शिक्षण व्यवस्था बनानी चाहिए।

(2) बालकों के मानसिक स्तर के अनुसार शिक्षण के लिए– बालक कुछ जन्मजात गुणों और क्षमताओं को लेकर जन्म लेता है। अध्यापक को प्रत्येक बालक की क्षमताओं पर ध्यान देना चाहिए तथा बालक की क्षमता एवं योग्यतानुसार ही सीखने की प्रक्रिया में सहयोग देना चाहिए। वंशानुक्रम के कारण ही सीखने की योग्यता में अन्तर होता है।

(3) बालकों की आवश्यकताओं को जानने के लिए–विभिन्न वंशानुक्रम और वातावरण के विभिन्न आयु वर्ग के बालकों की कुछ विशेष आवश्यकताएँ होती है। अध्यापक को इन विशेष आवश्यकताओं की जानकारी होने से वह बालकों का सहयोग उन आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य कर सकता है।

(4) बालकों के व्यवहार के परिमार्जन के लिए–वंशानुक्रम से बालकों में कुछ प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती है, जिनमें से कुछ सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय होती है। इन अवांछनीय प्रवृत्तियों के कारण वह प्रायः समाज में अशिष्ट व्यवहार करता है। ऐसी दशा में अध्यापकों को बालकों की अवांछनीय प्रवृत्तियों पर ध्यान देकर उनका दमन या मार्गान्तीकरण करने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार अध्यापक बालक के अभद्र व्यवहार में सामाजिक दृष्टिकोण प्रदान कर सकता है।

(5) शैक्षिक एवं व्यावसायिक निर्देशन हेतु– मनुष्य जीवन के दो पक्ष होते हैं–एक सामान्य और दूसरा विशिष्ट। सामान्य जीवन सबका लगभग एक–सा होता है परन्तु विशिष्ट जीवन में भिन्नता होती है। अतः सामान्य जीवन की शिक्षा सबको समान रूप से दी जानी चाहिए परन्तु विशिष्ट जीवन की शिक्षा उनके वंशानुक्रम के आधार पर ही दी जानी चाहिए। इसके लिए अध्यापक वंशानुक्रम और वातावरण की जानकारी से उचित शैक्षिक और व्यावसायिक निर्देशन देकर बालकों को सफल भविष्य की ओर अग्रसर कर सकता है।

(6) चारित्रिक एवं नैतिक विकास के लिए– किसी भी समाज में बालकों का नैतिक एवं चारित्रिक विकास उसके आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और राजनैतिक वातावरण तथा मूल्यों के आधार पर ही होता है। अतः अभिभावक और अध्यापकों को इस प्रकार का वातावरण निर्मित करना चाहिए जिससे बालकों का वांछित दिशाओं में नैतिक एवं चारित्रिक विकास किया जा सके।

स्पष्ट है कि वंशानुक्रम एवं वातावरण का ज्ञान बाल विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है तथा शैक्षिक कार्यक्रमों का निर्माण तथा क्रियान्वयन बालक–बालिकाओं के वंशानुक्रम तथा उन्हें उपलब्ध वातावरण को ध्यान में रखकर करना चाहिए।

प्रश्न 43. गामक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों को स्पष्ट कीजिए।

***अथवा,* शारीरिक वृद्धि को प्रभावित करने वाले पर्यावरणीय कारकों का विस्तृत उल्लेख कीजिए।**

***अथवा,* गामक विकास को कौन–से कारक प्रभावित करते हैं ? किन्हीं 4 का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।**

***अथवा,* शारीरिक एवं गत्यात्मक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिये।**

(म. प्र. 2020; ग्वालियर 21)

उत्तर–गामक विकास को प्रभावित करने वाले कारक–

1. परिपक्वता का अभाव–परिपक्वता बाल विकास की प्रधान प्रक्रिया है। इसी के कारण बालक की स्नायुविकता तथा शारीरिक क्षमता का विकास होता है। अतः यदि समय के अनुसार यह परिपक्वता नहीं आती तो बालक का गामक विकास निश्चित अनुक्रमानुसार नहीं होता।

2. बीमारी तथा पौष्टिक भोजन का अभाव—बीमारी के कारण बालक का विलम्बित गामक विकास होता है। रोगों के कारण क्रियाशीलता में अवरोध हो जाता है।

3. शरीर का आकार—उठने–बैठने, खड़े होने, चलने–फिरने तथा अन्य कौशलों के विकास पर शरीर के आकार का प्रभाव पड़ता है। यदि पैर और धड़ की लम्बाई बढ़ जाती है और वजन एवं लंबाई का अनुपात घट जाता है तो शरीर का संतुलन बिगड़ जाता है। छोटी हड्डी वाले दुबले–पतले बच्चे पुष्ट माँसपेशी वाले मोटे बच्चे की अपेक्षा जल्दी चलना सीख लेते हैं।

4. बौद्धिकहीनता—टरमैन तथा **गैरीसन** के अनुसार, मंद बुद्धि वाले बालकों की अपेक्षा प्रखर बुद्धि वाले बालक उठना, बैठना, पकड़ना और चलना–फिरना जल्दी सीख लेते हैं। **कारलिंगर** के अनुसार, जो बालक बैठने, खड़े होने या चलने आदि में मंद होते हैं वे बौद्धिक विकास में भी पिछड़े होते हैं।

5. शिक्षा एवं सभ्यता—अधिक शिक्षित माता–पिता सफाई और सभ्यता के नाम पर बच्चों को नंगे पाँव नहीं चलने देते उन्हें प्रारम्भ से ही जूते मोजे पहना कर गंदगी से बचाने का जबरदस्ती प्रयास करते हैं ऐसा करने से उनका गामक विकास कुंठित हो जाता है। बच्चों का प्रारम्भिक विकास जितना ही सरल, स्वतंत्र और सुविधाजनक होता है उतना ही उसका क्रियात्मक विकास अच्छा होता है।

6. पोशाक या पहनावा—बच्चे के शरीर पर जितने कम कपड़े रहेंगे वह उतनी ही सरलता से अपने शरीर के अंगों को घुमा सकता है। अंग–प्रत्यंग का संचालन भली–भाँति कर सकेगा और उतना ही शीघ्र वह माँसपेशियों पर नियंत्रण कर सकता है।

7. अति चिंता—अतिचिंतित माँ–बाप केवल यही चाहते हैं उनका बालक जल्दी बोलने, खड़े होने, चलने फिरने या दौड़ने लगे। इसके लिए वे भौतिक उपादानों का सहारा लेते हैं। बैठने की योग्यता न होने पर भी वे बच्चों को जल्दी बैठाते हैं जिससे गामक विकास में बाधा पहुँचती है।

8. समुचित वातावरण, अवसर तथा अभ्यास का अभाव—जिन बच्चों को इधर–उधर चलने–फिरने के अधिक स्थान व अवसर मिलते हैं वे बच्चे माँसपेशियों पर बेहतर नियंत्रण प्राप्त कर लेते हैं, जो बच्चे गोद में अधिक रहते हैं वे देर से चलना–फिरना सीख पाते हैं।

जोंस एवं गैरीसन के अनुसार—"अभ्यास के अवसर के अभाव में क्रियात्मक कुशलता अवरुद्ध होती है।"

9. प्रोत्साहन, प्रेरणा और प्रशिक्षण का अभाव—समुचित वातावरण के रहते हुए प्रोत्साहन और प्रेरणा के अभाव में बच्चों की गतियों का विकास अच्छा नहीं हो पाता। **डेनिस और विलियम** के अनुसार, अत्यन्त लाड़–प्यार से पले बच्चे जिन्हें चलने–फिरने की प्रेरणा कम मिलती है वे आलसी एवं परावलम्बी रहते हैं। उनकी गति का विकास धीरे होता है।

10. खेलकूद की सुविधा—कम खेलने–कूदने वाले बच्चों का शारीरिक विकास भी देर से होता है। जिन्हें खेल के अवसर मिलते हैं उनका शारीरिक विकास तेजी से होता है।

11. भय एवं शारीरिक दंड—माँसपेशी तथा स्नायु मंडल की यथेष्ट परिपक्वता के पूर्व यदि बालक को विशिष्ट क्रिया को करने के लिए बाध्य किया जाता है या उसे डराया धमकाया जाता है या शारीरिक दंड दिया जाता है, तो इसका प्रभाव उसके क्रियात्मक विकास पर विपरीत पड़ता है।

प्रश्न 44. उदारीकरण एवं वैश्वीकरण का बचपन पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

(ग्वालियर 2021)

उत्तर—वैश्विक स्तर पर जारी प्रक्रिया के चलते भारत में उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की प्रक्रिया की शुरुआत हुई। इससे हमारे समाज की संरचना में परिवर्तन हुआ और इसका सीधा प्रभाव

विकास प्रक्रिया पर हुआ। उदारीकरण सामान्य तौर पर, आधुनिकीकरण और उन्नति के परिणाम-स्वरूप किसी देश के अंदर की गतिविधियों को संदर्भित करता है।

वैश्वीकरण उन कार्यों को संदर्भित करता है, जो राष्ट्रों के बीच होते हैं जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न देशों के बीच बेहतर एकीकरण होता है।

उदारीकरण अर्थात् समाज की रूढ़िवादी विचारधारा का त्याग कर लचिलेपन के साथ नवीन बदलावों को स्वीकार करना है।

उदारीकरण एवं वैश्वीकरण एक–दूसरे से पूर्णतः स्वतंत्र नहीं है। उदारीकरण के बाद ही वैश्वीकरण संभव है। मानव की विकास की प्रक्रिया पर इन दोनों का काफी प्रभाव पड़ता है।

एक उदाहरण द्वारा समझने का प्रयास करते हैं। लैंगिक रूढ़िवादी विचारधारा में वर्तमान समय में काफी बदलाव आया है, जिसका कारण समाज में जागरूकता का फैलना है।

बचपन से ही जब हम इस सोच के साथ बढ़ते हैं, कि लड़का एवं लड़की में कोई अंतर नहीं दोनों समान क्षमता एवं गुण वाले होते हैं, तो बालक एवं बालिका में एक आत्मविश्वास आता है।

वैश्वीकरण के कारण विश्व की हर सुविधा विश्व के हर कोने में उपलब्ध है जिसका सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों रूप से प्रभाव पड़ता है। जैसे आज गाँव, शहर सभी जगह बच्चे मोबाइल पर खेल खेलना पसंद करते हैं और ये एक नशा जैसा हो गया जिस कारण बालकों में समाजीकरण की प्रक्रिया मंद हो गई है।

बालक में एकाकीपन ज्यादा देखने को मिल रहा है। इसका सकारात्मक पक्ष देखें तो वैश्वीकरण के कारण ही हमें सारी सुविधा उपलब्ध हो जाती है जिससे बचपन में बालक को उचित वातावरण मिल जाता है।

वैश्वीकरण एवं उदारीकरण के कारण बालक–बालिकाओं को बचपन से ही एक स्वस्थ वातावरण मिलता है जिसमें उनका सम्पूर्ण विकास संभव है।

प्रश्न 45. शारीरिक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों की व्याख्या कीजिए।

उत्तर–शारीरिक विकास को प्रभावित करने वाले तत्व–किशोरावस्था में होने वाले शारीरिक विकास और गति को अनेक कारक प्रभावित करते हैं जिनका विवरण निम्नलिखित हैं–

1. आनुवंशिकता या वंशानुक्रम (Heredity)–बालक के शारीरिक विकास पर उसके माता-पिता, पूर्वजों तथा वंशजों के स्वास्थ्य, शारीरिक रचना, दोषों व रोगों का प्रभाव पड़ता है। प्राय स्वस्थ्य माता–पिता की संतानें स्वस्थ और कमजोर माता–पिता की संतानें रोगी और कमजोर होते हैं।

2. वातावरण (Environment)–बालक के शारीरिक विकास पर वातावरण का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता हैं। वातावरण के मुख्य तत्व वायु, धूप और स्वच्छता उसके शारीरिक विकास को प्रभावित करते हैं। स्वच्छ वातावरण में रहने वाले बालक का शारीरिक विकास भली प्रकार से होता है तथा उसमें रोग प्रतिरोधक क्षमता अधिक होती है तथा अशुद्ध वातावरण में रहने वाले बालक प्राय बीमार व रोग ग्रस्त रहते हैं जिससे उनका शारीरिक विकास अवरुद्ध होता है। उनकी रोग प्रतिरोधक क्षमता क्षीण हो जाती हैं।

3. भोजन (Food)–बालक के शारीरिक विकास पर भोजन का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। पौष्टिक व संतुलित भोजन करने वाले का शारीरिक विकास समुचित एवं स्वाभाविक तरीके से होता है। पौष्टिक भोजन की उपलब्धता आर्थिक स्तर पर भी निर्भर करती है व आर्थिक रूप से संप

बालक प्रायः हृदय पुष्ट होते हैं। निर्धन बच्चे निर्बल होते हैं। पौष्टिक भोजन के अभाव में बालक उचित शारीरिक विकास से वंचित रह जाता है।

4. परिवार की स्थिति तथा रहन–सहन का ढंग (Family Status and Method of Living) — परिवार की सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का बालक के शारीरिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। पारिवारिक रहन–सहन, सामाजिक परम्परायें तथा खान–पान का प्रभाव भी उसके शारीरिक विकास पर पड़ता है।

5. दिनचर्या (Routine)—बालक की दिनचर्या का प्रभाव उसके शारीरिक विकास पर पड़ता है। नियमित दिनचर्या से बालक का स्वास्थ्य अच्छा रहता है। अच्छे शारीरिक विकास के लिए आवश्यक है कि बालक की दिनचर्या पर विशेष ध्यान दिया जाये। उसके खाने, नहाने, पढ़ने, खेलने, सोने आदि दैनिक क्रियाओं का समय नियमित रहना चाहिए। बालक में प्रारंभ से ही नियमित दिनचर्या की आदत डालनी चाहिए।

6. विश्राम एवं निद्रा (Rest and Sleep)—बालक के शारीरिक विकास के लिए पूर्ण निद्रा तथा विश्राम आवश्यक है। शैशवावस्था में शिशु को 12 घंटे की नींद आवश्यक होती है। बाल्यावस्था में 10 घंटे की नींद तथा किशोरावस्था में 8 घंटे की नींद आवश्यक होती है। विश्राम और निद्रा शरीर की थकावट को दूर कर नई ताजगी प्रदान करती है, जिससे बालक के शारीरिक विकास को अनुकूल अवसर प्राप्त होते हैं।

7. प्रेम तथा सहानुभूति (Love and Affection)—बालक के संपूर्ण शारीरिक विकास के लिये माता–पिता, परिजनों, अध्यापकों तथा अन्य व्यक्तियों का प्रेम तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार बहुत आवश्यक है जिससे उसे नई स्फूर्ति व उत्साह प्राप्त होते हैं। माता–पिता के स्नेह से वंचित बालक उपेक्षा ग्रस्त हो जाता है और दुखी रहने लगता है। बालक में असुरक्षा की भावना घर कर जाती है, उसमें आत्मविश्वास समाप्त हो जाता है। अतः यह आवश्यक है कि माता–पिता व अध्यापक बालकों से प्रेम एवं स्नेह का व्यवहार रखें जो उसके शारीरिक विकास के लिए सुरक्षा की भावना के विकास में सहायक है।

8. खेल एवं व्यायाम (Play and Exercise)—खेल तथा व्यायाम भी शारीरिक विकास को प्रभावित करते हैं। बालक की दिनचर्या में नियमित रूप से खेल और व्यायाम शामिल होने चाहिये। जिससे माँसपेशियाँ व हड्डियाँ मजबूत होती हैं तथा इससे पाचन शक्ति भी ठीक रहती है। बालकों को खुली हवा और मैदान में खेलने व व्यायाम करने देना चाहिए। शारीरिक विकास की प्रक्रिया इससे प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होती है। अतः बालकों के लिए खेल एवं व्यायाम की आवश्यकता को अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए।

9. दुर्घटना (Accident)—दुर्घटनायें भी बालक के शारीरिक विकास को प्रभावित करते हैं। यदि बचपन में बालक किसी दुर्घटना से प्रभावित हुआ है, जैसे—उसकी हड्डी टूट गयी, जल गया हो, किसी जानवर ने काट लिया हो तो उसका शरीर प्रभावित होता है, जिससे उनके विकास की गति अवरुद्ध होती है।

10. अन्य कारक (Other Factors)—बालक के शारीरिक विकास को अन्य कारक भी प्रभावित करते हैं, जैसे—(1) रोग के कारण उत्पन्न विकृति, (2) भौगोलिक परिस्थितियाँ, (3) परिवार की निर्धनता आदि के कारण भी बालक का शारीरिक विकास प्रभावित होता है।

उपरोक्त कारकों की विवेचना से यह ज्ञात होता है कि शारीरिक विकास कितना महत्वपूर्ण होता है। अतः यह आवश्यक है कि अध्यापकों एवं माता–पिता को बालक के शारीरिक विकास तथा

उसको प्रभावित करने वाले कारकों की जानकारी हो जिससे वे बालक के विकास को एक निश्चित स्वरूप एवं गति प्रदान करने में सहायता प्रदान करें।

प्रश्न 46. "विकास अधिगम व परिपक्वता का परिणाम है।" स्पष्ट कीजिए।

उत्तर–परिपक्वता का अर्थ–जब बच्चे अपनी आयु के अनुसार अपने से बड़े लोगों की आशाओं के अनुरूप उपयुक्त कार्य करते हैं तो वे परिपक्व कहलाते हैं। अर्थात् जब बालक निश्चित मानकों एवं प्रौढ़ों की आशाओं के अनुरूप ऐसे आचरण करते हैं जो उनकी आयु के अनुसार उपयुक्त होते हैं तो वह परिपक्वता की स्थिति होती है। परिपक्वता के अर्थ को स्पष्ट करने की दृष्टि से हमें निम्न परिभाषाओं का अध्ययन करना चाहिये–

बोरिंग लैंग फील्ड व वेल्ड के अनुसार–"परिपक्वता अभिवृद्धि व विकास की वह स्थिति है जो किसी व्यवहार के अधिगम हेतु आवश्यक है।"

एलेक्जेन्डर के अनुसार–"परिपक्वता मूलतः आंतरिक संशोधन की प्रक्रिया है।"

जरशील्ड तथा साथियों के अनुसार–"परिपक्वता वह प्रक्रिया है जो प्राणी में क्रियात्मक तत्परता उत्पन्न करने की क्षमता करती है। इस प्रक्रिया में अभिवृद्धि तथा विकास के कारण हो रहे शारीरिक व मानसिक परिवर्तन भी सम्मिलित है।"

परिपक्वता व अधिगम में सम्बन्ध–

अधिगम–1. अधिगम व्यवहार संशोधन है। 2. अधिगम का आधार परिपक्वता है। 3. अधिगम अर्जित है। 4. अधिगम के लिये बाह्य उत्तेजनाओं की आवश्यकता होती है और व्यक्ति को प्रयत्न करना पड़ता है। 5. अधिगम में विभिन्न क्रिया–प्रतिक्रिया होती है।

परिपक्वता–1. परिपक्वता भी व्यवहार संशोधन है। 2. परिपक्वता स्वाभाविक प्रक्रिया है। 3. परिपक्वता जन्मजात जैवीय प्रक्रिया है। 4. परिपक्वता के लिये बाह्य उत्तेजनाओं की आवश्यकता नहीं होती व व्यक्ति को प्रयत्न ही नहीं करना पड़ता है। 5. परिपक्वता का क्रम निश्चित होता है।

सीखना और परिपक्वता में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, कि इसे मनोवैज्ञानिकों ने दोनों को विकास शब्द से सम्बोधित किया है। सीखने में व्यक्ति के व्यवहार में प्रगतिशील बदलाव होता है। इसी तरह, परिपक्वता से भी व्यक्ति के व्यवहार में प्रगतिशील परिवर्तन होता है। परिपक्वता के अभाव में सीखना असंभव है तथा सीखने की चाह के अभाव में परिपक्वता निरर्थक एवं निस्सार (सार–हीन) है। इस प्रकार सीखने और परिपक्वता से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

प्रश्न 47. 'वंशानुक्रम' की अवधारणा की व्याख्या कीजिए। **(उज्जैन 2022)**

उत्तर–मानव का विकास अनेक कारकों द्वारा होता है। इन कारकों में दो कारक प्रमुख हैं- जैविक एवं सामाजिक। जैविक विकास का दायित्व माता–पिता का होता है और सामाजिक विकास का वातावरण पर। माता–पिता जिस शिशु को जन्म देते हैं, उसका शारीरिक विकास गर्भ काल से आरंभ हो जाता है और जन्म के पश्चात् उसकी मृत्यु तक चलता रहता है। सामाजिक विकास जन्म के पश्चात् मिले वातावरण द्वारा होता है।

जन्म से संबंधित विकास को वंशक्रम कहते हैं। जैसे एक पौधे का वंशक्रम उसके बीज में निहित है और उसके पोषण का दायित्व उसके वातावरण पर है।

अवधारणा–साधारणतया लोगों का विश्वास है कि जैसे माता–पिता होते हैं, वैसे ही उनकी संतान होती है। इसका अभिप्राय यह है कि बालक रंग, रूप, आकृति, विद्वता आदि में माता–पिता से मिलता–जुलता है। दूसरे शब्दों में, उसे अपने माता–पिता के शारीरिक और मानसिक गुण प्राप्त होते हैं

उदाहरण— यदि माता–पिता विद्वान हैं तो बालक भी विद्वान होता है। पर यह भी देखा जाता है कि विद्वान माता–पिता का बालक मूर्ख और मूर्ख माता–पिता की संतान विद्वान होती है। इसका कारण यह है कि बालक को न केवल अपने माता–पिता से वरन् उससे पहले के पूर्वजों से भी अनेक शारीरिक और मानसिक गुण प्राप्त होते हैं। इसी को हम वंशानुक्रम, वंश परम्परा, पैतृकता, आनुवंशिकता आदि नामों से पुकारते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि वंशक्रम की धारणा का स्वरूप अमूर्त है। इसकी अनुभूति व्यवहार तथा व्यक्ति की अन्य शारीरिक मानसिक विशेषताओं द्वारा ही होती है।

(1) बी.एन. झा के अनुसार—"वंशानुक्रम, व्यक्ति की जन्मजात विशेषताओं का पूर्ण योग है।"

(2) जेम्स ड्रेवर के अनुसार—"माता–पिता की शारीरिक एवं मानसिक विशेषताओं का संतानों में हस्तांतरण होना वंशानुक्रम है।"

(3) रूथ वेंडिक्ट के अनुसार—"वंशानुक्रम माता–पिता से संतान को प्राप्त होने वाले गुणों का नाम है।"

वंशानुक्रम की प्रक्रिया—मानव शरीर कोषों का योग होता है। शरीर का आरंभ केवल एक कोष से होता है जिसे 'संयुक्त कोष' कहते हैं। यह कोष 2, 4, 8, 16, 32 और इसी क्रम में संख्या में आगे बढ़ता चला जाता है। 'संयुक्त कोष' दो उत्पादक कोष का योग होता है। इनमें से एक कोष पिता का होता है, जिसे पितृ कोष और दूसरा माता का होता है, जिसे 'मातृ कोष' कहते हैं।

वंशानुक्रम के नियम (सिद्धांत)—वंशानुक्रम के सर्वाधिक प्रचलित नियम निम्नलिखित हैं—

(1) बीजकोष की निरन्तरता का नियम—इस नियम के अनुसार बालक को जन्म देने वाला बीजकोष कभी नष्ट नहीं होता। इस नियम के प्रतिपादक बीजमैन का कथन है— "बीजकोष का कार्य केवल उत्पादक कोषों का निर्माण करना है, जो बीजकोष बालक को अपने माता–पिता से मिलता है, उसे वह अगली पीढ़ी को हस्तान्तरित कर देता है। इस प्रकार बीजकोष पीढ़ी–दर–पीढ़ी चलता रहता है।"

(2) प्रत्यागमन का सिद्धांत—प्रत्यागमन शब्द का अर्थ विपरीत होता है। जब माता–पिता के बच्चे उसके विपरीत विशेषताओं वाले विकसित होते हैं तो यहाँ प्रत्यागमन का सिद्धांत लागू होता है, जैसे—मंद बुद्धि, माता–पिता की संतान का प्रखर बुद्धि होना। विद्वानों नें इसके संदर्भ में निम्न धारणाएँ पेश की हैं—

(i) अगर वंश सूत्रों का मिश्रण सही रूप से नहीं हो पाता है, तो विपरीत विशेषताओं वाले बच्चे विकसित होते हैं।

(ii) जाग्रत एवं सुषुप्त दो तरह के गुण वंश को निश्चित करते हैं। विपरीत विशेषताएँ सुषुप्त गुणों का परिणाम होती हैं।

(3) मेण्डल का नियम—मेण्डल के नियमानुसार वर्णसंकर प्राणी या वस्तुएँ अपने मौलिक या सामान्य रूप की ओर अग्रसर होती हैं। इस नियम को जेकोस्लोवेकिया के मेण्डल नामक पादरी ने प्रतिपादित किया था।

मेण्डल ने बड़ी और छोटी मटरें बड़ी संख्या में मिलाकर बोयीं। उगने वाली मटरों में सब वर्णसंकर जाति की थीं। मेण्डल ने इस वर्णसंकर मटरों को फिर बोया और इस क्रिया को कई बार दोहराया और अंत में मेण्डल को वर्णसंकर के बजाय शुद्ध मटर प्राप्त हुई।

(4) अर्जित गुणों के संक्रमण का नियम—लेमार्क के अनुसार, व्यक्तियों द्वारा अपने जीवनकाल में जो कुछ भी अर्जित किया जाता है, वह उनके द्वारा उत्पन्न किये जाने वाले संतानों द्वारा अर्जित किया जाता है।

(5) वंशानुक्रम का विभिन्नता का नियम—वंशानुक्रम का विभिन्नता के नियम के अनुसार, बच्चे अपने माता–पिता के बिल्कुल समान न होकर उनसे कुछ भिन्न होते हैं। इसी प्रकार, एक ही माता-पिता के दो बच्चे भी एक–दूसरे से भिन्न हो सकते हैं।

वंशानुक्रम का महत्व—वंशानुक्रम का आज की शिक्षा प्रणाली और बच्चों के जीवन में पड़ने वाले असर और महत्व को हम निम्नलिखित बिन्दुओं की सहायता से समझ सकते हैं—

(1) वंशानुक्रम के प्रभाव से सभी बच्चों की शारीरिक संरचना में विविधता होती है, जिसके माध्यम से एक शिक्षक बच्चों की शारीरिक संरचना के आधार पर उसके विकास में ध्यान दे सकता है।

(2) बालकों और बालिकाओं में लिंगीय भेद का कारण भी वंशानुक्रम ही है, जिससे किसी अहम विषय में बालक एवं बालिकाओं की रुचि और समझने की योग्यताओं में अंतर हो सकता है, जिसके ज्ञान के आधार पर शिक्षक उनकी और बेहतर ढंग से मदद कर सकता है।

(3) वंशानुक्रम के फलस्वरूप बच्चों में अनेक प्रकार की विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। शिक्षक बच्चों की इन विभिन्नताओं के आधार पर शिक्षा की योजना तैयार कर सकता है।

(4) बालकों को वंशानुक्रम से प्राप्त अच्छी और बुरी प्रवृत्तियों का अध्ययन करके उनकी बुरी प्रवृत्तियों को खत्म करने के प्रयास किये जा सकते हैं।

प्रश्न 48. वातावरण क्या है ? बालक के विकास में इसका योगदान स्पष्ट कीजिए।

(छिंदवाड़ा 2022)

उत्तर— वातावरण पर्यावरण से भिन्न नहीं है। वातावरण पर्यावरण का ही पर्याय है अर्थात् हमारे आसपास का माहौल ही वातावरण है। ऐसा आवरण जो हमें चारों ओर से घेरे हुए है वही वातावरण है। इसको और समझने के लिए विभिन्न मनोवैज्ञानिक ने भिन्न–भिन्न रूप से इसे परिभाषित किया है—

रॉस के अनुसार— "वातावरण में वे सभी बाह्य तत्व आ जाते हैं जिन्होंने व्यक्ति को जीवन आरम्भ करने के समय से प्रभावित किया है।"

पी जिसबर्ट के अनुसार— "वातावरण उन सबको कहते हैं जो किसी वस्तु को चारों ओर से घेरे रहती है और उस पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती है।"

बालक के विकास में वातावरण का योगदान— मनोवैज्ञानिकों तथा शिक्षाविदों ने यह सिद्ध कर दिया है की वंशानुक्रम के साथ–साथ बालक के विकास पर वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है इसलिए यहाँ उन पक्षों पर विचार करेंगे जो वातावरण से प्रभावित होते हैं।

(1) वातावरण का मानसिक विकास पर प्रभाव— बालक का मानसिक विकास केवल बुद्धि नहीं होता है, उसमें बालक की ज्ञानेन्द्रियाँ, मस्तिष्क के सभी भाग ग्राह्य तथा मानसिक क्रियाएँ आदि शामिल होती है। इसलिए बालक वंश से जो कुछ लेकर जन्म लेता है, उसका विकास उचित वातावरण से ही हो सकता है। वातावरण से बालक की बौद्धिक क्षमता में तेजी आती है एवं मानसिक प्रक्रिया का सही विकास होता है। **गोर्डन** तथा **कीमैन** आदि विद्वानों ने अपने–अपने अध्ययनों से स्पष्ट किया है कि अच्छा वातावरण बच्चों के मानसिक वातावरण में सहयोग देता है।

(2) वातावरण का व्यक्तित्व विकास पर प्रभाव— व्यक्ति का विकास आन्तरिक क्षमताओं के विकास तथा नवीनताओं को ग्रहण करके किया जाता है। इन दोनों ही परिस्थितियों हेतु उपयुक्त वातावरण को उपयोगी माना गया है।

(3) वातावरण का शिक्षा पर प्रभाव— बालक की शिक्षा बुद्धि, मानसिक प्रक्रिया तथा सुन्दर वातावरण पर निर्भर करती है। शिक्षा का उद्देश्य बालक का सामान्य विकास करना होता है। अतः शिक्षा के क्षेत्र में सभी बच्चों का सही विकास हो सके, यह उपयुक्त शैक्षिक वातावरण पर ही निर्भर करता है। दैनिक रूप से यह पाया जाता है कि उच्च बुद्धि वाले बच्चे भी सही वातावरण के बगैर उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाते।

(4) वातावरण का सामाजिक गुणों पर प्रभाव— बालक का सामाजीकरण उसके सामाजिक विकास पर निर्भर करता है। समाज का वातावरण उसे सामाजिक गुण तथा विशेषताओं को धारण करने के लिए उन्मुख करता है। **न्यूमैन, कीमैन तथा होलिंजगर** ने 20 जोड़े बच्चों का अध्ययन किया। उन्होंने जोड़े के एक बच्चे को गाँव में एवं दूसरे बच्चे का नगर में रखा। बड़े होने पर गाँव के बच्चे में अशिष्टता, चिन्ताएँ, भय, हीनता तथा क्रम बुद्धिमता आदि विशेषताएँ पायी गयीं जबकि शहर के बच्चे में शिक्षित व्यवहार, चिन्तामुक्त, भयहीन तथा निडरता एवं बुद्धिमता आदि विशेषताएँ पायी गयीं। इसलिए स्पष्ट होता है कि वातावरण सामाजिक गुणों पर प्रभाव डालता है।

(5) वातावरण का बालक के सर्वांगीण विकास पर प्रभाव— शिक्षा का परम उद्देश्य बालक का सर्वांगीण विकास करना है। यह विकास तभी सम्भव हो सकता है, जब उन्हें अच्छे वातावरण में रखा जाय। यह वातावरण ऐसा हो जिसमें बालक की वंशानुक्रमीय विशेषताओं का सही प्रकाशन हो सके। भारत एवं विदेशों में जिन बच्चों को जंगली जानवर उठाकर ले गये एवं उनको मारने के स्थान पर उनका पालन–पोषण किया। कुछ समय बाद वे पकड़े गये। उनका सम्पूर्ण विकास जानवरों जैसा था, बाद में उनको मानवीय वातावरण देकर सुधार लिया गया। अतः स्पष्ट होता है कि वातावरण ही बालक के सर्वांगीण विकास में सहयोगी होता है। जैसे कि **स्टीफैन्स** ने लिखा है, "एक बालक जितना ज्यादा समय अच्छे वातावरण में रहता है, वह उतना ही ज्यादा इस वातावरण की तरफ उन्मुख रहता है।"

(6) शारीरिक विकास पर प्रभाव— फ्रेंच बोन्स का कहना है कि विभिन्न प्रजातियों के शारीरिक अंतर का कारण वंशानुक्रम न होकर वातावरण है। उन्होंने अनेक उदाहरणों से स्पष्ट किया है कि जो जापानी और यहूदी अमेरीका में अनेक पीढ़ियों से निवास कर रहे हैं, उनकी लम्बाई भौगोलिक वातावरण के कारण बढ़ गयी है।

(7) बुद्धि पर प्रभाव— बुद्धि के विकास में वातावरण का प्रभाव अधिक पड़ता है शिक्षा का उत्तम वातावरण बालकों की बुद्धि में प्रशंसनीय योगदान देते हैं। बाल सुधार गृह के बच्चे भी पढ़ लिख कर अच्छे इंसान बन जाते हैं।

(8) संस्कृति पर प्रभाव— सांस्कृतिक वातावरण की विभिन्नता के कारण बालक के आचरण रहन–सहन खानपान आदर्शों और मान्यताओं में अंतर होता है जैसे विभिन्न सांस्कृतिक वातावरण के कारण ही हिन्दू एवं मुस्लिम समाज में अनेक विभिन्नताएँ पाई जाती है जैसे एक ही माता–पिता की दो संतानों को अलग–अलग देशों में रख दिया जाए तो दोनों की संस्कृति में अंतर आ जाता है।

प्रश्न 49. बच्चों के सामाजिक एवं नैतिक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए। **(छिंदवाड़ा 2022)**

अथवा

बालक के सामाजिक विकास पर वातावरण के प्रभाव को समझाइए। **(ग्वालियर 2022)**

उत्तर— सामाजिक विकास— सामाजिक विकास से तात्पर्य जीवन के प्रति एक अच्छे दृष्टिकोण के विकास, आंतरिक चेतना के विकास और समाज के सदस्यों द्वारा बुनियादी नैतिक सिद्धान्तों की

स्वीकृति से है। सामाजिक विकास उन परिवर्तनों को लक्षित करता है जो प्रगति की ओर उन्मुख होते हैं। सामाज़िक विकास का संबंध सामाजिक तत्वों और सामाजिक संस्थाओं से है।

हेज के अनुसार– "सामाजिक विकास वह प्रक्रिया है जिसके कारण अपेक्षाकृत सरल समाज एक विकसित समाज के रूप में परिवर्तित होता है।"

सोरेन्सन के अनुसार– "सामाजिक वृद्धि एवं विकास से हमारा तात्पर्य अपने साथ और दूसरों के साथ भली–भाँति चलने की बढ़ती हुई योग्यता है।"

नैतिक विकास– मनुष्य में नैतिक विकास नैतिक गुणों को ग्रहण करने की प्रक्रिया को कहा जाता है। इसे सामाजिक परिवेश से सीखा या अर्जित किया जाता है। सर्वप्रथम बालक का अनौपचारिक रूप से अपने पास–पड़ोस तथा स्कूल में नैतिक विकास होता है। निसंदेह बच्चा पहले पुरस्कार, दण्ड प्रशंसा या निंदा के द्वारा अच्छे आचरण सम्पन्न करता है। और बुरे आचरण का त्याग कर देता है और किशोरावस्था में उसके भीतर विवेक उत्पन्न होता है। और इसी विवेक के द्वारा वह नैतिक व्यवहार सिखता जाता है। जब नैतिक व्यवहार के बाहरी स्रोत समाप्त हो जाते हैं। तो वह आन्तरिक स्रोत अर्थात् विवेक के माध्यम से नैतिक व्यवहार को सीखता है और अपने आचरण को नैतिक बनाने का प्रयास करता रहता है।

डेविस के अनुसार– "नैतिक कानून नियमों की वह व्यवस्था है जो अच्छे और बुरे से संबंधित है और जिसका अनुभव अंतरात्मा द्वारा होता है।"

डेविस के अनुसार– "नैतिकता कर्तव्य की वह आन्तरिक भावना है जिसमें उचित और अनुचित का विचार अंतर्निहित है।"

सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाले कारक–

(1) विद्यालय का वातावरण– विद्यालय का वातावरण भी सामाजिक विकास को बहुत अधिक प्रभावित करता है, यदि विद्यालय का वातावरण मधुर है तो बालक का सामाजिक विकास संतोषजनक होगा। जनतंत्रीय सिद्धान्तों पर चलने वाले विद्यालयों में बालकों का सामाजिक विकास अच्छी तरह से होता है।

(2) शिक्षक का मानसिक स्वास्थ्य– बालक के सामाजिक विकास पर शिक्षक के मानसिक स्वास्थ्य का भी काफी प्रभाव पड़ता है यदि शिक्षक अपने छात्रों से सहानुभूति रखता है तो उस बालक का मानसिक विकास अच्छा रहता है।

(3) माता–पिता का दृष्टिकोण– बालक के माता–पिता का दृष्टिकोण भी सामाजिक विकास को प्रभावित करता है। जिस बालक को अत्यधिक लाड़–प्यार मिलता है उसका सामाजिक विकास अन्य बालकों की अपेक्षा कम होता है।

(4) वंशानुक्रम– वंशानुक्रम बालक की अनेक योग्यताएँ निर्धारित करता है। सामाजिक विकास को वंशानुक्रम प्रभावित करता है। परंतु कुछ मनोवैज्ञानिक सामाजिक विकास पर वंशानुक्रम के प्रभाव को कुछ सीमा तक ही मानते हैं।

(5) शारीरिक विकास– जिस बालक का शारीरिक विकास संतोषजनक होता है। उसका सामाजिक विकास भी संतोषजनक होता है।

(6) परिवार– बालक का सामाजीकरण परिवार से ही आरम्भ होता है। बालक के परिवार वाले जिस तरह का व्यवहार करते है, बालक भी वैसा ही अनुकरण करता है।

(7) संवेगात्मक विकास– संवेगात्मक विकास भी सामाजिक विकास को प्रभावित करता है क्रोधी व्यक्ति से सभी घृणा करते हैं, चिड़चिड़े स्वभाव के व्यक्ति को भी कोई पसंद नहीं करता है परंतु मधुर स्वभाव वाला व्यक्ति सभी को अपनी ओर आकर्षित करता है।

नैतिक विकास को प्रभावित करने वाले कारक–

(1) आयु– आयु बढ़ने के साथ जैसे–जैसे बालक में बौद्धिक प्रखरता, संवेगात्मक–संतुलन तथा सामाजिक समायोजन की क्षमता बढ़ती जाती है। वैसे–वैसे उनमें उचित–अनुचित तथा अच्छे बुरे का ज्ञान भी बढ़ता है। बालक में केवल आयु–वृद्धि के साथ ही नैतिक गुणों का विकास होता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता बल्कि बालक की आयु बढ़ने के साथ–साथ वातावरण के विभिन्न तत्व या कारक व्यापक रूप से उनके नैतिक व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

(2) बुद्धि– नैतिक व्यवहार तथा बुद्धि का पारस्परिक संबंध है। तीव्र बुद्धि वाले बालकों में परिस्थिति को समझने की तथा उसके अनुकूल उचित निर्णय लेने की अधिक क्षमता होती है। वह नैतिक मूल्यों के महत्व को समझता है। अत: विषम परिस्थितियों में उसकी प्रबल नैतिक भावना उसे अनुचित व्यवहार करने से रोकती है।

(3) साथी समूह– बालक के नैतिक व्यवहार पर साथी समूह का भी प्रभाव पड़ता है। बालक जैसे मित्र का साथ रखेगा उसका व्यवहार धीरे–धीरे उस मित्र जैसा ही होता जाता है।

(4) परिवार– परिवार बालक की प्रथम पाठशाला है। परिवार में रहकर वह अनेक प्रकार का व्यवहार सीखता है। परिवार के सदस्यों के व्यवहार को बालक आदर्श मानकर चलता है। परिवार के सदस्यों में आपसी संबंध किस प्रकार का है, इस पर बालक का नैतिक विकास और नैतिक व्यवहार निर्भर करता है। परिवार की सामाजिक, आर्थिक स्थिति भी इसके लिए उत्तरदायी होती है। परिवार नैतिक विकास पर निम्न प्रकार से प्रभाव डालता है–

(i) बालक परिवार के व्यवहार को आदर्श मानकर उसका अनुकरण करता है।

(ii) दण्ड एवं पुरस्कार प्रशंसा तथा प्रताड़ना बालक को नैतिक व्यवहार सिखाते हैं।

प्रश्न 50. बाल विकास में जनसंचार की भूमिका पर चर्चा कीजिए। (छतरपुर 2022)

***अथवा*, सामाजिक विकास पर संचार के साधनों का प्रभाव बताइए। (जबलपुर 2022)**

उत्तर– सामाजिक विकास सामाजिक परिवर्तन का एक रूप है जो एक उन्नत दिशा की ओर विभेदीकरण की ओर जाता है और संगठनों के स्तर, दक्षता, स्वतंत्रता और पारस्परिकता को बढ़ाता है। विकास उन्नत दिशा की दिशा में एक प्रकार का परिवर्तन है। सामाजिक विकास से तात्पर्य जीवन के प्रति एक अच्छे दृष्टिकोण के विकास, आंतरिक चेतना के विकास और समाज के सदस्यों द्वारा बुनियादी नैतिक सिद्धान्तों की स्वीकृति से है। विकास उन परिवर्तनों को लक्षित करता है जो प्रगति की ओर उन्मुख होते हैं। विकास एक सामाजिक प्रक्रिया है इसका आर्थिक पहलू से अधिक लेना–देना है। परंतु सामाजिक विकास का सम्बन्ध केवल आर्थिक पहलू से ही नहीं है बल्कि सामाजिक तत्वों और सामाजिक संस्थाओं से भी है।

हेज के अनुसार– "सामाजिक विकास का अभिप्राय जीवन के प्रति अच्छे दृष्टिकोण का विकास, आन्तरिक चेतना के विकास तथा समाज के सदस्यों द्वारा किन्ही आधारभूत नैतिक सिद्धान्तों को स्वीकार करना है।"

बी. एस. डीसूजा– "सामाजिक विकास वह प्रक्रिया है जिसके कारण अपेक्षाकृत सरल समाज एक विकसित समाज के रूप में परिवर्तित होगा।"

सामाजिक विकास पर संचार के साधनों का प्रभाव–

जनसंचार माध्यमों से सामाजिक एवं सांस्कृतिक सामग्रियों का प्रचार किया जाता है। इस प्रकार उससे बाल विकास भी प्रभावित होता है। इस तरह के कार्यक्रम देखकर बालक में सामाजिक

गुणों का विकास होता है। बालक द्वारा टेलिविजन देखते समय विभिन्न नाटक एवं फिल्में देखी जाती है जिसमें हमारे सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन की झाँकी दिखाई देती है। इसी क्रम में रेडियो, टेपरिकार्डर, पत्रिका एवं समाचार–पत्रों के माध्यम से छात्रों में सामाजिक विकास की तीव्रता पायी जाती है।

संचार मानव समाज का अभिन्न अंग है। संचार के माध्यम से ही मनुष्य विकास की सीढ़ियों पर चढ़ते हुए आज सम्पूर्ण दुनिया को अपनी मुट्ठी में किया हुआ है। संचार के अभाव में मानव समाज का निर्माण ही नहीं हो सकता है। मनुष्य अपने दिनचर्या में विभिन्न प्रकार की संचार प्रक्रिया में सम्मिलित रहता है। आज के सामाजिक परिवर्तन के नये माहौल में मानव विकास को बढ़ावा देने में संचार एक निर्णायक भूमिका निभा रहा है। समाज बहस के लिए खुल रहे हैं और बाजार व्यक्तिगत पहल के लिए, निजीकरण और उद्यमिता को बढ़ावा मिल रहा है। नई प्रौद्योगिकियाँ व्यापक रूप से उपलब्ध हो रही है। संचार के माध्यम से लोग तेजी से और बड़ी ही आसानी से एक–दूसरे से जुड़े रह रहे हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि संचार मानव जीवन और मानव समाज में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह न केवल जानकारी साझा करने को सुविधाजनक बनाने में मदद करता है, बल्कि लोगों को एक–दूसरे के साथ संबंध विकसित करने में भी सहायक बन रहा है।

संचार के साधन तथा इसके महत्व–

1. डाक सेवाएँ– यह छः अंकों की एक संख्या होता है, जो सम्पूर्ण देश के नगरों एवं कस्बों को आबंटित की गयी है। इन कोड की सहायता से राज्य जनपद, तहसील एवं डाकघर का सुगमता से पता चल जाता है।

2. दूरसंचार सेवाएँ– दूरसंचार नेटवर्क देश के आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करता है। इसके सहयोग से वैश्विक अर्थव्यवस्था को आत्मसात करने का अवसर मिलता है। आज व्यापारी, कर्मचारी, पेशेवर कृषक और विभिन्न व्यवसायों में लगे सभी वर्गों के लोग दूरसंचार से लाभान्वित हो रहे हैं।

3. केबिलग्राम– समुद्र में बिछे हुए तारों की सहायता से विदेशों में समाचार के आदान–प्रदान को केबिलग्राम कहा जाता है।

4. बेतार का तार– इसे वायरलेस भी कहते हैं। इसका आविष्कार मारकोनी नामक वैज्ञानिक ने किया था। इसके द्वारा कोई भी आदेश व सन्देश तुरंत प्रसारित हो जाता है। वायरलेस का अधिकतर प्रयोग अब सेना और पुलिस करती है। शीघ्र समाचार डाकघर द्वारा इसी माध्यम से भेजे जाते हैं।

प्रश्न 51. शारीरिक विकास में विभिन्न पोषक तत्वों की उपयोगिता एवं कार्य लिखिए।

***अथवा,* संतुलित आहार से क्या तात्पर्य है ? संतुलित भोजन की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।**

***अथवा,* हमारे भोजन में उपस्थित विभिन्न पोषक तत्वों के कार्यों का वर्णन कीजिए।**

***अथवा,* विटामिन A, B, C एवं D की कमी से होने वाले रोगों के नाम और उनके लक्षणों को लिखिए।**

***अथवा,* विभिन्न पोषण तत्वों के नाम लिखिए एवं संक्षिप्त में वर्णन कीजिए।**

उत्तर–संतुलित भोजन–जिस भोजन में, भोजन के सभी अवयव उचित मात्रा में उपस्थित रहते हैं, उसे संतुलित भोजन कहते हैं। ये अवयव हैं–

(1) कार्बोहाइड्रेट, (2) प्रोटीन, (3) वसा, (4) खनिज लवण, (5) विटामिन, (6) जल।

1. कार्बोहाइड्रेट—कार्बोहाइड्रेट कार्बन, हाइड्रोजन एवं ऑक्सीजन से मिलकर बने होते हैं। जिनका सामान्य सूत्र $C_nH_{2n}O_n$ होता है। जैसे—ग्लूकोज, फ्रक्टोज, सुक्रोज, सेल्युलोस आदि।

स्त्रोत—चुकन्दर, आलू, शकरकन्द, गेहूँ, चावल, मक्का, साबूदाना, गुड़, शक्कर, फलों के रस आदि।

कार्य—(i) शरीर को ऊर्जा प्रदान करना।

(ii) श्रम साध्य कार्य करने के लिए ऊर्जा की अधिक आवश्यकता।

2. प्रोटीन—इसके निर्माणात्मक घटक तत्व कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, सल्फर तथा फॉस्फोरस होते हैं। नाइट्रोजन मूत्र के द्वारा शरीर से बाहर निकलता है। माँसपेशियाँ, बाल, नाखून, त्वचा प्रोटीन की बनी होती है।

स्त्रोत—दालें, अण्डा, मांस, मछली, दूध, मटर, पनीर आदि।

कार्य—(i) शरीर में होने वाली टूट–फूट की मरम्मत करना।

(ii) शरीर का विकास एवं वृद्धि करना।

(iii) कार्बोहाइड्रेट की कमी की स्थिति में शरीर को ऊर्जा प्रदान करना।

(iv) पाचक रसों, हॉर्मोन, रक्त का निर्माणात्मक अवयव है।

(v) रोग–निवारण शक्ति उत्पन्न करना।

3. वसा—यह हाइड्रोजन, ऑक्सीजन एवं कार्बन से मिलकर बनता है। वसा के दो स्त्रोत हैं— जन्तु एवं वनस्पति।

स्त्रोत—घी, दूध, अण्डा, मछली, तेल, मूंगफली, नारियल, बादाम, अखरोट, काजू आदि।

कार्य—(i) शरीर को ताप पहुँचाना एवं शक्ति प्रदान करना।

(ii) शरीर के तापक्रम को सुरक्षित रखना।

(iii) विटामिन E एवं K का स्त्रोत होना।

(iv) शरीर में ऊर्जा को एकत्र करके रखना एवं उपवास या बीमारी के समय उपलब्ध कराना।

4. खनिज लवण—खनिज लवण हमारे शरीर का प्रमुख तत्व है। शरीर के भार का 20वाँ भाग इनके द्वारा निर्मित होता है। ये शरीर से निकलते रहते हैं। भोजन के माध्यम से इनकी पूर्ति होती है— जैसे—सोडियम, जिंक, मैग्नीशियम, कैल्सियम, आयोडीन, आयरन, पोटैशियम आदि।

स्त्रोत—नमक, दूध, अण्डा, हरी सब्जियाँ, सभी प्रकार के फल, पनीर, दही, मांस, मछली आदि।

कार्य—(i) ये पाचक रसों को उत्तेजित करते हैं।

(ii) अम्ल–क्षार का संतुलन बनाये रखते हैं।

(iii) शरीर के विकास में सहयोग देते हैं।

(iv) हृदय की गति पर नियंत्रण रखते हैं।

(v) रक्त के निर्माणात्मक अवयव हैं।

(vi) रक्त का दबाव सही रखते हैं।

5. विटामिन—विटामिन शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाते हैं। ये पाचन तंत्र एवं तंत्रिका तंत्र को भी शक्ति प्रदान करते हैं। इनके अभाव में कई रोग होते जाते हैं एवं विकास भी अवरुद्ध हो जाता है। ये कई प्रकार के हैं—

विटामिन A—आँख से संबंधित बीमारियाँ इस विटामिन की कमी के कारण होती हैं, रतौंधी, अंधता।

स्त्रोत–पीले फल–आम, पपीता, पालक, दूध, अण्डा आदि।

विटामिन B—ये नौ तरह के होते हैं। इनकी कमी से बेरी–बेरी, त्वचा का फटना, मुँह में छाले होना, मुख के किनारों का फटना, पाचन संबंधी रोग होते हैं।

स्त्रोत–सभी अनाजों के छिलके, छिलके वाली दालों, सूखे मेवों, दूध में पाया जाता है।

विटामिन C—इसकी कमी से स्कर्वी नामक रोग होता है। मसूड़ों एवं मुख संबंधी रोग इसकी कमी से होता है। यह खट्टे फलों नींबू, संतरा, आँवला, अंगूर आदि में पाया जाता है।

विटामिन D—इस विटामिन को अस्थि विकृत नाशक विटामिन भी कहते हैं। इसकी कमी से रिकेट्स नामक रोग होता है। यह अण्डा, दूध, मक्खन, मछली, सूर्य के प्रकाश से मिलता है।

विटामिन K—इस विटामिन की कमी से रक्त का थक्का नहीं बनता। यह फूलगोभी, पालक, मेथी आदि में पाया जाता है।

विटामिन E—इसका मुख्य कार्य प्रजनन शक्ति का विकास करना है। यह सूखे मेवों, घी, दूध में पाया जाता है।

प्रश्न 52. बालिकाओं की शैक्षिक समस्याओं का वर्णन कीजिए।

(छतरपुर 2021; छिंदवाड़ा 22

उत्तर– इसमें कोई संदेह नहीं की स्वतंत्र भारत में स्त्रियों की शिक्षा में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं, परंतु इन सबके बावजूद भी स्त्री शिक्षा की वर्तमान स्थिति संतोषप्रद नहीं है। पुरुषों का एक वर्ग, धार्मिक संकीर्णता, रुढ़िवादिता, आज भी स्त्रियों को शिक्षित होने नहीं देना चाहती। आज भी स्त्री शिक्षा में बहुत–सी बाधाएँ हैं। हमें उन बाधाओं को समझना है एवं उनके निराकरण हेतु समाधान खोजना हैं, जिससे स्त्री शिक्षा सहज एवं सुलभ बन सके। स्त्री शिक्षा में आने वाली कुछ ज्वलंत समस्याएँ निम्नानुसार हैं–

1. बालिकाओं की शिक्षा के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण का अभाव—बालिकाओं/महिलाओं की शिक्षा के विकास में सबसे प्रमुख अवरोधक तत्व हैं सकारात्मक मनोवृत्ति की कमी आज के वैज्ञानिक युग में कुछ भारतीय अभी भी रूढ़ियों, अंधविश्वासों तथा परम्पराओं को मानते आ रहे हैं।

इसी कारण से हमारे देश की जनसंख्या के एक बड़े वर्ग में बालिकाओं की शिक्षा के विषय में पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा रहा है। छुआछूत, बाल विवाह, पर्दाप्रथा जैसी रूढ़ियों के कारण अनेक बालिकाओं को शिक्षा से वंचित रह जाना पड़ता है।

अभी भी कुछ लोग मानते हैं कि स्त्री का कार्यक्षेत्र घर तक ही है। वे मानते हैं कि स्त्रियाँ पढ़कर सभी स्वतंत्रता की मांग करती है जो चरित्रहीनता का सूचक है। ग्रामीण क्षेत्रों में यह समस्या ज्यादा गंभीर है। ग्रामीण क्षेत्र की महिलाएँ एक–दो वर्ष अध्ययन करके ही पढ़ना छोड़ देती हैं। इस समस्या के हल हेतु हमें जनमानस के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना पड़ेगा एवं जागरूकता अभियान चलाकर हम ऐसे लोगों का दृष्टिकोण बदल सकते हैं।

2. शैक्षिक अवसरों में असमानता—बालिकाओं की शिक्षा के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है बालिकाओं के समान शिक्षा प्राप्त करने के अवसर नहीं मिल पाते। हमारे देश में शिक्षा के सभी स्तरों पर एवं लगभग सभी पक्षों पर बालकों तथा बालिकाओं की शिक्षा में असमानतायें पाई जाती है। बालिकाओं को शिक्षा प्राप्त करने के अवसर बालकों की अपेक्षा कम मिल पाते हैं।

आज प्रजातान्त्रिक स्वरूप की रक्षा के लिए दोनों बालक एवं बालिकाओं का समान रूप से पढ़ना आवश्यक है इसलिए हमें बालिकाओं को शिक्षा प्राप्ति के अवसर बालकों के समान प्र

करने के लिए प्रयास करना चाहिए। राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में इस दिशा में विशेष प्रयास करने का संकल्प लिया है।

3. अपव्यय एवं अवरोधन की समस्या—अपव्यय एवं अवरोधन स्त्री शिक्षा के लिए एक गंभीर समस्या है। अन्य देशों की तुलना में हमारे देश में स्त्री शिक्षा में अपव्यय एवं अवरोधन अधिक पाया जाता है। प्रायः यह देखा गया है कि पहली कक्षा में प्रवेश लेने वाली 100 बालिकाओं में से केवल 35 बालिकाएँ ही पाँचवी कक्षा तक पहुँच पाती है तथा लगभग 20 ही कक्षा आठवीं तक पहुँचती है। बालकों की अपेक्षा बालिकाओं में अपव्यय एवं अवरोधन ज्यादा पाया जाता है। इसी प्रकार शहरों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में अपव्यय एवं अवरोधन के मुख्य कारण है। बालिकाओं के शिक्षा के प्रसार के लिए अपव्यय एवं अवरोधन के कारणों को दूर करना पड़ेगा।

4. दोषपूर्ण पाठ्यक्रम—वर्तमान में प्रचलित पाठ्यक्रम नीरस तथा अरुचिकर है। बालकों एवं बालिकाओं के लिए समान पाठ्यक्रम भी एक मुख्य कारण है। बालिकाओं के पाठ्यक्रम में हस्तशिल्प, संगीत, चित्रकला, पाक कला, गृह विज्ञान, गृह परिचर्चा, गृह अर्थशास्त्र, मातृत्वकला जैसे विषय होने चाहिए। क्योंकि ये विषय बालिकाओं की रुचि के अनुरूप एवं उनके भविष्य में काम में आने वाले हैं। कुछ शिक्षाविद् इसका विरोध करते हैं वे बालक एवं बालिकाओं के लिए समान पाठ्यक्रम की वकालत करते हैं।

5. दोषपूर्ण प्रशासन—वर्तमान शासन प्रणाली प्रशासन भी स्त्री शिक्षा के विकास में बाधक है। शिक्षा के क्षेत्र में अनेक प्रशासनिक कठिनाइयाँ एवं बाधायें आती हैं। प्रशासन में अधिकतर पुरुष अधिकारी कार्यरत है, अतः वे महिलाओं की आवश्यकताओं को समझ नहीं पाते और न ही वे स्त्री शिक्षा में विशेष रुचि लेते हैं।

इसीलिए स्त्री शिक्षा से संबंधित समस्याओं के समाधान तथा प्रशासन का दायित्व पुरुषों की जगह स्त्रियों को सौंप देना चाहिए। स्त्रियों को यह उत्तरदायित्व देने से वे स्त्रियों की समस्याओं को अच्छे से समझ पायेगी और स्त्री शिक्षा के विकास में वे रुचि भी लेगी तथा इससे उपयुक्त कार्यक्रमों का निर्माण, क्रियान्वयन एवं पर्यवेक्षण अपेक्षाकृत अच्छा होगा। सरकार बालकों की शिक्षा की तुलना में स्त्री शिक्षा के विकास पर कम धन राशि व्यय करती है।

6. अध्यापिकाओं का अभाव—स्त्री शिक्षा के प्रसार में एक बहुत बड़ी बाधा अध्यापिकाओं की कमी का होना है। यह न केवल उच्च माध्यमिक स्तर पर वरन् प्राथमिक स्तर पर भी प्रशिक्षित अध्यापिकाओं की कमी है। इसके मुख्य कारण है असुरक्षा, आवागमन की असुविधा, आवास की व्यवस्था न होना, परिवार की असहमति इत्यादि।

इन्हीं कारणों से प्रशिक्षित एवं अप्रशिक्षित महिलाएँ नौकरी नहीं कर पाती हैं। कई बार महिला शिक्षक न होने से भी बालिकाएँ कक्षाओं में नहीं आतीं। शहरों में तो महिला शिक्षिकाएँ मिल भी जाती हैं, परन्तु ग्रामीण क्षेत्र में इनकी संख्या बहुत कम है, इसलिए ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्री शिक्षा की प्रसार भी कम है। अच्छी सुरक्षा, आवास, गृहस्थल के पास स्कूल, मनोरंजन, विशेष भत्ता आदि देकर महिला अध्यापिकाओं की संख्या बढ़ा सकते हैं जिससे स्त्री शिक्षा में यथोचित विस्तार होगा।

7. आर्थिक समस्या—स्त्री शिक्षा में घर की आर्थिक स्थिति भी बाधा उत्पन्न करती है। जरूरी वस्तुओं को खरीदने के लिए पैसे न होने पर कोई शिक्षा पर खर्च कैसे सोच सकते हैं।

इसके लिए सरकार द्वारा 'सर्व शिक्षा अभियान' से शिक्षा प्रदान की जा रही है, परन्तु अभी भी बालिकाओं की शिक्षा के लिए ठोस कदम उठाना जरूरी है। इस कार्य की सफलता में सरकार के

साथ–साथ शिक्षकों, अभिभावकों, प्रशासकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं सभी को मिलकर कार्य करना पड़ेगा और सरकार को बालिका शिक्षा के लिए आर्थिक धनराशि स्वीकृत करनी पड़ेगी।

8. अशिक्षित जनमानस–आज भी हमारे देश में लगभग 25% जनता साक्षर नहीं है, शिक्षित न होने से उन्हें एक तो शिक्षा का महत्व समझ में नहीं आता तथा वे कई अंधविश्वासों के शिकार है, साथ ही कई रुढ़ियों से जकड़े हुए हैं। इस कारण से वे अपनी बालिकाओं की शिक्षा पर ध्यान नहीं देते। इसके लिए उनके अभिभावकों के लिए जागरूकता का कार्य करना पड़ेगा, उन्हें शिक्षा का महत्व समझाना पड़ेगा खासकर बालिकाओं की शिक्षा का।

9. व्यावसायिक तथा तकनीकी शिक्षा की कमी–आज भी हमारे देश में स्त्रियों के लिए व्यावसायिक तथा तकनीकी शिक्षा की कमी बनी हुई है। स्त्रियों के उत्थान के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें विभिन्न प्रकार की व्यावसायिक तथा तकनीकी शिक्षा प्रदान की जाये। कुछ वर्षों से इस ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। बालिकाओं को उनकी रुचि के अनुसार विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक एवं तकनीकी पाठ्यक्रम चलाए जाना चाहिए।

10. महिला/बालिका शिक्षा के प्रोत्साहन हेतु उठाये गये कदम–स्वतंत्रता के बाद स्त्री शिक्षा को विशेष कार्य के रूप में स्वीकार किया है और इस दिशा में केन्द्र एवं राज्य सरकारों के द्वारा निरन्तर प्रयास किये जा रहे हैं।

6 से 14 वर्ष की छात्र/छात्राओं को निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने के लिए संविधान के 86 वें संशोधन के उपरान्त शिक्षा प्राप्त करने प्रत्येक बालक व बालिका का मूल अधिकार बन गया। 'सर्व शिक्षा अभियान' सबके लिए शिक्षा जैसे कार्यक्रमों के माध्यम से सभी को शिक्षित करने का प्रयास जारी है। इससे स्त्री शिक्षा का भी विस्तार हुआ है। स्त्री शिक्षा के लिए सभी राज्यों में दो बिन्दु प्रयास किये जा रहे हैं। पहला बालिकाओं को विद्यालय भेजना और दूसरा विद्यालय में उनका ठहराव।

प्रश्न 53. सरकार द्वारा बालिका शिक्षा के प्रोत्साहन हेतु चलाई जाने वाली मुख्य योजनाओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर–सरकार द्वारा स्त्री/बालिका शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए चलाई जाने वाली प्रमुख योजनाएँ निम्नानुसार हैं–

(1) कक्षा 8 वीं तक की बालिकाओं हेतु निःशुल्क पाठ्य–पुस्तकें देना।

(2) विद्यालय में बालिकाओं हेतु अलग शौचालय बनाना।

(3) स्कूल छोड़ चुकी बालिकाओं को पुनः स्कूल में लाने के लिए स्कूल की ओर अभियान चलाना।

(4) अधिक उम्र की बालिकाओं के लिए ब्रिज या सेतु (Bridge) पाठ्यक्रम चलाना।

(5) विद्यालय में न्यूनतम 50% महिला अध्यापिकाओं को नियुक्त करना।

(6) बालिकाओं को समरूप अधिगम अवसर बढ़ाने के लिए अध्यापकों को संवेदनशील बनाना।

(7) शिक्षण अधिगम सामग्री को यौन संवेदनशील बनाना।

(8) जन समर्थन व सहयोग प्राप्त करने के लिए सघन अभियान चलाना।

(9) बालिकाओं को विद्यालय जाने के लिए साइकिल मुफ्त में देना।

विद्यालय में बालिकाओं की उपस्थिति व ठहराव सुनिश्चित करने के लिए नवाचारी उपाय करना। सर्व शिक्षा अभियान के साथ–साथ प्राथमिक स्तर पर कन्या शिक्षा का राष्ट्रीय कार्यक्रम (N.P.E.G.E.I.) महिला समाख्या, पूर्व बाल्यकाल परिचर्या व शिक्षा तथा एकीकृत बाल विकास सेवा

जैसे विभिन्न कार्यक्रमों के द्वारा बालिका शिक्षा के विभिन्न पक्षों को मजबूत कर बालिकाओं को शिक्षित किया जा रहा है। पूर्व बाल्यकाल परिचर्या व शिक्षा (Early childhood care and Education; E.C.C.E.) बालिकाओं को अपने छोटे भाई–बहनों की देखभाल से मुक्त कर उन्हें स्कूल जाने व वहाँ रुकने का मार्ग दिखाती है। एकीकृत बाल विकास के द्वारा आँगनबाड़ी कार्यकर्ताओं, प्राथमिक स्कूल के अध्यापकों व स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करके पूर्व विद्यालय शिक्षा को बढ़ावा दिया जा सकता है।

प्राथमिक स्तर पर बालिका शिक्षा के राष्ट्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत अनेक **कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालयों** की स्थापना की गई है। इन सबका उद्देश्य स्त्री शिक्षा का प्रसार एवं विस्तार करना है। केन्द्र एवं राज्य सरकारों के इन प्रयासों से स्त्री शिक्षा का प्रसार हुआ है और जल्दी ही शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त लिंग असमानता समाप्त हो जाएगी।

प्रश्न 54. संवेगों के विकास के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए। (छतरपुर 2021)

***अथवा,* संवेगात्मक विकास के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए। (छतरपुर 2022)**

उत्तर–बालकों में संवेगात्मक विकास की प्रक्रिया महत्वपूर्ण होती हैं। संवेगों के द्वारा बालक अपने जीवन में समायोजित ढंग से व्यवहार करता है। किन्तु संवेगात्मक अस्थिरता के कारण बालक का समायोजन दोषपूर्ण हो जाता है। किन्तु इस तथ्य पर मनोवैज्ञानिकों में मतभेद हैं कि बालक में संवेगों की उत्पत्ति किस आयु में होती है, और इनके विकास की प्रक्रिया किस प्रकार की है अर्थात् बालक में संवेग की उत्पत्ति कब होती है ? तथा किस प्रकार बालक को किसी संवेग की अनुभूति होती है ?

उक्त तथ्यों की व्याख्या करने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने अपने–अपने विचारों का वर्णन सैद्धांतिक रूप से किया हैं। संवेगात्मक उद्भव एवं विकास के सिद्धांतों का वर्णन निम्नलिखित हैं–

1. संवेग का दैहिक सिद्धांत–संवेग के दैहिक सिद्धांत का प्रतिपादन मनोवैज्ञानिक **जेम्स लैंग** द्वारा किया गया है। इस सिद्धांत को मुख्य रूप से दैहिक परिवर्तन का सिद्धांत भी कहा जाता है। दैहिक सिद्धांत वास्तव में अमेरिकी मनोवैज्ञानिक **जेम्स** एवं **डेनमार्क** के मनोवैज्ञानिक लैंग के विचारों का समन्वित स्वरूप है। इस सिद्धांत के अनुसार, संवेगात्मक अवस्था में बालक के शरीर में परिवर्तन होता है। भौतिक वातावरण में उपस्थित उद्दीपक बालक में एक प्रकार की भावात्मक मानसिक दशा उत्पन्न करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप बालक की दैहिक संरचना में परिवर्तन उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार उत्पन्न दैनिक परिवर्तन से संवेगात्मक अवस्था की उत्पत्ति होती है।

संवेग के दैहिक सिद्धांत के अनुसार, संवेगावस्था उत्पन्न होने के पहले बालक में दैहिक (शारीरिक) परिवर्तन का घटित होना स्वाभाविक हैं। **उदाहरणार्थ,** जब बालक किसी भयावह उद्दीपक (जैसे–साँप, शेर, आग) को देखता है, तो इस उद्दीपक को देखने से बालक में एक विशिष्ट भावात्मक दशा का जन्म होता है जो उस भयावह उद्दीपक से बालक को दूर भागने की क्रिया करवाती हैं। बालक द्वारा भागने की क्रिया एक प्रकार का शारीरिक परिवर्तन है जिसके कारण बालक में भयपूर्ण या डरावनी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो 'भय' नामक संवेग की उत्पत्ति में आधार प्रदान करती है।

2. संवेग का केन्द्रीय सिद्धांत–संवेग के केन्द्रीय सिद्धांत का प्रतिपादन दो मनोवैज्ञानिकों **कैनन** एवं **बार्ड** द्वारा किया गया है। इस सिद्धांत के अनुसार, संवेग उत्पत्ति का कारण मस्तिष्क का हाइपोथैलेमस भाग होता है जो कि केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र में उपस्थित होता है। इस सिद्धांत को **हाइपोथैलमिक** या **थैलमिक सिद्धांत** के नाम से भी जाना जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार,

सांवेगिक परिवर्तन तथा सांवेगिक अनुभूति दोनों बालकों में या प्राणी में एक साथ घटित होते हैं न कि सांवेगिक परिवर्तन (व्यवहार) पर सांवेगिक अनुभूति निर्भर करती हैं।

संवेग के केन्द्रीय सिद्धांत के संदर्भ में मनोवैज्ञानिक **मार्गन, किंग** एवं **स्कोपलर** का कथन है कि "संवेग के केन्द्रीय सिद्धांत के अनुसार संवेग में होने वाली शारीरिक प्रतिक्रियाएँ एवं अनुभव किया गया संवेग दोनों एक–दूसरे से स्वतंत्र होते हैं और दोनों की उत्पत्ति एक साथ होती है।" इस सिद्धांत के अनुसार प्राणी में संवेगों की उत्पत्ति निम्न प्रक्रियाओं का परिणाम होता है–

(1) संवेग की उत्पत्ति के लिए किसी उद्दीपक एवं ज्ञानेन्द्रिय उत्तेजन आवश्यक है।

(2) ज्ञानेन्द्रियों से स्नायु आवेग हाइपोथैलेमस से होता हुआ प्रमस्तिष्क बल्क में पहुँचता है।

(3) प्रमस्तिष्क बल्क, हाइपोथैलेमस से अपना नियंत्रण कम कर देता है और कुछ विशेष परिस्थिति में ऐसे स्नायु आवेग को भी हाइपोथैलेमस में भेजता है जिसकी उत्पत्ति विकल्प रूप में हुई होती हैं। इस प्रकार हाइपोथैलेमस पूर्णरूप से सक्रिय हो जाता है।

(4) हाइपोथैलेमस के सक्रिय होने पर स्नायु आवेग दोनों दिशाओं अर्थात् ऊपर प्रमस्तिष्क बल्क एवं नीचे आंतरिक अंगों व बाहरी शारीरिक अंगों की ओर एक साथ जाते हैं। स्नायु आवेग के प्रमस्तिष्क बल्क में पहुँचने से संवेग की उत्पत्ति होती है और जब स्नायु आवेग आंतरिक अंगों एवं माँसपेशियों में पहुँचता है तो संवेगात्मक व्यवहार या शारीरिक परिवर्तन होता हैं।

अतः संवेगात्मक व्यवहार एवं संवेगों की उत्पत्ति के विषय में यह सिद्धांत आधुनिक समय में संवेग का प्रमुख सिद्धांत माना जाता है। इस सिद्धांत का आधारभूत तथ्य यह हैं कि मस्तिष्क का हाइपोथैलेमस या थैलेमस भाग ही संवेगों की उत्पत्ति का केन्द्र बिन्दु है।

3. संवेग का जैविकीय सिद्धांत–संवेग के जैविकीय सिद्धांत का प्रतिपादन प्रसिद्ध व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक **जे.बी. वाटसन** के द्वारा किया गया हैं। इस सिद्धांत के अंतर्गत प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वाटसन ने अपने प्रायोगिक अध्ययनों से स्पष्ट किया है कि जन्म के समय शिशुओं में भय, क्रोध एवं प्रेम नामक तीन मौलिक संवेग पाये जाते हैं। इन्हीं तीन मौलिक संवेगों से अन्य संवेगों की उत्पत्ति व विकास होता है। वाटसन ने अपना प्रयोग कुछ नवजात शिशुओं एवं कुछ माह के बच्चों पर प्रयोग करके अपने उक्त तथ्य की पुष्टि की। भय, संवेग के प्रकटीकरण के लिए भयावह उद्दीपकों यथा तीव्र आवाज, डरावनी वस्तुओं का प्रयोग वाटसन ने किया। परिणामतः निरीक्षण किया गया कि तीव्र आवाज होने से शिशु का सांस लेना, रोना, चिल्लाना, हाथ–पैर पटकना आदि सभी शिशुओं में नहीं पायी जाती, जिसकी पुष्टि इन्होंने अपने अध्ययन परिणामों से की है।

4. संवेग का विकासवादी सिद्धांत–संवेग के विकासवादी सिद्धांत के अंतर्गत मुख्य रूप से मनोवैज्ञानिक **ब्रिजेज** एवं **बनहम** द्वारा शिशुओं पर किये गये प्रयोग उल्लेखनीय हैं। इन सिद्धांतवादियों के अनुसार, जन्म के समय बालक (शिशु) में किसी प्रकार का संवेग उपस्थित नहीं होता, बल्कि शिशु में केवल सामान्य उत्तेजना ही विद्यमान रहती है। शिशु में संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ 3 माह की अवधि से विकसित होती हैं। इस समय शिशु को कष्ट एवं आनन्द की अनुभूति होती है। जिसके कारण बालक द्वारा की गयी प्रतिक्रियाओं रोने, चिल्लाने आदि से माँसपेशीय तनाव की उत्पत्ति होती हैं। शिशु अपनी पेशीय लचीलता के कारण मुस्कुराने की प्रतिक्रिया करता है। 6 माह की अवधि में कष्ट नामक संवेग से भय, घृणा एवं क्रोध संवेगों की उत्पत्ति होती है। एक वर्ष की अवस्था में शिशुओं में उल्लास एवं वयस्कों के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। डेढ़ वर्ष की आयु में **ब्रिजेज** के अनुसार, बालक में अन्य बालकों के प्रति प्रेम एवं घृणा की उत्पत्ति होती है और दो वर्ष की अवधि में बालक में खुशी (आनन्द) संवेग की उत्पत्ति हो जाती है।

इस प्रकार, सभी महत्वपूर्ण संवेगों की उत्पत्ति बालक में 2 वर्ष की आयु तक हो जाती हैं। सभी संवेगों की उत्पत्ति एवं विकास परिपक्वता एवं अभिगम का परिणाम होता है। इन्हीं के आधार पर संवेगों एवं संवेगात्मक व्यवहारों में परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं परिमार्जन होता रहता है।

प्रश्न 55. गामक विकास का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

***अथवा,* क्रियात्मक कौशलों द्वारा बालक अपने वातावरण से किस प्रकार सीखते हैं ?**

उत्तर– हरलॉक के अनुसार– "माँसपेशियों की गति पर नियंत्रण ही गामक विकास है।"

क्रो एवं क्रो के अनुसार –"गामक विकास का अर्थ उन अनेक शारीरिक गतिविधियों से हैं जो नाड़ियों तथा माँसपेशियों की क्रियाओं के समन्वय या संयोजन द्वारा संभव है।"

गिलफोर्ड के अनुसार–"गामक विकास के अन्तर्गत मानव तथा पशुओं की क्रियायें सम्मिलित हैं; जैसे–उठना–बैठना, चलना–फिरना, पकड़ना, दौड़ना और लिखना आदि।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है, कि माँसपेशियों के कार्य तथा शरीर में गतियों या क्रियाओं की उत्पत्ति से है जो मानसिक क्रिया के सचेतन नियंत्रण के अन्तर्गत होती है। यह गत्यात्मक कौशल संबंधित होती है जैसे–गति, समन्वय, परिचालन, दक्षता, बल तथा चाल।

जन्म के समय बच्चा कई प्रकार की गत्यात्मक क्रियायें सहज ही दर्शाता है जिनका संबंध अनैच्छिक अनुक्रियाओं या गतियों से होता है जो वातावरणीय उद्दीपनों के कारण होता है। जैसे– शिशु की हथेली पर कोई छोटी वस्तु रखने पर हथेली की वस्तु को कसकर पकड़ लेता है और उसे वह मुँह में लेकर चूसने लगता है। ये सहज क्रियायें हैं। प्रथम वर्ष के अंत तक सहज क्रियायें लुप्त होने लगती हैं और बच्चे अनुभव करने लगते हैं और प्रतिक्रिया भी करने लगते हैं। वे ध्वनियों, गंधों और स्वाद में अंतर करने लगता है।

जैसे–जैसे शैशवावस्था से मध्य बाल्यावस्था की ओर बढ़ते हैं वे अपनी स्थूल और लम्बी माँसपेशियों पर नियंत्रण कर पाते हैं। स्थूल गतियों में शरीर का काफी भाग सम्मिलित होता है जैसे– टहलने में, कूदने में, दौड़ने में आदि। इसके बाद बच्चे अपनी सूक्ष्म और छोटी माँसपेशियों पर नियंत्रण कर पाते हैं। जैसे–गेंद फेंकना, पकड़ना, लिखना, सीना, पिरोना आदि। दौड़ना सीखने से पहले बच्चा चलना सीखता है।

जब शरीर और मस्तिष्क परिपक्व हो जाते हैं तभी गामक कौशलों पर नियंत्रण संभव हो पाता है जैसे 6 वर्ष के बच्चे किसी संकेत को उस तरह नहीं समझ पाते जैसे कि 12 वर्ष के बच्चे।

प्रश्न 56. नगरीय मलिन बस्तियों में रहने वाले बच्चों की समस्याओं की व्याख्या कीजिए।

(रीवा 2022)

उत्तर–नगरीय मलिन बस्तियों की प्रमुख समस्या है कि भारत एक बहुपक्षीय, बहुधर्मीय तथा बहुजातीय देश है। जिससे सभी व्यक्तियों में एकता का अभाव है। इसके अतिरिक्त अज्ञानता, गरीबी, पुरानी सांस्कृतिक परम्पराएँ एवं समाज की बन्द प्रवृत्ति आदि समस्याएँ मलिन बस्ती में रहने वाले बच्चों को प्रभावित करती है। इन बातों के विकास में बाधा के रूप अज्ञानता तथा गरीबी के साथ–साथ जनसंख्या वृद्धि ने इसे दो गुना कर दिया है। अतः नगरीय मलिन बस्तियों में रहने वाले बच्चों की प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं–

(1) अशिक्षा (Illiteracy)–अशिक्षा एवं अज्ञानता के कारण मलिन बस्तियों में रहने वाले माता–पिता अपने बच्चों को विद्यालय भेजना या उन्हें पढ़ाना आवश्यक नहीं समझते हैं। ठेकेदार / बिचौलिए सस्ती मजदूरी पर, इन बस्तियों के बच्चों को ले जाते हैं। इन बस्तियों के बच्चों के माता–पिता

मजदूरी या काम करने जाते हैं तो बच्चों पर अपने छोटे भाई–बहनों की देख–रेख की जिम्मेदारी आ जाती है जिनसे इन बस्तियों के बच्चे विद्यालय नहीं जाते हैं।

(2) निर्धनता (Poverty)– नगरीय मलिन बस्तियों में रहने वाले बच्चों की महत्वपूर्ण समस्या निर्धनता है। इन गंदी बस्तियों में श्रमिक मजदूर तथा निम्न आय समूह वाले व्यक्ति निवास करते हैं। इनकी मौलिक समस्या भोजन एवं कपड़े की होती है। निर्धनता के कारण इनके बच्चें एक तरफ तो कुपोषण, अल्पपोषण, शोषण तथा भ्रष्टाचार आदि सामाजिक अभिशापों से प्रभावित हो रहे हैं तथा दूसरी ओर प्रयोजन प्रक्रिया से कोई लाभ नहीं ले पाते हैं।

(3) स्वास्थ्य समस्याएँ (Health problem)–गन्दी बस्तियों में रहने से बच्चों के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। बालक के स्वास्थ्य या विकास के लिए शुद्ध हवा, जल और प्रकाश अति आवश्यक है। इनके अभाव में कई प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती है, जिससे शरीर कमजोर हो जाते हैं।

(4) नशा (Intonicant)–नगरीय मलिन बस्तियों में बहुत से ऐसे कारक होते हैं जिनके कारण छोटे–छोटे बच्चें नशे का सेवन करने लगते हैं तथा इन बालकों पर नियंत्रण का अभाव रहता है। जिनकी हमेशा उपेक्षा होती है या जो अज्ञानता के शिकार होते हैं ये आर्थिक तंगी के कारण कम आयु में ही काम करने लगते हैं, जहाँ उनका सम्पर्क अपनी आयु या बड़ी आयु के उन बच्चों से होता है, जो नशा करते हों। उनके साथ रहकर ये बच्चें भी नशाखोरी सीख लेते हैं।

(5) बाल अपराध (Child crime)–मलिन बस्तियों में निवास करने वाले बच्चों को विविध प्रकार का लालच देकर कुछ अपराधी गिरोहों के द्वारा अपने अपराधों के लिए बच्चों का इस्तेमाल करते हैं। मलिन बस्तियों के मलिन वातावरण में रहने के कारण बच्चें अपराधी प्रवृत्ति के हो जाते हैं। उनमें चोरी, शराबी, जुआखोरी आदि गन्दी आदतें जन्म लेती है। गरीबी के कारण बच्चें इधर–उधर घूमते रहते हैं, जिससे बाल अपराध एवं आवारागर्दी पनपती है।

प्रश्न 57. नगरीय मलिन बस्तियों में रहने वाले बच्चों की समस्याओं को दूर करने के उपायों का वर्णन कीजिए।

उत्तर–नगरीय मलिन बस्तियों में रहने वाले बच्चों की समस्याओं को दूर करने के लिए भारतीय समाज में आधुनिक विचारों का विकसित होना अत्यंत आवश्यक है। इन बच्चों के विकास के लिए शिक्षा, समानता, गत्यात्मकता, परिवार नियोजन, आर्थिक सहायता तथा नवीन तकनीकों का विकास करना होगा। समाज में फैली हुई ऊँच–नीच, छुआछूत, अन्धविश्वास तथा रूढ़िबद्धता जैसी कुरीतियों को समाप्त करने के लिए संघर्ष करना होगा। अतः इन बच्चों के विकास के लिए निम्नलिखित उपाय इस प्रकार हैं–

(1) रोजगार सुविधाओं में वृद्धि–मलिन बस्तियों में रहने वाले बालकों की समस्याओं का समाधान करने के लिए उनके माता–पिता को रोजगार उपलब्ध कराए जाने चाहिए ताकि वह अपने बच्चों की बुनियादी आवश्यकताएँ पूर्ण कर सके।

(2) शिक्षा का विस्तार–शिक्षा ऐसा शास्त्र है जिससे व्यक्ति की सोच में सकारात्मक परिवर्तन लाया जा सकता है। सरकार को ऐसी योजनाओं का आयोजन करना चाहिए जिनसे इन बच्चों की उत्तम शिक्षा व्यवस्था को बल मिले एवं इनके अभिभावकों को भी जागरूक करें कि वो अपने बच्चों को पढ़ाएँ। शिक्षा के आधार पर ही इनके सोच, रहन–सहन, रीति–रिवाज एवं परम्पराओं आदि में परिवर्तन लाना संभव है।

(3) स्वास्थ्य—नगरीय मलिन बस्तियों में रहने वाले बच्चों की एक मुख्य समस्या उनका स्वास्थ्य भी है जिसको उत्तम बनाने के लिए उनमें जागरूकता, साफ–सफाई, संतुलित आहार आदि का अभाव होता है। इन सबकी पूर्ति करके इस समस्या का निराकरण किया जा सकता है।

(4) जनसंख्या वृद्धि पर रोक—इनकी समस्या का मुख्य कारण ही संसाधन का अभाव है, और संसाधन इसलिए कम पड़ रहे हैं क्योंकि उसका उपभोग करने वालों की संख्या बढ़ रही है। अतः जनसंख्या वृद्धि पर रोक लगाना अनिवार्य है। इस प्रकार इनकी समस्याओं का समाधान स्वयं ही हो जाएगा।

(5) सरकारी योजनाएँ—इन बस्तियों में रहने वाले लोगों के लिए आवास की व्यवस्था, कम लागत दर पर दवाओं एवं अनाज की उपलब्धता, अच्छे स्कूलों में इन बच्चों के नामांकन की व्यवस्था आदि से जुड़ी योजनाओं का संचालन सरकार द्वारा करवाया जाना चाहिए ताकि इन बालकों का जीवन भी एक सामान्य बच्चों जैसा बन सके।

भारत एक विकासशील देश है और इसकी जनसंख्या की दृष्टि से संसाधन बहुत कम पड़ रहे हैं। इससे गरीबी और महँगाई बढ़ती जा रही है। इस प्रकार की बस्ती को तभी खत्म किया जा सकता है, जब गरीबी कम हो और प्रत्येक नागरिक जागरूक हों। घर–घर तक शिक्षा का प्रसार हो और सभी व्यक्तियों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकें।

इन सब की पूर्ति होने से ही इनकी समस्याओं का अंत भी हो जाएगा।

प्रश्न 58. शहरी मलीन बस्ती तथा सामान्य क्षेत्र के बच्चों के विकासात्मक पक्ष में क्या असमानताएँ देखी जा सकती हैं? **(जबलपुर 2022; रीवा 22)**

***अथवा*, दलित परिवार के बालकों के विकास पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।** **(इंदौर मार्च 2023)**

उत्तर—सामान्य परिवारों के बच्चों तथा दलित परिवार में पल–बढ़ रहे बच्चों के व्यक्तित्व में काफी अंतर आ जाता है। यह अंतर शिक्षा, परिवार की सामाजिक, आर्थिक स्थिति, माता–पिता का दृष्टिकोण, समाज का दृष्टिकोण, वंशानुक्रम एवं वातावरण आदि के कारण आता है। अतः दलित परिवार के बालकों के विकास में निम्न असमानताएँ पायी जाती हैं—

(1) शिक्षा—दलित परिवार के बच्चों को शैक्षिक सुविधाएँ प्राप्त नहीं होती है। माता–पिता अशिक्षित होते हैं। अतः वे अपने बच्चों की शिक्षा के प्रति अधिक जागरूक नहीं होते हैं। प्रतियोगिता के इस युग में अंग्रेजी माध्यम के बड़े–बड़े विद्यालय खुल गये हैं। ऐसी स्थिति में यदि ये बच्चे सरकारी स्कूलों में शिक्षा प्राप्त कर भी लेते हैं तो भी उन बच्चों की तुलना में खड़े नहीं हो पाते हैं।

(2) परिवार की सामाजिक–आर्थिक स्थिति—दलित परिवारों का सामाजिक–आर्थिक स्तर काफी निम्न होता है। दलित लोग एक तो शिक्षा के प्रति वैसे ही उदासीन होते हैं। दूसरे जब उनके बच्चे विद्यालय में जाते हैं और शिक्षक तथा सहयोगी छात्र उनसे भेदभाव मानते हैं तथा उनको छूना भी पसंद नहीं करते हैं और उन्हें हर समय यह ध्यान दिलाते रहते हैं कि वे दलित हैं तथा उनका वही कार्य है तो उनके बच्चे स्कूल नहीं जाना चाहते हैं। निर्धनता और निम्न जीवन स्तर की चक्की में पिसने के लिए वे विवश होते हैं।

(3) माता–पिता का दृष्टिकोण—माता–पिता का दृष्टिकोण भी दलितों के विकास को प्रभावित करता है। यदि माता–पिता अशिक्षित होते हैं तो उनका दृष्टिकोण भी वैसा ही नकारात्मक बन जाता है। वे यह समझने लगते हैं कि चाहे वे कितनी भी शिक्षा अपने बच्चों को दिला लें समाज में उनकी

निम्न स्थिति में बदलाव नहीं आ सकता है तथा वे उन्हें काम में लगाकर अपना आर्थिक बोझ कम करना चाहते हैं। इस दृष्टिकोण से दलित घरों में बालपन से ही शोषण का रास्ता खुल जाता है।

(4) समाज—सामान्य परिवारों में पल–बढ़ रहे बच्चे दलित परिवारों के बच्चों को अपने साथ एक विद्यालय में देखकर उनसे दूरी बनाकर रखते हैं। समाज में उन्हें निम्न दृष्टि से ही देखा जाता है। इस प्रकार प्राचीन काल से उनके प्रति चला आ रहा भेदभाव उन्हें झेलना पड़ता है।

(5) वंशानुक्रम—माता–पिता के जीन्स के कारण उन्हें जो गुण प्राप्त होते हैं उस कारण उनमें चिन्तन की क्षमता, बुद्धि, योग्यता में भी अंतर पाया जाता है। यद्यपि यह अंतर सभी बच्चों में पाया जाता है। व्यक्तिगत भिन्नता का प्रभाव भी सभी बच्चों में पाया जाता है।

(6) वातावरण—दलित परिवारों में पल–बढ़ रहे बच्चों तथा सामान्य बच्चों में सबसे बड़ा अंतर उनके वातावरण का होता है। दलित परिवारों में प्रारंभ से ही बच्चों को पुश्तैनी कार्य में लगा दिया जाता है। शिक्षा के प्रति उनमें अधिक जागरूकता नहीं होती है। सामाजिक भेदभाव को वे अपनी नियति मान लेते हैं। सभी बच्चे बालपन से ही माता–पिता के साथ पुश्तैनी कार्यों में जुट जाते हैं। यदि वे विद्यालय जाते भी हैं तो विद्यालयों में पढ़ाई शीघ्र छोड़ देते हैं। इस प्रकार शिक्षा प्राप्ति में अवरोधन तथा अपव्यय ले जाते हैं।

प्रश्न 59. बहुबचपन की संकल्पना स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—भारतीय परिप्रेक्ष्य में बहुबाल्यावस्था का निर्माण—भारतीय परिप्रेक्ष्य में बहुबाल्यावस्था के विकास के निर्माण में बहुत विविधता पायी जाती है। सामान्य बालक तथा विशिष्ट परिस्थितियों में रहने वाले बालकों में शिक्षा, स्वास्थ्य, शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक तथा सामाजिक आधारों पर विविधता पायी जाती है। सामान्य बालकों का रहन–सहन, खान–पान तथा परम्पराओं एवं संस्कृतियों का विकास तीव्र गति से होता है तथा उच्च स्तर का होता है जबकि मलिन एवं गरीब बस्तियों में रहने वाले बालकों का विकास निम्न स्तरीय होता है। इनका रहन–सहन तथा खान-पान आदि भी अत्यंत निम्न कोटि का होता है। जो इनके विकास को अवरुद्ध कर देता है। एक सामान्य बालक व बालिका को वे सभी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं जो जीवन–यापन के लिये आवश्यक होती है। उनका बचपन स्वाभाविक रूप से स्वाभाविक परिस्थितियों में विकसित होता है। चंचलता, बालपन, स्नेह एवं सुरक्षा प्राप्त करने के लिये इन्हें अधिक संघर्ष नहीं करना पड़ता है। इसके विपरीत कुछ विशेष परिस्थितियों जैसे नगरों में मलिन एवं दलित परिवार के रहने वाले तथा ग्रामीण बालक-बालिकाएँ स्वाभाविक रूप से जीवन–यापन नहीं कर पाते हैं। उन्हें अपनी मूलभूत आवश्यकताओं के लिए भी संघर्ष करना पड़ता है। असुरक्षा, शोषण, बालपन की चपलता तथा अशिक्षा जैसे मुद्दे उनके जीवन को प्रभावित करते हैं। इन बस्तियों में जीवन गुजार रहा बालक सामान्य जीवन जीने के लिए तरसता है। जीवनोपयोगी आवश्यक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इन बालकों एवं बालिकाओं को बचपन से ही मजदूरी तथा दूसरों के घरों में काम करना पड़ता है। गन्दे परिवेश, माता–पिता की अक्षमता तथा बुरी लतों के कारण ये बच्चे अपना बचपन खो देते हैं तथा बाल मजदूर की भाँति शोषण सहना पड़ता है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में बहुबाल्यावस्था का निर्माण निम्नलिखित रूपों में होता है—

(1) नगरीय मलिन बस्तियों में रहने वाले बच्चे, (2) मलिन बस्तियों में विकसित होती बालिकाएँ, (3) दलित परिवारों में पलता बच्चा।

इकाई 3

सामाजिक एवं संवेगात्मक (भावात्मक) विकास
[SOCIAL AND EMOTIONAL DEVELOPMENT]

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रश्न 1. सही उत्तर का चयन कीजिए–

1. संवेगों का कार्य है– **(जबलपुर 2023)**

(a) अन्तर्वैयक्तिक (b) सामाजिक (c) सांस्कृतिक (d) उपरोक्त सभी।

उत्तर–1. (d).

लघु एवं दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. संवेग से क्या आशय है ? संवेग की विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।

(ग्वालियर 2017, 19, 21, 22; रीवा 22; जबलपुर 22)

उत्तर–संवेग शब्द का शाब्दिक अर्थ है–'वेग से युक्त' अर्थात् जब व्यक्ति वेगवान होकर कार्य करता है तो उसे संवेग कहते हैं। 'Motion' एक लैटिन शब्द है जिसकी व्युत्पत्ति 'emovere' से हुई है और जिसका अर्थ है 'उत्तेजित करना'। इसे एक दूसरी तरह से भी समझा जा सकता है।

Emotion में 'इ' (E) का अर्थ है 'अन्दर से' तथा 'मोशन' (Motion) का अर्थ है–'गति देना'। इसका तात्पर्य है कि संवेग व्यक्ति के आन्तरिक भावों का बाह्य प्रकाशन या उत्तेजित अवस्था का दूसरा नाम है। मनोवैज्ञानिकों ने संवेग को भिन्न–भिन्न ढंग से परिभाषित किया है।

(1) वुडवर्थ के अनुसार– "संवेग व्यक्ति की गति से अथवा आवेश में आने की स्थिति है।"

(2) रॉस (Ross) के अनुसार– "संवेग चेतना की वह अवस्था है जिसमें रागात्मक तत्वों की प्रधानता रहती है।"

मानव जीवन में संवेगों का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य को संवेगों के द्वारा विभिन्न कार्यों को करने की प्रेरणा शक्ति मिलती है। संवेगों के उदय होने पर वह ऐसे–ऐसे कार्य कर दिखाता है जो सामान्य स्थिति में उसके लिए संभव प्रतीत नहीं होते हैं। अतः संवेगों का संबंध व्यक्ति के जीवन के भावात्मक पक्ष से होता है। संवेग के उत्पन्न होने पर व्यक्ति की मानसिक व शारीरिक स्थिति में परिवर्तन आ जाता है। अतः संवेग वास्तव में मानसिक उपद्रव की अवस्था होती है जिसमें व्यक्ति को उचित–अनुचित का ज्ञान नहीं रहता है। इस प्रकार संवेग व्यक्ति को परिस्थितिवश कार्य करने के लिए उत्तेजित करते हैं।

संवेग की विशेषताएँ–(1) संवेगों की व्यापकता का गुण अधिकांश प्राणियों में पाया जाता है। मनुष्य हो या पशु सभी में भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में भिन्न–भिन्न प्रकार के संवेग होते हैं। प्रत्येक देश के निवासियों में सभी धर्मों, प्रजातियों अथवा जातियों के व्यक्तियों में संवेग पाये जाते हैं।

(2) संवेगों के होने पर अस्थायी शारीरिक परिवर्तन हो जाते हैं। ये परिवर्तन आन्तरिक या बाह्य होते हैं। जैसे–साँसों का तेज चलना, धड़कन बढ़ जाना, पाचन क्रिया का प्रभावित होना ये सब आंतरिक परिवर्तन का उदाहरण है और चेहरे के भाव बदलना, अंग संचालन की गति में परिवर्तन, आवाज में परिवर्तन, ये कुछ बाह्य परिवर्तन के उदाहरण हैं।

(3) संवेग व्यक्तिगत होते हैं। एक समान स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति के संवेग भिन्न–भिन्न होते हैं।

(4) संवेग की प्रकृति अस्थायी होती है। संवेग थोड़े समय तक रहते हैं।

(5) संवेग की दशा में सोच या विचार प्रक्रिया या तो शिथिल हो जाती है या फिर लुप्त हो जाती है।

(6) संवेग की उत्पत्ति मूल प्रवृत्तियों से होती है। जैसे–जिज्ञासा से आश्चर्य, पलायन से भय इत्यादि।

(7) संवेग मनोवैज्ञानिक परिस्थिति या उत्तेजक के कारण उत्पन्न होते हैं।

(8) संवेग का संबंध क्रियात्मक प्रवृत्तियों से होता है। प्रत्येक संवेग किसी–न–किसी क्रियात्मक प्रवृत्ति से संबंधित होता है।

(9) संवेग या तो दुख के भाव से या सुख के भाव से युक्त होते हैं।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि संवेग एक विशेष मानसिक दशा है जिसमें व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक दशा तथा व्यवहार में परिवर्तन होता है, जिससे यह ज्ञात होता है कि विभिन्न अवस्थाओं में बालक का संवेगात्मक विकास और व्यवहार शिक्षक के लिए अध्ययन हेतु एक महत्वपूर्ण बिन्दु होता है।

प्रश्न 2. संवेग से आप क्या समझते हैं ? संवेग विचार और व्यवहार की प्रेरक शक्तियाँ हैं ? स्पष्ट कीजिए। **(ग्वालियर 2022)**

उत्तर–संवेग–संवेग शब्द अंग्रेजी में इमोशन (Emotion) कहलाता है। इमोशन शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द इमोवेयर (Emovere) से हुई है, जिसका अर्थ है–'उत्तेजित करना' से माना जाता है। इस प्रकार संवेग शब्द का शाब्दिक अर्थ व्यक्ति की उत्तेजित अवस्था से है। यह व्यक्ति के भाव को प्रदर्शित करता है। मानव जीवन में संवेगों का अत्यधिक महत्व होता है। संवेगों को व्यक्त करने के लिए निम्न परिभाषाएँ हैं–

ब्रिजेज के अनुसार– "शिशु के जन्म के समय केवल उत्तेजना होती है, संवेगों का विकास तो बाद के वर्षों में होता है। संवेगों की अभिव्यक्ति से ही व्यक्ति की समाज में पहचान होती है।"

वुडवर्थ के अनुसार – "संवेग व्यक्ति की उत्तेजित दशा है। संवेगात्मक विकास परिपक्वता को दर्शाता है और व्यक्तित्व निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।"

इस प्रकार संवेग व्यक्ति की एक जटिल अवस्था है जिसमें सम्पूर्ण शरीर तंत्र बाह्य एवं आंतरिक रूप से सम्मिलित तथा प्रभावित होता है। हर्ष, विवाद, क्रोध, डर, सुख–दुख, प्रेम, विरक्ति आदि मुख्य संवेग हैं। इन संवेगों को बालक या व्यक्ति की भाव–भंगिमाओं द्वारा अच्छे प्रकार से समझा जा सकता है। संवेग बालक में जन्म जात होते हैं। नवजात शिशु भी संवेग प्रदर्शित करता है। प्यार करने या थपकी देने पर या स्पर्श करने पर खुशी का भाव प्रदर्शित करता है तथा सोने पर जगाने या उसके मुहँ से कुछ खींचने पर क्रोध प्रदर्शित करता है। इस प्रकार शिशु में दो सप्ताह की उम्र में भी दो मूलभूत संवेग होते हैं क्रोध एवं आनंद। दो वर्ष की उम्र का होते–होते सांवेगिक विकास पूरा हो जाता है। इसके बाद संवेगों में तीक्ष्णता आने लगती है।

संवेग विचार और व्यवहार की प्रेरक शक्तियाँ हैं। वे हमारे जीवन को उत्साह से भर देते हैं और महत्वपूर्ण मानवीय गुण जोड़ देते हैं। वस्तुतः समस्त मानव सभ्यता संवेगों के प्रशिक्षण का परिणाम है। संवेगों के प्रशिक्षण और नियंत्रण से हमारा तात्पर्य वस्तुओं और भावनाओं के प्रति अवांछनीय भावात्मक रवैये की जाँच करना है ताकि संवेगात्मक ऊर्जा को उचित रचनात्मक कौशलों में उपयोग किया जा सके और संवेगात्मक व्यवहार में दृढ़ता और स्थिरता लायी जा सके। भावना और भावना के परिणामों से हमें एक दूसरे के साथ संवाद करने में मदद मिलती है, जैसे कि जब हम दुःखी महसूस करते है और हमें कुछ मदद की जरुरत होती है, वे महत्वपूर्ण परिस्थितियों में शीघ्रता से कार्य करने में भी हमारी सहायता कर सकते हैं। उदाहरण के लिए–जब आप सड़क पार करने वाले होते हैं और एक कार को तेजी से आते हुए देखते हैं, तो डर आपको वापस सड़क पर कूदने के लिए प्रेरित करता है।

संवेगों की विशेषताएँ (Characteristic of Emotions)–

(1) संवेगों में तीव्रता होने के कारण यह व्यक्ति या बालक में एक प्रकार का तूफान उत्पन्न कर देता है।

(2) संवेगों में व्यापकता होती है तथा वह सभी प्राणियों में समान रूप से विद्यमान होती है।

(3) संवेग का अनुभव किसी निश्चित वस्तु के सम्बन्ध में ही किया जाता है।

(4) सभी व्यक्ति एक ही संवेग के प्रति अलग–अलग प्रतिक्रिया करते हैं।

(5) संवेग में अपनी विशिष्ट भावना के अतिरिक्त निःसंदेह रूप से दुःख या सुख की भावना होती है।

(6) संवेगों में साधारणतः स्थिरता की प्रवृत्ति होती है।

(7) पराश्रयी स्वरूप को भी हम संवेगों की प्रमुख विशेषता कह सकते हैं।

(8) संवेगों के समय व्यक्ति के व्यवहार के सम्पूर्ण स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है।

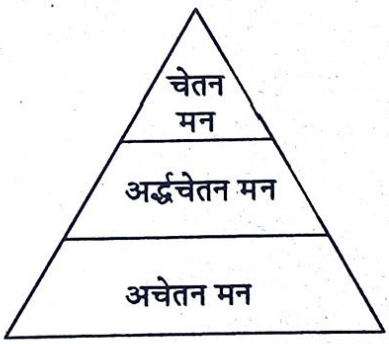
(9) संवेगों के समय व्यक्ति की शारीरिक दशा में कई परिवर्तन परिलक्षित होते हैं।

प्रश्न 3. फ्रायड के व्यक्तित्व विकास सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन कीजिए।

(जबलपुर 2021, 22; भोपाल 22; छतरपुर 22)

***अथवा*, सिगमड फ्रायड के द्वारा प्रतिपादित मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।**

उत्तर–फ्रायड ने, व्यक्तित्व का मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त दिया जिसने मनोविज्ञान के क्षेत्र में क्रांति ला दी। फ्रायड ने सर्वप्रथम मन की तीन दशायें बतायीं–(i) चेतन मन, (ii) अर्द्धचेतन मन एवं (iii) अचेतन मन। इन्होंने मन की तुलना बर्फ के तैरते हुए पहाड़ से की, जिसका ऊपरी हिस्सा जो कम होता और पानी के बाहर होता है वह चेतन मन है, पानी की ऊपरी सतह को स्पर्श करने वाले भाग को अर्द्धचेतन का नाम दिया तथा सबसे बड़ा भाग जो पानी के अंदर होता है उसे अचेतन का नाम दिया।



1. चेतन मन –फ्रायड के अनुसार, चेतन मन का वह भाग है, जिसका संबंध वर्तमान से है। अतः इस भाग में वे इच्छाएँ, विचार एवं अनुभव होते हैं जिनका संबंध वर्तमान से होता है।

चेतन मन की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) यह मन का लघुत्तम उपखण्ड है।

(2) व्यक्ति को मन के इस भाग के विषय (इच्छा, अनुभव, विचार) में ज्ञान रहता है।

(3) बाह्य जगत की वास्तविकताओं के साथ चेतन मन का निकट संबंध होता है।

(4) इसमें वर्तमान की घटनाओं के स्मृति चिन्ह होते हैं। अतः इनका आसानी से पुनःस्मरण किया जा सकता है।

(5) चेतन मन व्यक्तिगत, नैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदर्शों का भंडार है।

2. अर्द्धचेतन मन–अर्द्धचेतन अवस्था मन के चेतन एवं अचेतन अवस्थाओं के मध्य या बीच की बारीक अवस्था होती है।

कई ऐसी घटना या स्मृति होती है जो थोड़े प्रयास के बाद हमें याद आ जाती है या जिसका हम आसानी से प्रत्यास्मरण कर सकते हैं। मन की यह अवस्था अर्द्धचेतन अवस्था कहलाती है।

अर्द्धचेतन मन की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) यह चेतन एवं अचेतन के बीच का भाग है।

(2) यह मन का एक छोटा भाग है।

(3) इसके विषय का तात्कालिक ज्ञान व्यक्ति को नहीं होता, किन्तु कुछ प्रयास द्वारा उसका प्रत्यास्मरण कर उसे पुनः चेतन में लाया जा सकता है।

(4) अर्द्धचेतन एवं चेतन के मध्य का प्रतिबंधन कमजोर होता है।

3. अचेतन मन—व्यक्ति अपने जीवन में अनेक ऐसे अनुभव प्राप्त करता है, जो कि न तो उसके चेतन मन और न ही अर्द्धचेतन मन में रहता है। इन अनुभव तथा घटना को बहुत याद करने पर भी यह याद नहीं आता है। ऐसे अनुभव मन के अचेतन भाग में होते हैं, जो कभी–कभी स्वतः दैनिक क्रियाकलापों में प्रकट होते हैं या सम्मोहन या मनोविश्लेषण द्वारा सामने आते हैं। अचेतन मन में कई दमित (दमन किया हुआ) इच्छाएँ होती हैं।

अचेतन मन की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) मन का सबसे बड़ा भाग है—अचेतन।

(2) अचेतन की विषय–सामग्री गत्यात्मक होती है।

(3) अचेतन द्वारा सभी अतृप्त इच्छाओं को स्वीकार किया जाता है।

(4) अचेतन मन व्यक्ति के नियंत्रण से परे है।

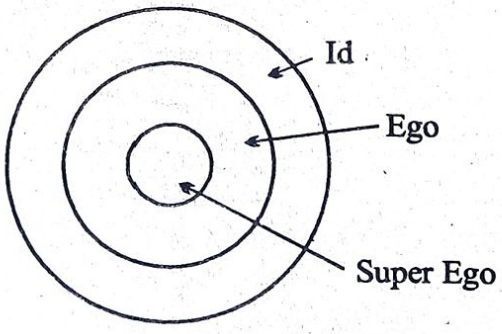
(5) अचेतन अपनी इच्छाओं की पूर्ति छद्म रूप से करता है।

(6) अचेतन में तर्क एवं नैतिकता का स्थान नहीं होता है।

फ्रायड ने, व्यक्तित्व को संरचना की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया है—

(i) इदम् (Id), (ii) अहं (Ego), (iii) पराअहम् (Super Ego)।

फ्रायड के अनुसार, व्यक्ति का व्यवहार उसके अन्दर के इदम्, अहं एवं पराअहम् की संरचना को दर्शाता है।



(i) इदम् (Id)—**फ्रायड** के अनुसार, इदम् का भाग व्यक्ति के व्यक्तित्व का सबसे बड़ा हिस्सा होता है। इसकी उत्पत्ति बच्चे के जन्म से ही हो जाती है। इदम् इच्छाओं की जननी है। इसे उचित, अनुचित का ज्ञान नहीं होता है क्योंकि यह स्वआनन्द के सिद्धान्त को मानता है। सारी प्रत्यक्ष अनुभूति (भूख, प्यास, काम, नींद) इदम् का भाग है।

(ii) अहं (Ego)—अहं को **'वास्तविकता सिद्धान्त'** भी कहते हैं। यह व्यक्ति के व्यवहार पर नियंत्रण करता है। यह इदम् एवं पराअहम् के बीच का स्तर है। यह इच्छाओं और वास्तविकता के बीच संतुलन बनाता है। इसलिए इसे **'मन का शासक'** कहा जाता है।

(iii) पराअहम् (Super Ego) —इसका विकास सबसे देर से होता है तथा इसे **आदर्शवादी** या **नैतिकता का सिद्धान्त** कहते हैं। यह वह शक्ति है जो व्यक्ति को सामाजिक बनाती है तथा उसमें जनसेवा का विकास करती है। इसे **व्यक्ति की आत्मा की आवाज** भी कह सकते हैं। जैसे–जैसे व्यक्ति की उम्र बढ़ती है। इदम् कमजोर तथा पराअहम् मजबूत होता है।

मानव जीवन की अवस्था में इदम् की अवस्था सबसे लंबी तथा पराअहम् की अवस्था सबसे अल्प अवधि की होती है। जितने भी महान् व्यक्ति हुए है, उनमें पराअहम् सबसे मजबूत रहता है।

प्रश्न 4. फ्रायड के द्वारा प्रतिपादित मनोलैंगिक अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।
(छतरपुर 2021)

उत्तर–फ्रायड ने अपने सिद्धान्त में पाँच मनोलैंगिक स्तर या अवस्थाओं का वर्णन किया है–

फ्रायड के अनुसार, व्यक्ति को जीवन–पर्यन्त सक्रिय बनाये रखने वाली एक शक्ति है जिसे इन्होंने **लिबिडो** (Libido) नाम दिया। फ्रायड ने लेबिडो को मानव के सम्पूर्ण आनंद का स्रोत बताया।

मनोलैंगिक अवस्थाओं को लेबिडो के स्थान के आधार पर पाँच अवस्थाओं में बाँटा गया है। ये निम्नलिखित हैं–

1. मुख चूसन अवस्था (Oral stage) –मनोलैंगिक स्तर की प्रथम अवस्था है। इस अवस्था की आयु सीमा 0 से 2 वर्ष की होती है। इसमें लेबिडो का केन्द्र मुख होता है। इस अवस्था में बालक हर वस्तु को मुख में लेकर सुख की प्राप्ति करता है।

2. गुदा और मूत्र मार्गीय अवस्था (Anal stage) –यह मनोलैंगिक स्तर की दूसरी अवस्था है इसकी आयु सीमा 2 से 4 वर्ष होती है। इस अवस्था का काम सुख का केन्द्र मुख से हटकर मल–मूत्र विसर्जन स्थानों पर स्थानान्तरित हो जाता है। इस अवस्था में बालक बार–बार मल–मूत्र त्यागने में सुख का अनुभव करता है।

3. लिंग अवस्था (Phallic stage) –इस अवस्था की आयु सीमा 4 से 6 वर्ष की होती है। यह तीसरी अवस्था है, इस अवस्था में लेबिडो का केन्द्र जननांगों में स्थानान्तरित हो जाता है।

4. सुप्तावस्था या अव्यक्त अवस्था (Latency stage) –यह अवस्था 7 साल से किशोरावस्था के आगमन तक रहती है। यह यौन भावनाओं का सुषुप्ताकाल होता है। इसमें प्रायः बालक और बालिकाएँ अपने–अपने लिंग समूहों के साथ खेलना पसंद करते हैं। इस अवस्था में बालक आत्मकेन्द्रित होते हैं। इस अवस्था में लेबिडो का कोई विशेष केन्द्र नहीं होता है।

5. जनन अवस्था (Genital stage) –किशोरावस्था के आगमन से लेकर विकास की अंतिम अवस्था प्रारंभ होती है। इस अवस्था में बालक और बालिकाएँ अपने विपरीत लिंग की ओर आकर्षित होते हैं। इस अवस्था में आत्मनिर्भरता का गुण विकसित हो जाता है। इस अवस्था में बालक आत्मकेन्द्रित न होकर सामाजिक प्राणी में परिवर्तित हो जाता है।

प्रश्न 5. मनोसामाजिक सिद्धान्त के शैक्षिक निहितार्थ लिखिए। **(जबलपुर 2021)**

उत्तर–मनोसामाजिक सिद्धांत के शैक्षिक निहितार्थ निम्नलिखित हैं–

(1) विद्यालय जाने की आयु से छोटी आयु वाले बालकों को खेलने और अपने को अनेक क्रियाओं में लगाए रहने की स्वतंत्रता होनी चाहिए ताकि उनमें स्वाधीनता को प्रोत्साहन मिले।

(2) किण्डर गार्डन के स्तर पर अपने आप पहल की हुई क्रियाओं को सबसे अधिक महत्व दिया जाना चाहिए।

(3) बालकों में द्वेष की भावना न बने इस ओर सावधान रहने के लिए आवश्यक है कि 4 तथा 5 वर्ष की आयु के बालकों के अभिभावक और शिक्षक उनमें अपने भाई–बहनों तथा समान आयु के बालकों के साथ ईर्ष्या को नहीं पनपने दे।

(4) प्राथमिक कक्षा की आयु पर बालक, परिश्रम विपरीत हीनता के स्तर पर होता है। इस कारण प्रतिद्वन्द्वता को नहीं बढ़ने देना चाहिए वरन् उनमें जो मुकाबले में असफल होंगे उनमें हीनता की भावना पनप जायेगी। दूसरी ओर अवसर प्रदान करने चाहिए तथा ऐसे अनुभव को प्रोत्साहित करना चाहिए जो उनमें कार्य को उचित ढंग से करने पर प्रसन्नता प्रदान करता है।

(5) माध्यमिक कक्षा की आयु में बालक अभिज्ञान बनाम भूमिका द्विविधा के स्तर पर होते हैं। प्रत्येक विद्यार्थी अभिज्ञान की खोज में होता है। शिक्षकों को अभिज्ञान को प्रोत्साहन देना चाहिए। ऐसा करने के लिए शिक्षक उनके व्यक्तिगत रूप रंग को मान्यता दे तथा उन्हें अल्पकालीन उद्देश्य जो

वह प्राप्त कर सके उन्हें चुनने के लिए छात्र को प्रोत्साहित करे तथा उन्हें विश्वास दिलाए कि वह भी एक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व वाला व्यक्ति है।

(6) किशोराकाल में भूमिका द्विविधापूर्ण होती है। क्योंकि किशोरों को यह पता नहीं होता है कि कौन–सा व्यवहार वांछित है ? जिसको दूसरे लोग अच्छा समझेंगे। इसलिए शिक्षक को इनका सही मार्गदर्शन करना चाहिए।

एरिक्सन के व्यक्तित्व विकास के सिद्धान्त की सहायता प्राप्त कर व्यक्ति के सभी उम्र में उनमें विकसित होते हुए उनके व्यक्तित्व को समझा जा सकता है तथा शिक्षक इसके ज्ञान से छात्रों के व्यक्तित्व को आकार देने में सफल हो सकते हैं।

प्रश्न 6. बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था के संवेगों में क्या अंतर पाया जाता है ?

उत्तर–बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था के संवेगों में अंतर इस प्रकार हैं–

1. बाल्यावस्था में संवेग–क्रो एवं **क्रो** का कथन है–(i) संपूर्ण बाल्यावस्था में संवेगों की अभिव्यक्ति में निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं। (ii) ये परिवर्तन किस प्रकार होते हैं और इनका बालक के संवेगात्मक विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका वर्णन नीचे किया जा रहा है–

(1) बालक के संवेग अधिक निश्चित और कम शक्तिशाली हो जाते हैं। वे बालक को शैशवावस्था के समान उत्तेजित नहीं कर पाते हैं। उदाहरणार्थ–6 वर्ष की आयु में बालक का अपने भय और क्रोध पर नियंत्रण हो जाता है।

(2) बालक के संवेगों में शिष्टता आ जाती है और उसमें उनका दमन करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। अतः वह अपने माता–पिता, शिक्षक और बड़ों के सामने उन संवेगों को प्रकट नहीं होने देता है, जिनको वे पसंद नहीं करते हैं।

(3) बालक के संवेगात्मक विकास पर विद्यालय के वातावरण का व्यापक प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ–आदर्श, स्वतंत्र और स्वस्थ वातावरण उसके संवेगों का परिष्कार करता है जबकि भय, आतंक और कठोरता के वातावरण में ऐसा होना असंभव है।

(4) बालक के संवेगात्मक विकास में शिक्षक का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। अप्रिय व्यवहार, शारीरिक दण्ड और कठोर अनुशासन में विश्वास करने वाला शिक्षक बालक में मानसिक ग्रंथियों का निर्माण कर देता है जो उसके संवेगात्मक विकास को विकृत कर देती है।

(5) बाल्यावस्था में बालक विभिन्न समूहों का सदस्य होता है। इन समूहों में साधारणतः पारस्परिक घृणा, द्वेष और ईर्ष्या पायी जाती है। बालक इन अवांछनीय संवेगों से प्रभावित हुए बिना नहीं बचता है। अतः वह दूसरे बालकों के प्रति अपने व्यवहार में इन संवेगों को व्यक्त करने लगता है।

(6) **एलिस क्रो के अनुसार**– "बालक अपने दोषों के परिणामों को सोचकर चिंतित हो जाता है और अपने से अधिक प्रतिभाशाली बच्चों से ईर्ष्या करता है।"

(7) **एलिस क्रो के अनुसार**–"बालक समान्य रूप से प्रसन्न रहता है और दूसरों के प्रति उसका विद्वेष अस्थायी होता है।"

2. किशोरावस्था में संवेग–कोल एवं **ब्रूस** का विचार है–किशोरावस्था के आगमन का मुख्य चिन्ह संवेगात्मक विकास में तीव्र परिवर्तन है।

(1) किशोर में प्रेम, दया, क्रोध, सहानुभूति आदि संवेग स्थायी रूप धारण कर लेते हैं। वह इन पर नियंत्रण नहीं रख पाता है। अतः वह साधारणतया अन्यायी व्यक्ति के प्रति क्रोध और दुःखी व्यक्ति के प्रति दया अभिव्यक्त करता है।

(2) किशोर की शारीरिक शक्ति की उसके संवेगों पर स्पष्ट छाप होती है। उदाहरणार्थ–स्वस्थ और सबल किशोर में संवेगात्मक स्थिरता एवं निर्बल और अस्वस्थ किशोर में संवेगात्मक अस्थिरता पायी जाती है।

(3) किशोर अनेक बात में चिंतित रहता है। उदाहरणार्थ–उसे अपनी आकृति, स्वास्थ्य, सम्मान, धन प्राप्ति, शैक्षिक प्रगति, सामाजिक सफलता और अपनी कमियों की सदैव चिंता रहती है।

(4) **क्रो एवं क्रो के अनुसार**– "किशोर के ज्ञान, रुचियों और इच्छाओं की वृद्धि के साथ संवेगों को उत्पन्न करने वाली घटनाओं या परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाता है।" **उदाहरणार्थ**–बाल्यावस्था में बाल विवाह जैसी सामाजिक कुरीति उसके लिये मनोरंजन का कारण हो सकती है, किशोरावस्था में यह कुरीति उसके क्रोध को प्रज्ज्वलित कर सकती है।

(5) किशोर न तो बालक समझा जाता है और न प्रौढ़। अतः उसे अपने संवेगात्मक जीवन में वातावरण से अनुकूलन करने में बहुत कठिनाई होती है। यदि वह अपने प्रयास में असफल हो जाता है तो वह घोर निराशा का शिकार हो जाता है। ऐसी दशा में वह या तो घर से भाग जाता है या आत्महत्या करने की बात सोचता है।

(6) **बी.एन. झा के अनुसार**–"किशोरावस्था में बालक और बालिका, दोनों में काम–प्रवृत्ति बहुत तीव्र हो जाती है और उनके संवेगात्मक व्यवहार पर असाधारण प्रभाव डालती है।"

(7) **बी.एन. झा के अनुसार**–"किशोरावस्था में संवेगात्मक विकास इतना विचित्र होता है कि किशोर एक ही परिस्थिति में विभिन्न अवसरों पर विभिन्न प्रकार का व्यवहार करता है जो परिस्थिति एक अवसर पर उसे उल्लास से भर देती है वही परिस्थिति दूसरे अवसर पर उसे खिन्न कर देती है।"

प्रश्न 7. 'एरिक एरिक्सन के मनोसामाजिक सिद्धान्त' का विस्तृत वर्णन कीजिए।

(छतरपुर 2021; भोपाल 22; उज्जैन 22)

***अथवा,* 'एरिक्सन के व्यक्तित्व विकास के सिद्धांत' का टीकात्मक मूल्यांकन कीजिए।**

(इन्दौर 2021, मार्च 23; छतरपुर 22; रीवा 22)

***अथवा,* मनोसामाजिक हस्ती के रूप में बालक के विकास पर प्रकाश डालिए। (छिंदवाड़ा 2021)**

***अथवा,* एरिक्सन के व्यक्तित्व विकास के मनोसामाजिक सिद्धांत की विशेषताएँ लिखिए।**

(छिंदवाड़ा 2022)

उत्तर–'एरिक एरिक्सन व्यक्तित्व विकास के सिद्धान्त' को पश्चजनक सिद्धान्त (Epigentic principle) पर केन्द्रित करते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार, भ्रूण (Embryo) के विकास में शरीर के कुछ अंग कुछ विशिष्ट समय पर प्रकट होते हैं और अंतिम रूप में मिलकर बालक का सम्पूर्ण रूप बनाते हैं। एरिक्सन के अनुसार व्यक्तित्व का विकास इसी प्रकार होता है।

उनका कहना है कि जिस प्रकार से शरीर के विभिन्न भाग जब प्राणी माँ के गर्भ में होता है, अन्तः सम्बन्धित रूप से विकसित होते हैं। उसी प्रकार एक व्यक्ति का व्यक्तित्व बनता चलता है। यह सब अहम् के स्तर प्रारंभ में किसी रूप में प्रस्तुत तो रहते हैं किन्तु प्रत्येक विकास का एक निजी समय होता है।

मनोसामाजिक विकास की अवस्था–एरिक्सन ने व्यक्तित्व विकास को एक परावर्तन बिन्दुओं की शृंखला कहा है, और उसका वर्णन वांछित तथा अवांछित युग्म/जोड़े शाखीय शब्दों में करते हैं। एरिक्सन ने, वांछित एवं अवांछित योग्यताओं का जोड़ा (Pair) बनाकर उसके स्थापित या विकसित होने की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। इनके अनुसार, जब नकारात्मक गुण सकारात्मक गुण से अधिक मान ग्रहण कर लेंगे तभी विकास की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जायेंगी।

मनोसामाजिक विकास के स्तर निम्नलिखित हैं–

1. विश्वास बनाम अविश्वास–इस स्तर की आयु–सीमा जन्म से 1 वर्ष की होती है, जो मूल बात एक शिशु को सीखनी होती है, वह यह है कि वह अपने आस–पास के लोगों में विश्वास कर सकता है।

जब शिशु की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति उनके अभिभावकों द्वारा पूरी होती है, तो उनमें विश्वास का भाव पनपता है। माता–पिता का वास्तविक प्यार जब बालक को मिलता रहता है, तो

बालक में संसार के प्रति विश्वास हो जाता है, इसके विपरीत यदि उसकी कोई परवाह नहीं करता केवल दिखावा करता है, तो बालक संसार के प्रति भय/शंका का भाव या दृष्टिकोण अपनाता है।

2. स्वाधीनता बनाम शर्म तथा शंका—इस अवस्था की आयु–सीमा 1 से 3 वर्ष है। इस आयु में बालक अपने माता–पिता पर विश्वास करना सीख जाता है तब माता–पिता को बालक के लिए कुछ हद तक स्वतंत्रता देनी चाहिए। अभिभावकों द्वारा बालकों को उनकी योग्यता एवं गति के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता देनी चाहिए। ऐसा करने से उनमें स्वाधीनता की भावना का विकास होगा।

यदि अभिभावक या शिक्षक ऐसा नहीं करते और बालक का कार्य स्वयं करते हैं, तो बालक में वातावरण का सामना करने की अपनी योग्यता के संबंध में शंका उत्पन्न हो जाती है।

3. पहल बनाम दोष—इस अवस्था की आयु–सीमा 3 से 6 वर्ष तक है। यदि बालकों में प्रयोग करने तथा खोज करने की स्वतंत्रता होती है, तो उनमें पहल करने की प्रवृत्ति विकसित होती है। यदि उन पर प्रतिबंध लगाये जाते हैं, तो दोष की भावनाएँ पनपती हैं।

4. परिश्रम बनाम हीनता—इस अवस्था की आयु–सीमा 6 से 12 वर्ष तक है। यदि बालक को प्रोत्साहन मिलता है, तो वह परिश्रमी हो जाता है। इस अवस्था में शिक्षक एवं बालक से सहपाठी उसके लिए सामाजिक प्रतिनिधि की भूमिका में होते हैं जिनसे बालक के समाजीकरण की प्रक्रिया प्रभावित होती है। इसके विपरीत यदि उसके (बालक) प्रयास विफल होते हैं अथवा उसे हतोत्साहित किया जाता है, तो उसमें हीनता की भावना उभरती है।

इस अवस्था को यदि बालक सफलता या सकारात्मक रूप से पूर्ण करता है, तो उसमें सद्‌गुण एवं नैतिकता का गुण विकसित होता है।

5. अभिज्ञान विपरीत भूमिका द्विविधा—इस अवस्था की आयु–सीमा 12 से 20 वर्ष है। यदि इस आयु के बालक विभिन्न स्थितियों में अपनी भूमिकाओं को लेकर आश्वस्त होता है, तो उसमें अभिज्ञान विकसित होता है। इसके विपरीत यदि उनको अपनी भूमिका को लेकर स्पष्टता न हो तो उनमें अपनी भूमिका को लेकर द्विविधा उत्पन्न हो जाती है। इस अवस्था का सकारात्मक विकास होने से बालक में वफादारी का गुण विकसित होता है।

6. घनिष्ठता बनाम अकेलापन—इस अवस्था की आयु–सीमा 20 से 40 वर्ष तक की होती है। युवा अपने अभिज्ञान को दूसरों के साथ मिला देने का इच्छुक होता है। वह घनिष्ठता के लिए तैयार होता है। इस स्तर का संकट यह है कि इस आयु में युवा अपने जैसे व्यक्ति के साथ ही घनिष्ठता बनाने के इच्छुक होते हैं। तो यदि ऐसे व्यक्ति मिलते हैं तब घनिष्ठ संबंध बन पाते हैं नहीं तो व्यक्ति अकेला रह जाता है।

7. उत्पादकता बनाम ठहराव—इस अवस्था की आयु–सीमा 40 से 65 वर्ष तक की होती है। उत्पादकता प्राथमिक रूप से नई पीढ़ी को निर्देश देने से संबंधित होती है। वह जो इस प्रक्रिया से अलग रहते हैं उनमें ठहराव आ जाता है।

8. सन्निष्ठा विपरीत नैराश्य—इस अवस्था की आयु–सीमा वृद्धा अवस्था है। सन्निष्ठा से तात्पर्य है कि व्यक्ति यह स्वीकार कर लेता है कि जैसा भी उसके जीवन का चक्र है वह वैसा ही होना था, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यह है कि वह अपने जीवन चक्र से सन्तुष्ट रहता है।

इसके विपरीत व्यक्ति नैराश्य से भरे होते हैं जो भावना व्यक्त करते हैं कि अब नया जीवन प्रारंभ करने के लिए समय बहुत कम है। नये मार्ग जीवन से सन्तुष्ट होने के लिए अब नहीं अपनाये जा सकते हैं।

एरिक्सन के सिद्धांत की विशेषताएँ (Characteristics of Erikson's Theory)—एरिक्सन के सिद्धांत की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

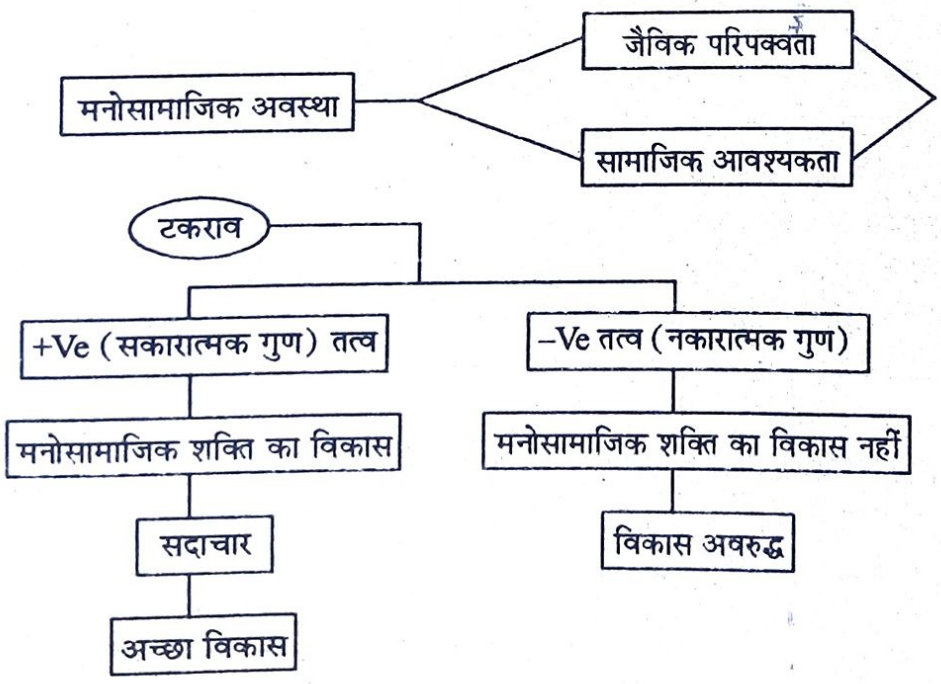
(1) एरिक्सन ने अपने व्यक्तित्व के मनोसामाजिक सिद्धांत (Psychosocial theory) में व्यक्तित्व विकास की आठ मनोसामाजिक अवस्थाएँ (Psychosocial stages) बतायी हैं। मानव का विकास इन्हीं आठ अवस्थाओं से होकर होता है। ये अवस्थाएँ (Universal) सर्वमान्य होती हैं। इन आठों (stages) अवस्थाओं में व्यक्तित्व का विकास विशेष नियमों द्वारा नियमित होता है, जिन्हें Epigenetic principle (पश्चजनक–सिद्धांत) कहते हैं।

(2) प्रत्येक मनोसामाजिक अवस्था में संकट उत्पन्न होता है। संकट का अर्थ ऐसे Turning point से है, जो उस अवस्था की जैविक परिपक्वता तथा सामाजिक आवश्यकता के टकराव के फलस्वरूप उत्पन्न होता है।

(3) प्रत्येक अवस्था में जैविक परिपक्वता तथा Social demand के बीच Conflict होने से सकारात्मक गुण तथा नकारात्मक गुण अवशोषित होते हैं। + Ve तत्व व्यक्ति के विकास में सहायक होते हैं तथा – Ve तत्व व्यक्ति के विकास को अवरुद्ध करते हैं।

(4) प्रत्येक अवस्था में होने वाली संकट का व्यक्ति को समाधान करना होता है। यदि व्यक्ति उस अवस्था के संकट का समाधान कर लेता है तो उसमें मनोसामाजिक शक्ति होती है, जिससे उसे सदाचार के गुण की प्राप्ति होती है परन्तु यदि व्यक्ति उस मनोसामाजिक शक्ति के संकट को दूर नहीं कर पाता तो उसमें मनोसामाजिक शक्ति उत्पन्न नहीं होती तथा उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है।

(5) एरिक्सन ने अपने व्यक्तित्व–विकास के मनोसामाजिक सिद्धांत में जन्म से लेकर मृत्यु तक की घटनाओं को स्थान दिया है, जो एरिक्सन के सिद्धांत की महत्वपूर्ण विशेषता है।



प्रश्न 8. एरिक्सन तथा फ्रायड द्वारा प्रतिपादित व्यक्तित्व के सिद्धांतों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए। **(ग्वालियर 2022)**

उत्तर—सिगमंड फ्रायड का व्यक्तित्व सिद्धांत और एरिक एरिक्सन का मनोवैज्ञानिक सिद्धांत विकास के दो प्रसिद्ध सिद्धांत हैं। जबकि वह फ्रायड के विचारों से प्रभावित थे। एरिक्सन का सिद्धांत

कई महत्वपूर्ण तरीकों से भिन्न था। फ्रायड की तरह एरिक्सन का मानना था कि व्यक्तित्व पूर्व निर्धारित चरणों की शृंखला में विकसित होता है। फ्रायड के मनोवैज्ञानिक चरणों के सिद्धांत के विपरीत, एरिक्सन का सिद्धांत पूरे जीवनकाल में सामाजिक अनुभव के प्रभाव का वर्णन करता है।

फ्रायड का सिद्धान्त खिलाने के महत्व केन्द्रित था, जबकि एरिक्सन चिंतित थे कि उत्तरदायी देखभाल करने वाले बच्चे की जरूरतों के प्रति कितने संवेदनशील है।

फ्रायड—फ्रायड ने इसे मौखिक चरण कहा है। इस चरण के साथ समस्याएँ फ्रायड को मौखिक निर्धारण के रूप में संदर्भित कर सकती हैं।

एरिक्सन के चरण—एरिक्सन ने इसे ट्रस्ट बनाम अविश्वास मंच कहा। बच्चे या तो अपनी देखभाल करने वालों पर विश्वास या अविश्वास करना सीखते हैं।

(1) 1 से 3 साल को फ्रायड ने विकास का गुदा चरण कहा। इस चरण में सफल होने वाले बच्चे क्षमता और उत्पादकता की भावना विकसित करते हैं। एरिक्सन इसे स्वायत्तता बनाम शर्म और संदेह मंच कहा। बच्चे खाने, शौचालय प्रशिक्षण और बात करने जैसी गतिविधियों को नियंत्रित करके आत्मनिर्भरता विकसित करते हैं।

(2) 3 से 6 साल—पूर्व स्कूली और प्रारंभिक वर्षो के दौरान, फ्रायड का सिद्धांत कामेच्छा की भूमिका से ज्यादा चिंतित था, जबकि एरिक्सन का सिद्धांत इस बात पर अधिक केन्द्रित था कि बच्चे माता–पिता और साथियों के साथ कैसे बातचीत करते हैं। फ्रायड ने इसे फेलिक चरण के रूप में संदर्भित किया। एरिक्सन ने इसे पहल मंच बनाम पहल कहा। बच्चे अपने पर्यावरण पर अधिक नियंत्रण लेना शुरू करते हैं।

(3) 7 से 11 साल—फ्रायड का मानना था कि इस उम्र में उन्होंने बचपन और किशोरावस्था के बीच एक संक्रमण कालीन अवधि के रूप में कार्य किया था। एरिक्सन का मानना था कि बच्चे आजादी और योग्यता की भावना उत्पन्न करना जारी रखते हैं।

(4) किशोरावस्था ने फ्रायड और एरिक्सन के विकास के सिद्धांतों में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। दोनों सिद्धांतों में किशोर में अपनी पहचान की भावना उत्पन्न होती है।

(5) फ्रायड का सिद्धांत विशेष रूप से जन्म और किशोर वर्ष के बीच विकास पर केन्द्रित था, जिसका अर्थ यह है कि व्यक्तित्व बड़े पैमाने पर बचपन से पत्थर में स्थापित होता है। दूसरी ओर एरिक्सन ने जीवनभर दृष्टिकोण लिया और माना कि विकास वृद्धावस्था में भी जारी है।

(6) फ्रायड ने प्रमाणिक किया कि जीवन के प्रारंभिक अनुभव व्यक्ति के विकास को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं। फ्रायड द्वारा अपने सिद्धांत में लिंग शब्द का उपयोग अत्यंत व्यापक अर्थों में किया गया है। इसलिए फ्रायड को कुछ लोग Dirty minded भी कहते हैं।

एरिक्सन के अनुसार युवा प्रौढ़ावस्था में घनिष्ठता विपरीत अकेलापन का संकट होता है यदि पहले वाले संकट उचित तरीके से सुलझा लिये गये हैं तो व्यक्ति इस काल के संकट में प्रवेश, दूसरों में विश्वास, स्वाधीनता के भाव, पहल करने की इच्छा, आत्मप्रतिष्ठा तथा अपनी योग्यताओं में विश्वास के साथ करता है। वह बहुत कुछ अपने ऊपर भरोसा रखता है और यह समझता है कि वह क्या है और क्या बनना चाहता है। इसके विपरीत वह व्यक्ति जिन्होंने पहले संकटों का सामना ठीक से नहीं किया उनमें यह सब गुण उपस्थित होते हैं। वह अपना अभिज्ञान खोजते रहते हैं वह घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं बना पाते और उनका समायोजन कठिन होता है।

(7) एरिक्सन ने बताया कि किशोर काल में भूमिका दुविधापूर्ण होती है, क्योंकि किशोरों को यह स्पष्ट पता नहीं होता कि कौन–सा व्यवहार वांछित है जिनको दूसरे अच्छा समझेंगे।

प्रश्न 9. व्यक्तित्व का आशय स्पष्ट करते हुए, व्यक्तित्व के निर्धारक तत्वों का वर्णन कीजिए। **(रीवा 2022)**

***अथवा*, एक अच्छे व्यक्तित्व की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।** **(छतरपुर 2021)**

उत्तर—व्यक्तित्व को ग्रीक की Persona शब्द से लिया गया है, जिसका वास्तविक अर्थ होता है "मुखौटा", जिसके बीच में से कोई कलाकार अपने संवादों को कहता है।

परिभाषा—अलपोर्ट के अनुसार—"व्यक्तित्व व्यक्ति में मनोदैहिक व्यवस्थाओं का वह गव्यात्मक संगठन है जो वातावरण के साथ उसके अनुपम समायोजन का निर्धारण करता है।"

मन के अनुसार—"व्यक्तित्व व्यक्ति की रचनाओं, व्यवहार के ढंगों, रुचियों, अभिवृत्तियों, शक्तियों, योग्यताओं तथा अभिरुचियों का विशिष्ट संगठन है।"

Personality : P : Perception capacity
E : Emotional stability
R : Responsiveness to situation
S : Self Expression
O : Organized
N : Not Permanent
A : Appearance
L : Leadership
I : Integrated
T : Tendencies
Y : Young

प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व होता है, जो अन्य किसी भी व्यक्ति से भिन्न तथा विशिष्ट होता है। व्यक्तित्व से हमारा तात्पर्य है, हमारे व्यवहार के कुल योग से है, जो हम स्वयं के प्रति तथा दूसरों के प्रति जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में करते हैं।

अन्य शब्दों में कहें तो कह सकते हैं, **व्यक्तित्व किसी व्यक्ति का किसी जीवन की परिस्थिति में व्यवहार है।** गणितीय रूप में देखें तो—

$P = \sum B \times E$

P : Personality (व्यक्तित्व)

B : Behaviour (व्यवहार)

E : Environment (वातावरण)

व्यक्तित्व की विशेषतायें— (1) व्यक्तित्व सदैव ही गत्यात्मक होता है।

(2) व्यक्तित्व से हमारे विचार, तर्क तथा कार्य निश्चित होते हैं।

(3) व्यक्तित्व दोनों शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक, बाहरी एवं आंतरिक होता है।

(4) व्यक्तित्व में संगठित तथा एकीकृत व्यवस्था होता है।

(5) व्यक्तित्व सामाजिक प्रतिक्रिया से विकसित होता है।

(6) प्रत्येक व्यक्तित्व की अपनी कुछ विशेष विशेषताएँ होती है।

(7) व्यक्तित्व व्यक्ति के वातावरण के साथ समायोजन का भी संकेत करता है।

(8) व्यक्तित्व स्वचेतन होता है।

व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले कारक—

जैविक कारक—अन्तःस्रावी ग्रंथि (Endocrine gland), शारीरिक संरचना।

मनोवैज्ञानिक कारक—रुचि, बुद्धि, प्रेरणा, अभिवृत्ति, अभिक्षमता।

वातावरणीय कारक—सामाजिक—पड़ोस, विद्यालय, मित्र।

सांस्कृतिक—धर्म, संस्कार, मूल्य।

प्रश्न 10. व्यक्तित्व को परिभाषित कीजिए एवं व्यक्तित्व विकास को प्रभावित करने वाले कारक स्पष्ट कीजिए। **(छिंदवाड़ा 2022)**

***अथवा*, व्यक्तित्व मापन की विधियों का वर्णन कीजिए।** **(ग्वालियर 2022)**

उत्तर– मानसिक शिक्षा विज्ञान के विकास ने व्यक्तित्व की पुरानी धारणाओं को बदल दिया है। व्यक्तित्व का आधार क्या होना चाहिए ? यह प्रश्न मनोवैज्ञानिकों के लिए जटिल बन गया था। उन्होंने विभिन्न रूपों एवं दृष्टिकोणों से व्यक्ति का अध्ययन किया और व्यक्तित्व की प्राचीन अवधारणाओं को समाप्त कर नवीन अवधारणा को स्थापित किया। प्रस्तुत अध्याय में हम व्यक्तित्व के सम्पूर्ण स्वरूप का विवेचन करेंगे। **जैसा कि गैरिसन कार्ल सी. और अन्य ने लिखा है**–"व्यक्तित्व सम्पूर्ण मनुष्य है, उसकी स्वाभाविक अभिरूचि तथा क्षमताएँ और उसके भूतकाल में अर्जित किये गये ज्ञान (अधिगम फल), इन कारकों का संगठन तथा समन्वय व्यवहार प्रतिमानों, आदर्श, मूल्यों तथा अपेक्षाओं की विशेषताओं से पूर्ण होता है।"

व्यक्तित्व का कोई स्थायी प्रत्यय नहीं है। समय–समय पर व्यक्तित्व का स्वरूप बदलता रहता है। वास्तव में, व्यक्तित्व उस तरीके को कहते हैं। जिसके द्वारा कोई व्यक्ति अपने परिवेश के साथ अनुकूलन करता है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि यदि किसी व्यक्ति का अपने परिवेश के साथ समुचित अनुकूलन है तो उसका व्यक्तित्व उत्तम है। विभिन्न व्यक्तियों का अपने परिवेश के साथ भिन्न प्रकार का अनुकूलन होता है। इसी कारण से उनका व्यक्तित्व भी भिन्न–भिन्न माना जाता है। व्यक्तित्व सदैव ही व्यवहार द्वारा ज्ञात होता है। व्यवहार व्यक्तित्व का बाहरी रूप है। व्यवहार में जितना अधिक संकलन होगा उतना ही सुदृढ़ व्यक्तित्व माना जायेगा।

व्यक्तित्व विकास को प्रभावित करने वाले कारक–

(1) वंशानुक्रम (Heredity)– अनेक मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययनों के आधार पर सिद्ध कर दिया है कि व्यक्तित्व के विकास पर वंशानुक्रम का प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता है।

उदाहरणार्थ, फ्रांसिस **गाल्टन** ने प्रमाणित किया है कि वंशानुक्रम के कारण ही व्यक्तियों के शारीरिक और मानसिक लक्षणों में भिन्नता दिखायी देती है। इसी प्रकार **कैंडोल** और **कार्ल पियरसन** ने भी सिद्ध किया है कि कुलीन एवं व्यवसायी कुलों में उत्पन्न होने वाले व्यक्ति ही साहित्य, विज्ञान और राजनीति के क्षेत्रों में यश प्राप्त करते हैं। सारांश में हम **स्किनर** तथा **हैरीमैन** के शब्दों में कह सकते हैं, "मनुष्य का व्यक्तित्व स्वाभाविक विकास का परिणाम नहीं है। उसे अपने माता–पिता से कुछ निश्चित शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक और व्यावसायिक शक्तियाँ प्राप्त होती है।"

(2) जैविक कारक (Biological factors)– मुख्य जैविक कारक है– नलिकाविहीन ग्रन्थियाँ (Ductess Glands), अन्तः स्रावी ग्रन्थियाँ (Endocrine glands) और शारीरिक रसायन (Body Chemistry) इन कारकों का व्यक्तित्व के विकास पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके विषय में **गैरेट** का मत है, "जैविक कारकों का प्रभाव सामाजिक कारकों के प्रभाव से अधिक सामान्य और कम विशिष्ट है, पर किसी प्रकार कम महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि जैविक कारक ही व्यक्तित्व के विकास की सीमा को निर्धारित करते हैं।"

(3) शारीरिक रचना (Physical structure)– शारीरिक रचना के अंतर्गत शरीर के अंगों का पारस्परिक अनुपात, शरीर की लम्बाई और भार, नेत्रों और बालों का रंग, मुखाकृति आदि आते हैं। ये सभी किसी न किसी रूप में व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करते हैं।

(4) दैहिक प्रवृत्तियाँ (Physiological tendencies)– दैहिक प्रवृत्तियों के कारक शरीर के अन्दर रासायनिक परिवर्तन होते हैं, जिनके फलस्वरूप व्यक्ति महत्वकांक्षी या आकांक्षाहीन, सक्रिय या निष्क्रीय बनता है। इन बातों का उसके व्यक्तित्व के विकास पर वांछनीय या अवांछनीय प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। **वुडवर्थ** का कथन है, "शरीर की दैहिक दशा, मस्तिष्क के कार्य पर प्रभाव डालने के कारण व्यक्ति के व्यवहार एवं व्यक्तित्व को प्रभावित करती है।"

(5) मानसिक योग्यता (Mental ability)– व्यक्ति में जितनी अधिक मानसिक योग्यता होती है, उतना ही अधिक वह अपने व्यवहार को समाज के आदर्शों और प्रतिमानों के अनुकूलन बनाने में

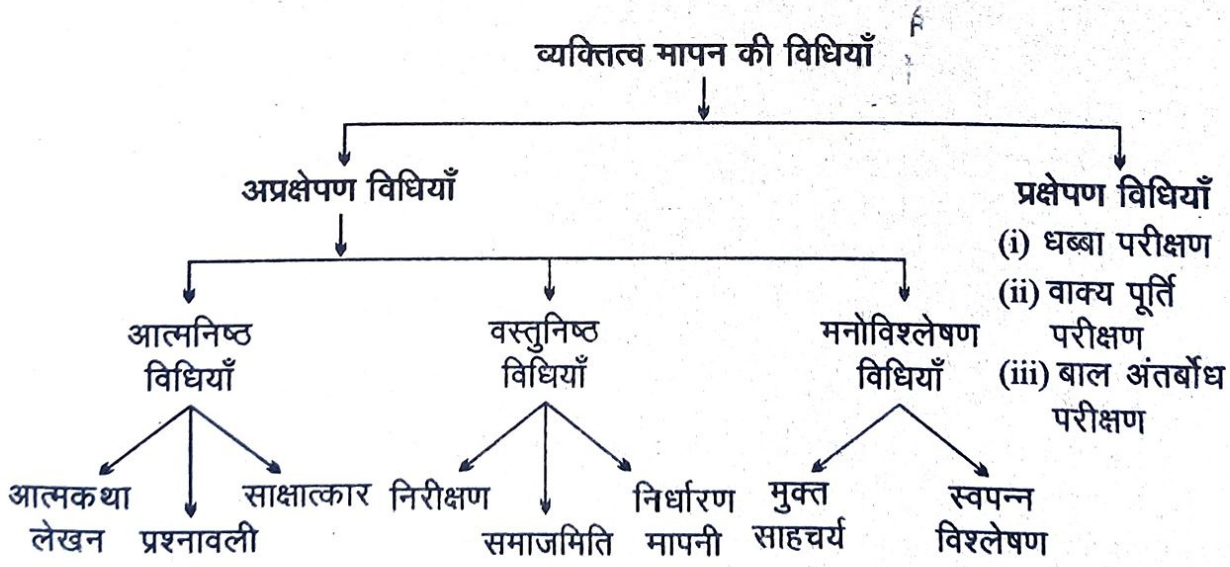
सफल होता है। परिणामतः उसके व्यक्तित्व का उतना ही अधिक विकास होता है। उसकी तुलना में अल्प मानसिक योग्यता वाले व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास कहीं कम होता है।

(6) विशिष्ट रूचियाँ (Specific interest)– मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास उस सफलता के अनुपात में होता है जो उसे किसी कार्य को करने से प्राप्त होती है। इस सफलता का मुख्य आधार है– उस कार्य में उसकी विशिष्ट रूचि। कला या संगीत में विशिष्ट रूचि लेने वाला व्यक्ति ही कलाकार या संगीतज्ञ के रूप में उच्चतम स्थान पर पहुँच सकता है।

(7) परिवार (Family)– व्यक्तित्व के निर्माण का कार्य परिवार में आरम्भ होता है। यदि बालक को परिवार में प्रेम, सुरक्षा और स्वतंत्रता का वातावरण मिलता है तो उसमें साहस, स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता आदि गुणों का विकास होता है। इसके विपरीत उसके प्रति कठोर व्यवहार और छोटी–छोटी बातों पर डाँट लगाया जाता है तो वह कायर और असत्यभाषी बन जाता है।

(8) विद्यालय (School)– व्यक्तित्व के विकास पर विद्यालय की सभी बातों का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। जैसे पाठ्यक्रम, अनुशासन, शिक्षक, छात्र–छात्रा संबंध आदि। अनेक मनोवैज्ञानिकों की यह अटल धारणा है कि औपचारिक पाठ्यक्रम, कठोर अनुशासन, प्रेम और सहानुभूति शिक्षक एवं छात्रों के पारस्परिक वैमनस्यपूर्ण सम्बन्ध व्यक्तित्व को निश्चित रूप से कुण्ठित और विकृत कर देते हैं। क्रो एवं क्रो के शब्दों में, "बालक के विकसित होने वाले व्यक्तित्व पर विद्यालय के अनुभवों का प्रभाव उससे कहीं अधिक पड़ता है, जितना कि कुछ शिक्षकों का विचार है।"

व्यक्तित्व मापन की विधियाँ– व्यक्तित्व मापन की विधियों से तात्पर्य एक ऐसे परीक्षण, यन्त्र या विधि से है, जिसके द्वारा व्यक्तित्व शीलगुणों का मूल्यांकन किया जाता है। मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार व्यक्तित्व को उन गुणों या लक्षणों का समूह कहा गया है जिसके कारण विभिन्न व्यक्तियों में भिन्नता दिखाई देती है। व्यक्तित्व मापन की विधियाँ निम्न हैं–



I. अप्रक्षेपण विधियाँ–1. आत्मनिष्ठ विधियाँ–

(i) आत्मकथा लेखन– इस विधि में व्यक्ति को कुछ निर्धारित शीर्षकों के अंतर्गत अपने जीवन की घटनाओं व संस्मरणों का वर्णन लिखने को कहा जाता है। इसके आधार पर व्यक्ति के गुण–दोषों का पता लगाया जाता है। इसमें व्यक्ति तथ्य छिपाकर अधूरी जानकारी भी दे सकता है।

(ii) प्रश्नावली (Questionaire)– इस विधि में व्यक्ति के गुणों के परीक्षण हेतु प्रश्नों की सूची तैयार की जाती है, जिसमें व्यक्ति हाँ या ना में उत्तर देता है। कुछ प्रश्नों के पूरे उत्तर देने पड़ते हैं। प्रश्नावली चार प्रकार की होती है–

(a) बंद प्रश्नावली– इस प्रश्नावली में हाँ या ना में उत्तर देना पड़ता है।

(b) खुली प्रश्नावली– इसमें प्रश्न का पूरा उत्तर लिखना पड़ता है।

(c) सचित्र प्रश्नावली– इसमें चित्रों पर निशान लगाकर प्रश्नों के उत्तर दिए जाते हैं।

(d) मिश्रित प्रश्नावली– इसमें उपर्युक्त तीनों का मिश्रण होता है।

(iii) व्यक्ति इतिहास (Case history)– इस विधि में परीक्षक व्यक्ति के माता–पिता, पड़ोसी, रिश्तेदार आदि से उसके सम्बन्ध में अनेक प्रश्न पूछता है। इस प्रकार प्राप्त सामग्री से परीक्षक इस निष्कर्ष को खोजने का प्रयास करता है कि इस व्यक्ति की किन–किन आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हुई, वह वातावरण में कहाँ तक समायोजित हो पाता है, उसके वांछित व्यवहार का क्या कारण है ? इस प्रकार इस विधि का प्रयोग अपराधी बालक या व्यक्ति के उपचार में किया जाता है।

(iv) साक्षात्कार (Interview)– इस विधि का प्रयोग शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं के अध्ययन में किया जाता है। इस विधि के दो रूप है–

(a) औपचारिक– इसमें साक्षात्कारकर्ता व्यक्ति से अनेक प्रश्न पूछता है। इसका प्रयोग कई उम्मीदवारों में से एक या कुछ को चुनने के लिए करते हैं।

(b) अनौपचारिक– इसमें साक्षात्कारकर्ता कम से कम प्रश्न पूछता है और व्यक्ति को अपने बारे में अधिक से अधिक बताने के लिए अवसर प्रदान करता है। इस विधि का प्रयोग व्यक्ति को समस्या समाधान के उपाय बताने के लिए किया जाता है।

2. वस्तुनिष्ठ विधियाँ

(i) निरीक्षण विधि (Observation methods)– इसमें शिक्षक बालक का विभिन्न परिस्थितियों में सतत् निरीक्षण करता है तथा इसके आधार पर व्यक्तित्व के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकाले जाते हैं। निरीक्षण नियंत्रित होता है।

(ii) समाजमिति विधि (Sociogram)– इस विधि में किसी समूह के प्रत्येक व्यक्ति को एक या दो प्रश्न देकर उनकी प्रतिक्रियाएँ ज्ञात कर उनके आधार पर समाजमिति का निर्माण किया जाता है। इससे उस समूह में परस्पर सम्बन्धों को स्पष्ट किया जाता है। बालक के सामाजिक गुणों के विकास के लिए यह सर्वोत्तम विधि है।

(iii) निर्धारण मापनी (Rating scale)– इस विधि में व्यक्ति के किसी विशेष गुण या कार्यकुशलता का मूल्यांकन उसके सम्पर्क में रहने वाले लोगों से करवाया जाता है। उसके गुण को पाँच या अधिक कोटियों में विभाजित करके, मतदाताओं से उस संबंध में अपने विचार व्यक्त करने का अनुरोध किया जाता है। जिस कोटि को सबसे अधिक मत प्राप्त होते हैं, व्यक्ति को उसी प्रकार का समझा जाता है।

3. मनोविश्लेषणात्मक विधियाँ

(i) मुक्त साहचर्य परीक्षण (Free association test)– इस विधि के प्रवर्तक फ्रायड हैं। इस विधि का प्रयोग मानसिक रोगियों के लिये किया जाता है इस विधि में मनोचिकित्सक व्यक्ति को सम्मोहित कर अर्धचेतन अवस्था में लाकर प्रश्न पूछता है। जिससे उसकी छिपी भावनाएँ प्रकट होती है और रोग का पता चलता है।

(ii) स्वप्न विश्लेषण (Dream analysis)– इस विधि में व्यक्ति को स्वप्नों का वर्णन करने के लिए कहा जाता है। इसके आधार पर इच्छापूर्ति में बाधक तत्वों का पता लगाकर उनका निराकरण किया जाता है।

II. प्रक्षेपण विधियाँ–

(i) धब्बा परीक्षण (Blot method)– इसमें स्याही के धब्बों वाले 10 कार्डों का प्रयोग किया जाता है। इसमें 5 काले, 2 काले व लाल और 3 अनेक रंगों के होते हैं। ये कार्ड एक–एक करके

परीक्षार्थी को दिखाये जाते हैं। परीक्षार्थी इनको देखकर जो प्रतिक्रिया करता है, परीक्षक उन्हें चार्ट पर अंकित कर लेता है, और इसकी सहायता से विश्लेषण किया जाता है।

(ii) वाक्य पूर्ति परीक्षण (Story completion test)– इस विधि में छात्र को अधूरे वाक्य पूर्ण करने के लिए दिए जाते हैं, जिससे उसके व्यक्तित्व का पता लगाया जाता है। यह विधि केवल शिक्षित लोगों के लिए उपयोगी है।

(iii) बाल अन्तर्बोध परीक्षण (Children apperception test)– इसमें जानवरों के चित्र दिखाकर इनके माध्यम से बच्चों के परिवार, सफाई, प्रशिक्षण आदि से संबंधित समस्याओं एवं आदतों का पता लगाया जाता है।

प्रश्न 11. बालक के विकास में परिवार की भूमिका का विस्तार से वर्णन कीजिए।

(रीवा 2021; ग्वालियर 21)

***अथवा,* पालन–पोषण किस प्रकार बालक के विकास को प्रभावित करता है ?**

(जबलपुर 2022)

उत्तर–बालक के विकास में परिवार की भूमिका निम्नलिखित हैं–

1. शारीरिक शिक्षा–बालक के स्वास्थ्य की रक्षा तथा उसका शारीरिक विकास करना परिवार का मुख्य कार्य है। परिवार में माता–पिता अपने बालक के स्वास्थ्य की रक्षा तथा उसके शारीरिक विकास के लिए पौष्टिक भोजन, वस्त्र, खेल–कूद तथा व्यायाम आदि की अच्छी–अच्छी व्यवस्था करके ऐसे सुन्दर वातावरण का निर्माण करते हैं कि उसमें साफ–सुथरा रहने, व्यायाम करने तथा अन्य सभी स्वास्थ्यवर्धक क्रियाओं को करने की उपयुक्त आदतें पड़ जाएँ। दूसरे शब्दों में, बालक के स्वास्थ्य तथा शारीरिक विकास की चिन्ता जितनी अधिक माता–पिता को हो सकती है उतनी अधिक संसार के और किसी व्यक्ति को नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में माता–पिता की ममता विशेष उल्लेखनीय है। जहाँ माता स्वयं नहीं खाती बालक को खिलाती है। वह स्वयं नहीं सोती बालक को सुलाती है। इस प्रकार बालक के शारीरिक विकास पर उसके परिवार का गहरा प्रभाव पड़ता है।

2. मानसिक विकास–परिवार का दूसरा कार्य बालक का मानसिक विकास करना है। स्मरण रहे कि मानसिक विकास के लिए विचार, कल्पना, निरीक्षण तथा परीक्षण आदि मानसिक शक्तियों का विकास आवश्यक है, पर ये शक्तियाँ केवल उसी समय विकसित हो सकती हैं जब इनके विकास हेतु बालक को अधिक–से–अधिक वस्तुओं से सम्पर्क स्थापित करने के लिए उपयुक्त अवसर प्रदान किए जाएँ। इस दृष्टि से साधनहीन परिवारों की अपेक्षा साधन सम्पन्न परिवार अपने बालकों को विभिन्न वस्तुओं से सम्पर्क स्थापित करने के लिए अधिक–से–अधिक अवसर प्रदान कर सकते हैं। अतः साधन सम्पन्न परिवारों के बालकों को निर्धन परिवारों के बालकों की अपेक्षा मानसिक विकास के लिए अधिक तथा उपयुक्त अवसर प्रदान होते हैं।

3. संवेगात्मक विकास–बालक के संवेगात्मक विकास पर भी परिवार का गहरा प्रभाव पड़ता है। घर की सफाई, फर्नीचर, पेड़–पौधे, फल–फूल, चित्र, गृह–सज्जा तथा इसी प्रकार के तत्व बालक को हर समय संवेगात्मक दृष्टि से प्रभावित करते हैं। लगातार सुन्दर वस्तु को देखने से बालक में सौन्दर्य बोध उत्पन्न हो जाता है जिससे उसकी विभिन्न रुचियाँ तथा अभिरुचियाँ विकसित होती हैं। यही नहीं परिवार के सदस्यों का आपसी व्यवहार अथवा सम्बन्ध भी बालक को संवेगात्मक दृष्टि से प्रभावित करता है। निम्न परिवारों में सहयोगपूर्ण व्यवहार तथा स्नेहपूर्ण सम्बन्ध होते हैं। उनके बालकों की आवश्यकताएँ तथा भावनाएँ पूरी होती रहती हैं। परिणामस्वरूप उनमें, सहानुभूति, स्नेह, साहस, आनंद, प्रसन्नता तथा आत्मविश्वास आदि अनेक प्रभावात्मक संवेगों का विकास होता है इसके विपरीत जिन परिवारों में सदैव कलह, लड़ाई–झगड़े तथा मार–पीट का वातावरण बना

रहता है उन परिवारों के बालकों में भय, घृणा, क्रोध, चिन्ता तथा ईर्ष्या आदि अनेक निषेधात्मक संवेग विकसित हो जाते हैं। इस प्रकार पारिवारिक वातावरण का बालक के संवेगात्मक विकास से घनिष्ठ संबंध होता है।

4. सामाजिक विकास--परिवार का एक सूक्ष्म समाज होता है जहाँ पर बालक का सामाजिक विकास होता है। वैसे तो बालक को सामाजिक दृष्टि से विकसित करना स्कूल का कार्य है, परन्तु चूँकि परम्परागत स्कूल इस कार्य को करने में असफल हो चुके हैं, इसलिए आजकल उनके स्थान पर सामाजिक जीवन को विकसित करने के लिए प्रगतिशील स्कूलों को स्थापित किया जा रहा है। वास्तविकता यह है कि इन प्रगतिशील स्कूलों में बालकों के सामाजिक विकास हेतु जिस वातावरण की आवश्यकता है वह अब भी परिवार जैसी छोटी–सी संस्था में बिना कुछ खर्च किये ही आसानी से मिल जाता है। इस दृष्टि से बालक को सामाजिक जीवन का परिचय देने के लिए परिवार से अच्छी कोई संस्था नहीं है। परिवार में बालक अन्य सदस्यों के साथ रहते हुए सामाजिक आदर्शों, परम्पराओं तथा व्यवहारों को सीखता रहता है। उसमें प्रेम, सहानुभूति, सद्भावना, सहयोग, त्याग, परोपकार, उत्तरदायित्व एवं न्यायप्रियता आदि अनेक सामाजिक भावनाओं एवं गुणों का विकास स्वतः ही हो जाता है।

5. धार्मिक विकास– परिवार ही ऐसी संस्था है जहाँ बालक का धार्मिक विकास बिना किसी कठिनाई के किया जा सकता है। भारत जैसे धर्म निरपेक्ष राष्ट्र में तो बालक को शिक्षा देना अब परिवार का ही कार्य है। परिवार में रहते हुए बालक को धार्मिक पुस्तकें पढ़ने, धार्मिक कथाएँ सुनने, पूजापाठ तथा अन्य सदस्यों के साथ धार्मिक कार्यों में भाग लेने के लिए विभिन्न अवसर प्राप्त होते हैं। ऐसे वातावरण में रहते हुए बालक एक विशेष धर्म का पालन करने लगता है तथा उनमें अनेक नैतिक तथा धार्मिक गुण विकसित हो जाते हैं।

6. संस्कृति का हस्तांतरण– आज के औद्योगिक युग में संस्कृति का संरक्षण, विकास तथा हस्तांतरण वैसे तो स्कूल का कार्य है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि परिवार इस महत्वपूर्ण कार्य से विमुख हो गया है। वास्तविकता यह है कि संस्कृति अलग–अलग होती है और वह अब भी परिवारों में ही पलती है। स्कूल में तो बालक संस्कृति को सीखता है, परन्तु परिवार में रहते हुए वह अपनी संस्कृति को स्वतः ही ग्रहण कर लेता है। यही कारण है कि अब भी हिन्दू संस्कृति हिन्दू परिवारों में तथा मुस्लिम संस्कृति मुस्लिम परिवारों में जीवित है।

7. भाषा का विकास– यद्यपि भाषा की शिक्षा आजकल स्कूलों तथा कॉलेजों में दी जाती है, परन्तु परिवार में रहते हुए बालक अपनी मातृभाषा को सरलता से सीख जाता है। अनुभव की बात है कि भाषा को बोलते समय शब्दों का उच्चारण जितना अच्छा सुशिक्षित परिवारों के बालक करते हैं उतना अच्छा पिछड़े परिवारों के बालक स्कूल में पढ़कर भी नहीं कर पाते। इस प्रकार भाषा की शिक्षा पर भी परिवार का ही विशेष प्रभाव पड़ता है।

8. रुचियों तथा आदतों का विकास– बालक की अच्छी अथवा बुरी रुचियाँ तथा आदतें परिवार में ही विकसित होती हैं। परिवार के सभी सदस्य जिन बातों अथवा वस्तुओं को अच्छा अथवा बुरा कहते हैं, बालक भी उन्हें वैसा ही कहने लगता है। इस प्रकार परिवार में रहते हुए बालक के अन्दर आरम्भ से ही अच्छी अथवा बुरी रुचियों तथा आदतों का विकास होने लगता है। बचपन में पड़ी हुई रुचियाँ तथा आदतें आगे चलकर बालक के चरित्र को प्रभावित करती हैं। जो परिवार इस सम्बन्ध में पहले से ही सतर्क रहते हैं उनके बालकों की आरम्भ से ही वांछनीय रुचियाँ तथा प्रशासनीय आदतें विकसित होने लगती हैं। इसके विपरीत जो परिवार इस सम्बन्ध में आँखें मींच लेते हैं उनके बालकों में अनुचित रुचियाँ तथा बुरी आदतें पड़ जाती हैं। माता–पिता की यह असावधानी बालकों के लिए तथा उनके स्वयं के लिए आगे चलकर महँगी पड़ती हैं।

9. नैतिकता तथा चरित्र का विकास– बालक में नैतिकता तथा चारित्रिक विकास गुणों को विकसित करने के लिए परिवार के प्रभावों का स्थान मुख्य होता है तथा अन्य संस्थाओं का गौण। अन्य संस्थाओं में तो नैतिक गुणों की प्रत्यक्ष शिक्षा मिलती है। वह माता से प्रेम, भाई–बहनों से भ्रातृत्व भावना तथा पिता से न्याय की शिक्षा प्राप्त करता है। यही नहीं उसके ऊपर परिवार के रहन–सहन, खान–पान, वेश–भूषा, तथा आचार–विचारों की गहरी छाप पड़ती है। यह छाप उसके चरित्र को पूर्णतया प्रभावित करती है। इन सभी प्रभावों के परिणामस्वरूप या तो बालकों में दया, प्रेम, श्रद्धा, सद्भावना, सत्य तथा ईमानदारी एवं सच्चरित्रता आदि गुणों का विकास होता है अथवा वह हृदयहीन, स्वार्थी, दयाहीन तथा दुश्चरित्र बन जाता है। इस प्रकार अपने जीवन के प्रथम छः वर्षों में परिवार के ही अन्दर बालक का नैतिक एवं चारित्रिक विकास हो जाता है।

10. जन्मजात प्रवृत्तियों एवं प्रेरणा का विकास– प्रत्येक बालक की कुछ जन्मजात प्रवृत्तियाँ एवं प्रेरणाएँ होती हैं। इन सबका प्रकाशन आवश्यक है। यदि किसी कारण वश इनका प्रकाशन नहीं हो सके तो बालक के अन्दर की भावना ग्रंथियाँ बन जाती है। इन भावना ग्रंथियों से उसका व्यक्तित्व विकृत हो जाता है। यदि बालक के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना है तो इस प्रवृत्तियों तथा प्रेरणाओं को प्रकाशन के लिए उपयुक्त वातावरण की रचना करना परम आवश्यक है। परिवार स्थान जहाँ पर बालक को समस्त प्रवृत्तियाँ तथा प्रेरणाओं के प्रकाशन के लिए उपयुक्त वातावरण हर समय मिलता है।

11. व्यक्तित्व का विकास– यद्यपि बालक के व्यक्तित्व के विकास का उत्तरदायित्व अनेक संस्थाओं के ऊपर है, फिर भी इसका बीजारोपण परिवार में ही होता है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक माता का अपने बालक के प्रति दृष्टिकोण पूर्णतया वैयक्तिक होता है। प्रत्येक माता यही चाहती है कि उसका बालक संसार के सभी व्यक्तियों से श्रेष्ठ हो। अतः माता के साथ–साथ परिवार के सभी सदस्य बालक की वैयक्तिकता का विश्लेषण करते हैं तथा उसके विकास हेतु उपयुक्त वातावरण की रचना करते हैं।

12. व्यावहारिक तथा व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था–परिवार का प्रभाव बालक की व्यावहारिकता तथा व्यावसायिक शिक्षा पर भी पड़ता है। जैसे–जैसे बालक बड़ा होता जाता है, वैसे–वैसे उसे दूसरों के साथ उठने–बैठने, बातचीत करने, बाहर से आने वाले अतिथियों का सत्कार एवं व्यवहार करने का स्वतः ही ज्ञान हो जाता है। यही नहीं, उसे परिवार के अन्य सदस्यों के साथ कार्य करके अपने पैतृक व्यवसाय की शिक्षा भी अप्रत्यक्ष रूप से मिलती रहती है। बढ़ई, दर्जी, धोबी, नाई, तेली, कुम्हार, लुहार तथा ठठेरे आदि सभी अपने–अपने परिवार में ही अपने पैतृक व्यवसाय की शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं। आगे चलकर वे इसी व्यवसाय को अपनी जीविका का साधन बना लेते हैं।

प्रश्न 12. बाल्यावस्था की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए। (ग्वालियर 2021)

उत्तर–बालक–विकास की दृष्टि से बाल्यावस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. शारीरिक एवं मानसिक विकास में स्थिरता (Stability in Physical and Mental growth)– बाल्यावस्था में विकास की गति में स्थिरता आ जाती है। विकास की दृष्टि से इस अवस्था को दो भागों में बाँटा जा सकता है–

(i) 6 से 9 वर्ष – संचयकाल (Conservation period)
(ii) 10 से 12 वर्ष – परिपाक काल (Consolidation period)

शैशवावस्था और पूर्व बाल्यकाल (6 से 9 वर्ष) में विकास हो जाता है वह प्राकृतिक नियमों के अनुसार उत्तर बाल्यकाल (10 से 12 वर्ष) में दृढ़ होने लगता है। उनकी चंचलता शैशवावस्था की अपेक्षा कम हो जाती है और वयस्कों के समान व्यवहार करता हुआ दिखाई पड़ता है। इसीलिए रॉस

ने बाल्यावस्था को 'मिथ्या परिपक्वता' (Pseudo maturity) का बताते हुए कहा है—"शारीरिक और मानसिक स्थिरता बाल्यावस्था की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है।"

2. मानसिक योग्यताओं का विकास (Development in Mental abilities)—बर्ट के अनुसार "इस अवस्था में बालकों में सभी आवश्यक मानसिक योग्यताएँ विकसित होने लगती हैं। मूर्त तथा प्रत्यक्ष वस्तुओं के लिए सरलता से चिंतन कर लेता है। समझने, स्मरण करने, तर्क करने आदि की योग्यताएँ विकसित हो जाती हैं।"

3. प्रबल जिज्ञासा प्रवृत्ति (Intense in Curiosity)—बाल्यावस्था में जिज्ञासा की प्रवृत्ति बहुत तीव्र हो जाती है। वह अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए माता–पिता व घर के अन्य सदस्यों से प्रश्न पूछता है। शैशवावस्था में उसके प्रश्नों की प्रवृत्ति 'क्या' तक सीमित रहती है, परन्तु बाल्यावस्था में वह 'क्यों' और 'कैसे' भी जानना चाहता है।

4. वास्तविक जगत में संबंध (Relationship with real world)—बालक काल्पनिक जगत से निकल कर वास्तविकता जगत में विचरण करने लगता है। वह वास्तविक जगत की प्रत्येक वस्तु से आकर्षित होता है तथा इसके बारे में अधिक–से–अधिक जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। **स्ट्रैंग** के अनुसार, "बालक अपने को अति विशाल संसार में पाता है और उसके बारे में जल्दी–से–जल्दी जानकारी प्राप्त करना चाहता है।"

5. आत्मनिर्भरता की भावना (Feeling of Self-dependence)—इस समय शैशवावस्था की भाँति बालक शारीरिक एवं दैनिक कार्यों के लिए पराश्रित नहीं रहता है। वह अपने दैनिक कार्य (नहाना–धोना, कपड़े पहनना, स्कूल जाने की तैयारी आदि) स्वयं कर लेता है।

6. रचनात्मक कार्यों में रुचि (Interest in Constructive work)—बाल्यावस्था में रचनात्मक कार्यों में रुचि की बहुलता होती है। बालक–बालिकाएँ निर्माण कार्य करने में आनन्द और संतोष अनुभव करते हैं। लड़के–लड़कियाँ अपनी रुचि के अनुसार विविध कार्यों को करने में रुचि दिखाते हैं। जैसे—मकान बनाना, मिट्टी से खिलौने बनाना, रंगीन कागज तथा कपड़े से फूल आदि बनाना, लकड़ी की कोई वस्तु बनाना, गुड़िया बनाना आदि।

7. संवेगों पर नियंत्रण (Control on emotions)—बाल्यावस्था में संवेगों में स्थिरता आ जाती है। बालक भय और क्रोध को नियन्त्रित करना सीख लेता है। वह अपने माता–पिता व अध्यापकों के सामने भी अपनी भावनाएँ प्रकट करने में संकोच करते हैं। साथ ही वे यह भी सीख लेते हैं कि किसके सामने कौन–सी भावना को व्यक्त करना लाभकारी हो सकता है।

8. सामाजिक गुणों का विकास (Development of Social qualities)—बालक, विद्यालय के विद्यार्थियों और अपने समूह के सदस्यों के साथ पर्याप्त समय व्यतीत करता है। अतः उसमें अनेक सामाजिक गुणों का विकास होता है। जैसे—सहयोग, सद्भावना, सहनशीलता और आज्ञाकारिता आदि।

9. सामूहिक प्रवृत्ति की प्रबलता (Intensity in Group feeling)—बालक अधिक–से–अधिक समय दूसरे बालकों के साथ व्यतीत करना चाहता है। वह किसी–न–किसी समूह का सदस्य बन जाता है। अतः बालक में प्रबल सामूहिक प्रवृत्ति होती है। **रॉस** का विचार है, "बालक प्रायः अनिवार्य रूप से किसी–न–किसी समूह का सदस्य बन जाता है, जो अच्छे खेल खेलने और ऐसे कार्य करने के लिए नियमित रूप से एकत्रित होते हैं, जिसके बारे में बड़ी आयु के लोगों को कुछ भी नहीं बताया जाता है।"

10. बहिर्मुखी व्यक्तित्व का विकास (Development of Extrovert personality)—इस अवस्था में बालकों में बहिर्मुखी प्रवृत्ति विकसित होने लगती है। वे बाहर घूमने, बाहर की वस्तुओं को देखने, दूसरों के प्रति जानने आदि में रुचि प्रदर्शित करने लगते हैं।

11. संग्रह प्रवृत्ति का विकास (Development of Acquisition instinct)—संग्रह की प्रवृत्ति बाल्यावस्था में तीव्र होती है। बालक विशेष रूप से पुराने स्टाम्प, गोलियाँ, खिलौने, मशीनों के कल-पुर्जों और पत्थर के टुकड़े और बालिकाएँ विशेष रूप से खिलौने, गुड़िया, कपड़े के टुकड़े आदि संग्रह करती देखी जाती हैं।

12. घूमने-फिरने/भ्रमण की प्रवृत्ति (Tendency of roaming)—मनोवैज्ञानिकों ने अनेक अध्ययनों के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि 9-10 वर्ष की अवस्था में बालकों में बिना किसी उद्देश्य के इधर-उधर घूमने की प्रवृत्ति तीव्र होती है। इसीलिए उनमें प्रायः स्कूल से कक्षाएँ छोड़कर भागने, आलस्यपूर्ण ढंग से समय बर्बाद करने आदि जैसी आदतें विकसित हो जाती है।

प्रश्न 13. मनोविश्लेषणवाद से आपका क्या मन्तव्य है? शिक्षा में इसका महत्व प्रतिपादित कीजिए। **(ग्वालियर 2022)**

***अथवा*, इदम् (Id) व अहम् (Ego) का अर्थ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कीजिए।**

(उज्जैन 2022; इंदौर मार्च 23)

उत्तर—मनोविश्लेषणवाद शब्द मनोविश्लेषण तथा वाद से मिलकर बना है मनोविश्लेषण का अर्थ है—व्यक्ति के मन का विश्लेषण करना और वाद का अर्थ है—वह पद्धति जिसके माध्यम से व्यक्ति के मन का विश्लेषण किया जाता है। फ्रायड ने मन का विश्लेषण कर जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया उसे मनोविश्लेषणवाद कहा जाता है। मनोविश्लेषणवाद के प्रवर्तक सिगमण्ड फ्रायड हैं। फ्रायड ने सभ्यता और संस्कृति की श्रेष्ठतम उपलब्धियों को मानव की काम प्रवृत्ति की अभिव्यंजनाएँ माना है। उनके अनुसार मनुष्य जीवन में कुछ भी मूल्यवान और धार्मिक नहीं है। मनुष्य काम-प्रवृत्ति के हाथों की कठपुतली मात्र है।

फ्रायड की मनोवैज्ञानिक पद्धति को हम तीन विषयों में बाँट सकते हैं—

(1) अचेतन मन, (2) लिबिडो या काम-प्रवृत्ति, (3) ग्रंथियाँ।

(1) अचेतन मन (Unconcious mind)—फ्रायड के अनुसार मनुष्य का मन बर्फ के शिलाखंड के समान है। इसमें वे अनुभूतियाँ एवं संवेदनाएँ आती हैं जो घृणित, कामुक, असमाजिक एवं अनैतिक होती हैं जिन्हें सामान्य दैनिक जीवन में पूरा नहीं किया जा सकता।

(2) लिबिडो या काम-प्रवृत्ति—फ्रायड काम प्रवृत्ति को ही साहित्य सृजन की मूल प्रेरणा मानते हैं। उनका विचार है कि साहित्यकार कल्पनाशील होता है, अतः वह अपनी कल्पना को काम-प्रतीकों के रूप में प्रकट करता है।

(3) ग्रंथियाँ—फ्रायड का मत है कि इच्छाओं और वासनाओं के दमन से ग्रंथियाँ या कुण्ठाएँ निर्मित होती हैं।

शिक्षा में महत्व—शिक्षा में मनोविश्लेषणवाद का महत्व निम्नलिखित हैं—

(1) मनोविश्लेषण ने मनोविज्ञान के क्षेत्र में क्रांति ला दी है। इसके आधार पर आत्मा और मन को त्याग कर मनोविज्ञान चेतना का विज्ञान बन गया।

(2) फ्रायड से पहले कोई भी चिकित्सक अपने रोगी के उपचार में मनोविज्ञान की उपयोगिता को समझ नहीं सकता था, परन्तु अब मानसिक रोगों के उपचार में मनोविज्ञान की उपयोगिता बढ़ गयी है।

(3) पहले मनुष्य स्वप्न के रहस्य को नहीं समझ पाता था। स्वप्न का वैज्ञानिक विश्लेषण करके फ्रायड ने मनोचिकित्सा में स्वप्न विश्लेषण की महत्ता को स्थापित किया।

(4) चेतन तथा अचेतन मन को महत्वपूर्ण माना और अचेतन मन को व्यक्तित्व निर्माण का एक प्रमुख कारक भी स्वीकार किया। तब से अचेतन का महत्व बढ़ता गया और व्यक्तित्व के अध्ययन में अचेतन की समीक्षा की जाने लगी। शिक्षा के क्षेत्र में अचेतन की गरिमा ने तहलका मचा दिया।

अचेतन मन में होने वाले संघर्ष बालक की शिक्षा को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। शिक्षक को अचेतन मन की इस संघर्षशीलता से परिचित होना चाहिए। शिक्षा की प्रक्रिया में, अधिगम की प्रक्रिया में तथा स्मृति एवं विस्मृति में अचेतन सक्रिय रहता है। छात्र, शिक्षक, अभिभावक, शैक्षिक प्रशासक तथा सभी के व्यवहार के अचेतन प्रेरकों पर हमारा ध्यान जाना चाहिए। उसके अनुसार शिक्षा व्यवस्था करनी चाहिए। छात्र की शैक्षिक उपलब्धि पर उसके मानसिक जगत का प्रभाव पड़ता है और मानसिक जगत का बहुत बड़ा भाग अचेतन के रूप में है। इसके अध्ययन पर बल देकर मनोविश्लेषण ने शिक्षा पर उपकार किया।

फ्रायड ने इदम्, अहम्, पराहम् की धारणा विकसित करके व्यक्तित्व संबंधी विचारों पर नवीन प्रकाश डाला।

इदम् (Id)—फ्रायड के अनुसार मानव व्यक्तित्व की संरचना में इदम् का प्रमुख स्थान होता है। इदम् का संबंध अनुवांशिकता से होता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में जितने भी जन्मजात एवं शारीरिक गुण होते हैं उनका सम्बन्ध इदम् से होता है। इदम् का संबंध अचेतन मन से होता है। इसमें वे सभी अनुभूतियाँ एवं संवेदनाएँ आती हैं, जिनका सम्बन्ध न तो चेतन मन से होता है और न ही पूर्व चेतन मन से। इसमें आने वाली अनुभूतियाँ एवं चेतनाएँ, संवेदनाएँ, अनैतिक, घृणित, कामुक एवं असमाजिक होती हैं। इदम् समस्त मूल आदतों को विकसित करता है एवं समस्त मूल प्रवृत्तियों का स्थल है। इदम् का सम्बन्ध मानव शक्ति से भी है। मानव की शक्ति में जो शक्ति होती है, उसका सम्बन्ध इदम् से होता है। इदम् उस ओर मुड़ जाता है जिस ओर सुख प्राप्त होता है।

उदाहरण—जब बालक को भूख लगती है तो वह रोता है। जब उसकी भूख शांत होती है तो उसे सुख का अनुभव होता है और वह रोना बंद कर देता है।

अहम्—सामान्य रूप से व्यक्ति का "मैं" ही फ्रायड की शब्दावली का अहम् है। अहम् का विकास इदम् से होता है। इदम् का वह रूप जो बाह्य जगत के सम्पर्क में आता है, उससे ही अहम् का विकास होता है। अहम् की पहली विशेषता यह है कि यह सहज गतियों पर नियंत्रण रखता है। मानव शरीर में कई सहज गतियाँ होती हैं, जिन पर अहम् नियंत्रण रखता है। अहम् मानव शरीर को हानिकारक प्रभावों से बचाता है, वातावरण में अनेक ऐसी घटनाएँ होती हैं, जिनका प्रभाव मानव शरीर पर हानिकारक होती है। अहम् मानव शरीर को इन हानिकारक प्रभावों से बचाता है। इस हेतु अहम् अपने पूर्व अनुभवों से लाभ उठाता है। पूर्व अनुभव स्मृति में संचित रहते हैं जिनका उपयोग अहम् मानव शरीर को हानिकारक प्रभावों से बचाने में करता है। अहम् मानव शरीर में पुलिसमैन की तरह कार्य करता है। क्या किया जाना चाहिए और क्या नहीं इसका निर्णय अहम् द्वारा किया जाता है। अहम् मानव शरीर की विवेचन शक्ति है, जो यह निर्णय करती है कि मानव की कौन-कौन सी इच्छाएँ हैं और उसे कैसे और कब पूरा करना चाहिए। अहम् इदम् की ऐसी अनुभूतियों और संवेदनाओं पर भी नियंत्रण रखता है, जो कामुक, अनैतिक, घृणित एवं असमाजिक होती हैं। इस प्रकार अहम् इदम् पर नियंत्रण रखता है।

उदाहरण—यदि फुटपाथ पर चलने पर कोई व्यक्ति आपको धक्का देता है तो यह आपको पीछे मुड़ने या उस पर चीखने से रोकता है। यह प्रतिक्रिया देता है कि यह प्रक्रिया सामाजिक रूप से अस्वीकार्य होगी।

प्रश्न 14. "एक मनोदैहिक इकाई" (a psycho-social entity) के रूप में बालक का अर्थ स्पष्ट कीजिए। **(इंदौर मार्च 2023)**

उत्तर—एक बालक को "एक मनोदैहिक इकाई" के रूप में देखना एक ऐसा संकेत देता है कि हम एक बालक को सम्पूर्ण रूप से देख रहे हैं, उनके विकास की मानसिक और सामाजिक दोनों

पहलुओं को ध्यान में रखकर विचार कर रहे हैं। इस संदर्भ में बालक केवल एक जैविक जीव नहीं है, बल्कि विभिन्न मानसिक और सामाजिक कारकों द्वारा रूपित एक जटिल प्राणी है।

मानसिक रूप से, एक बच्चे के मानसिक और भावनात्मक विकास, मानसिक क्षमताएँ और व्यक्तित्व गुण उनकी पहचान के महत्वपूर्ण हिस्से हैं। ये मानसिक कारक तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं कि एक बच्चा दुनिया को कैसे देखता है, जानकारी की कैसे प्रक्रिया करता है और रिश्तों का कैसे निर्माण करता है। सामाजिक दृष्टिकोण से परिवार, सहयोगी और समाज के साथ एक बच्चे के परिप्रेक्ष्य में उनके विकास को प्रभावित करते हैं सामाजिक कारक, सांस्कृतिक मान्यताओं, मूल्यों और समाज की उम्मीदों को शामिल करते हैं जो एक बच्चे के व्यवहार, मूल्यों और पहचान निर्माण को प्रभावित करते हैं।

एक बालक को मानसिक सामाजिक प्राणी के रूप में देखकर हम उनकी भलाई और विकास के बारे में मानसिक और सामाजिक घटकों के बीच खेल का सम्मान करते हैं। यह दृष्टिकोण बालक को सहयोगी वातावरण प्रदान करने का महत्वपूर्ण साधन है जो एक बालक के जीवन के व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य को पहचानते हैं। बालक का विकास सर्वप्रथम एक व्यक्तित्व के रूप में होता है। जन्म के बाद धीरे–धीरे उनका संवेगात्मक और सामाजिक विकास प्रारंभ होता है। एक व्यक्ति विशेष के रूप में उसे पहचाना जाने लगता है। शारीरिक विकास से फलस्वरूप उसकी लंबाई तथा भार में वृद्धि हो जाती है एवं मांसपेशियाँ सुदृढ़ हो जाती हैं, उनका मानसिक विकास भी प्रारंभ हो जाता है।

प्रश्न 15. विद्यालय की आवश्यकता एवं उसके सामाजिक और शैक्षिक उत्तरदायित्वों का वर्णन कीजिए।

***अथवा,* बालक के सामाजीकरण में विद्यालय की भूमिका की विस्तृत विवेचना कीजिए।**

(छिन्दवाड़ा 2021, 22; भोपाल 22)

***अथवा,* विद्यालय का बालक के व्यक्तित्व विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है ? व्याख्या कीजिए।**

उत्तर–(अ) विद्यालय की आवश्यकता – प्राचीन युग में मानव का जीवन अत्यन्त सरल था। उस युग में ज्ञान की इतनी वृद्धि नहीं हुई थी जितनी आज हो गई है। इसका कारण है कि उन्हें परिवार एवं अन्य औपचारिक साधनों के द्वारा पूरा कर लिया जाता था। परन्तु जनसंख्या की वृद्धि तथा जीवन की आवश्यकताओं की बाहुल्यता के कारण शनैः–शनैः संस्कृति का रूप इतना जटिल होता चला गया कि उसका सम्पूर्ण ज्ञान बालक को परिवार तथा अन्य औपचारिक साधनों के द्वारा देना कठिन हो गया। इधर माता–पिता भी जीविकोपार्जन के चक्कर में फँसने लगे। उनके पास बालकों को शिक्षा देने के लिए न तो इतना समय हो रहा और न वे इतने शिक्षित थे कि वे उनको भाषा, भूगोल, इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, शरीर रचना तथा वैज्ञानिक अनुसंधानों के सम्पूर्ण ज्ञान की शिक्षा दे सकें। अतः एक ऐसी नियमित संस्था की आवश्यकता अनुभव होने लगी जो सामाजिक तथा सांस्कृतिक सम्पत्ति को सुरक्षित रख सके तथा उसे विकसित करके भावी पीढ़ी को हस्तान्तरित कर सके। इस दृष्टि से स्कूल का जन्म हुआ। ध्यान देने की बात है कि आरम्भ में स्कूलों से केवल उच्च वर्ग के लोगों ने ही लाभ उठाया। जन–साधारण के लिए स्कूलों की स्थापना करना केवल आधुनिक युग की देन है। जैसे–जैसे जनतंत्रवादी दृष्टिकोण विकसित होता गया। वैसे–वैसे स्कूलों के रूप में भी परिवर्तन होता चला गया।

(ब) विद्यालय के शैक्षिक उत्तरदायित्व, कार्य एवं महत्व– विद्यालयों का निर्माण कोई समाज अथवा राज्य अपने बच्चों एवं युवकों की शिक्षा की व्यवस्था के लिए ही करता है। विद्यालयों का एकमात्र उत्तरदायित्व समाज अथवा राज्य द्वारा निश्चित शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति करना होता है, बच्चों के व्यवहार में वांछित परिवर्तन करना होता है और इसके लिए वे अनेक कार्य करते हैं। किसी समाज अथवा राज्य की शिक्षा के उद्देश्य उसके जीवन दर्शन, उसकी संरचना, उसके राज्यतंत्र,

उसके अर्थतंत्र, मनोवैज्ञानिक तथ्य और वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर निर्भर करते हैं। अतः देशकाल के साथ इसमें परिवर्तन होना स्वाभाविक है।

आज हमारे देश में लोकतंत्र है। लोकतंत्र व्यक्ति और समाज दोनों को समान आदर की दृष्टि से देखता है और शिक्षा के द्वारा व्यक्ति के वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार के विकास पर समान बल देता है, वह बच्चों के शारीरिक तथा व्यावसायिक विकास को आवश्यक समझता है। पर यह सब विकास इस प्रकार होना चाहिए, कि उससे व्यक्ति, समाज और राज्य सभी का हित हो। यह तभी संभव है जब बच्चों को लोकतंत्रीय जीवन के लिए तैयार किया जाये, उनमें 'हम' की भावना अर्थात् राष्ट्रीय एकता का विकास किया जाए। लोकतंत्र सह–अस्तित्व में विश्वास करता है इसलिए अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास पर ही बल देता है। भारत की जनता धर्म परायण है। हमारा कुछ ऐसा विश्वास है कि जब तक मनुष्य को धर्म की शिक्षा नहीं दी जाती, उसका आध्यात्मिक विकास नहीं किया जाता, तब तक उसे सच्चे अर्थों में मनुष्य नहीं बनाया जा सकता, ऐसा मनुष्य जो मनुष्य–मनुष्य में अन्तर न करे, सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिए प्रयत्न करे, आज ये सब ही हमारी शिक्षा के उद्देश्य हैं। इन उद्देश्यों की प्राप्ति हम विद्यालयों द्वारा करते हैं। इन उद्देश्यों की प्राप्ति ही हमारे विद्यालयों का उत्तरदायित्व है। उनके कार्य हैं और इन कार्यों का सम्पादन ही उनका महत्व है।

विद्यालय के कुछ प्रमुख कार्य एवं उत्तरदायित्व एवं उनका महत्व इस प्रकार हैं–

1. विद्यालय और बच्चों का शारीरिक विकास– आज शिक्षा का उद्देश्य बच्चों को कुछ विषयों का ज्ञान मात्र कराना ही नहीं होता अपितु शिक्षा के द्वारा हम बालक का सर्वांगीण विकास करना चाहते हैं। मनुष्य के किसी भी प्रकार के विकास के लिए उसका शारीरिक विकास होना बहुत आवश्यक होता है। आज ये विद्यालय बालक–बालिकाओं के शारीरिक विकास के लिए विशेष प्रयत्न करते हैं। आज विद्यालयों से यह आशा की जाती है कि वे बच्चों के लिए खेल–कूद तथा व्यायाम की पूरी–पूरी व्यवस्था करे, उन्हें स्वास्थ्य सम्बन्धी ज्ञान कराएँ, उनमें स्वास्थ्य रक्षा के लिए आवश्यक आदतों का निर्माण करें उनके स्वास्थ्य की समय–समय पर परीक्षा कराएँ और रोगग्रस्त होने पर उनका इलाज कराएँ। इतना ही नहीं, अपितु अब तो यह भी आवश्यक समझा जाने लगा है कि विद्यालय बच्चों के लिए पौष्टिक भोजन की व्यवस्था करें। विद्यालयों में एन.सी.सी. तथा स्कॉउटिंग आदि की व्यवस्था भी शारीरिक विकास में सहायक होती है।

2. विद्यालय और बच्चों का मानसिक विकास– एक युग था जब मानसिक विकास से तात्पर्य कुछ विषयों के ज्ञान से लिया जाता था और तब मानसिक विकास ज्ञानात्मक विकास का पर्याय था। शक्ति मनोविज्ञान ने मानसिक शक्तियों–स्मृति, कल्पना, चिन्तन और तर्क आदि के विकास को ही मानसिक विकास कहा। परन्तु आज मानसिक विकास का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है। मानसिक विकास का सीधा सम्बन्ध विचारों से होता है और विचारों का भाषा से। इसलिए मानसिक विकास का सबसे पहला सोपान बच्चों की भाषा में विकास करना होता है। भाषा और विचारों का चोली–दामन का साथ होता है। भाषा के साथ विचारों और विचारों के साथ भाषा का विकास होता है, ये दोनों विकास एक साथ होते हैं। इसके बाद इसके क्षेत्र में मानसिक शक्तियों–स्मृति, कल्पना, चिन्तन और तर्क आदि का विकास आता है और मानसिक विकास उच्चतम सीमा विवेक शक्ति का विकास आता है। मानसिक विकास के तीसरे सोपान पर विभिन्न तथ्यों की जानकारी आती है और चौथे तथा अंतिम सोपान पर मानसिक रोगों से बचने के उपाय आते हैं। बच्चों के इस सम्पूर्ण मानसिक विकास के लिए सबसे अधिक अवसर विद्यालयों में मिलते हैं। विद्यालयों में बच्चे एक–दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, एक–दूसरे से विचारों का आदान–प्रदान करते हैं, इससे उनकी भाषा और विचारों, दोनों में विकास होता है। आज विद्यालयों में बच्चों को किसी विषय का ज्ञान सीधे नहीं करवाया जाता, इस ज्ञान की प्राप्ति में बच्चे सक्रिय भाग लेते हैं। वे स्वयं सीखते हैं, स्वयं तर्क करते हैं, स्वयं सामान्यीकरण करते

हैं, और स्वयं निर्णय निकालते हैं। इस प्रकार एक तरफ उनके ज्ञान में वृद्धि होती है और दूसरी तरफ उनकी मानसिक शक्तियों– स्मृति, कल्पना, चिंतन और तर्क आदि में विकास होता है। विद्यालय बच्चों को स्वयं करके, स्वयं सीखने के अवसर देते हैं। इनकी प्रयोगशालाओं में बच्चे प्रयोग करते हैं, निरीक्षण करते हैं, सामान्यीकरण करते हैं और निर्णय निकालते हैं। इस प्रकार उनकी निरीक्षण, सामान्यीकरण और निर्णय करने की शक्तियों का विकास होता है। ज्ञान के प्रकाश से विवेक का विकास स्वाभाविक ही है। इस सब के साथ–साथ विद्यालयों में विभिन्न विषयों का ज्ञान कराया जाता है और उन्हें मानसिक रोगों से बचाया जाता है।

3. विद्यालय और बच्चों का सामाजिक विकास– विद्यालय का एक प्रमुख औपचारिक कार्य बालक में सामाजिक भावना को विकसित करना है। वास्तविकता यह है कि विद्यालय समाज का लघु रूप होता है। अतः विद्यालय को चाहिए कि बालक के सामने छात्र संगठनों (Students unions), समाज सेवा, कैम सामाजिक उत्सव तथा अभिभावकों, शिक्षक, संघ आदि की व्यवस्था करके ऐसा सामाजिक वातावरण प्रस्तुत करें कि बालकों में सामूहिक प्रवृत्ति तथा सामाजिक दृष्टिकोण उत्पन्न होते रहें तथा उनमें सामाजिक चेतना, सहानुभूति, सहयोग, सामाजिक सेवा, सहनशीलता तथा अनुशासन आदि विभिन्न सामाजिक गुण विकसित हो जाएँ।

4. संस्कृति की सुरक्षा, सुधार तथा हस्तांतरण– विद्यालय का कार्य संस्कृति की सुरक्षा, उसमें सुधार तथा उसे भावी पीढ़ी को हस्तांतरित करना है। अतः विद्यालय को चाहिए कि वह संस्कृति की रक्षा तथा सुधार करें एवं उसे भावी पीढ़ी को विभिन्न सामाजिक एवं वैज्ञानिक विषयों के रूप में हस्तांतरित करें जिससे बालक प्राकृतिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक सभी प्रकार के वातावरण से परिचित हो जाए।

5. विद्यालय और बच्चों का नैतिक चारित्रिक विकास– विद्यालयों में बच्चों को उच्च सामाजिक पर्यावरण मिलता है। यहाँ की सामाजिक क्रियाओं में भाग लेने में उन्हें अपने संवेगों पर नियंत्रण रखना होता है, नियमों का पालन करना होता है, सही बात के समर्थन में शक्ति का प्रयोग करना होता है, और इस प्रकार बड़े सहज भाव में उनका नैतिक एवं चारित्रिक विकास होता है। वैसे भी विद्यालयों में भाषा, साहित्य और सामाजिक विषयों के शिक्षण के साथ–साथ नैतिक शिक्षा दी जाती है। प्रातःकालीन सभा में प्रार्थना व नैतिक उपदेश बच्चों के नैतिक एवं चारित्रिक विकास हेतु ही आयोजित किये जाते हैं।

6. विद्यालय और व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा–विद्यालय का अगला प्रमुख कार्य बालकों को व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा देना है। अतः यह आवश्यक है, कि विद्यालय बालकों को व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा प्रदान करे जिससे आगे चलकर वे समाज तथा अन्य व्यक्तियों पर भार न बनते हुए अपनी जीविका की समस्या को स्वयं ही सुलझा लें। भारत जैसे निर्धन देश में विद्यालयों को इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

7. विद्यालय और नागरिकता का विकास– विद्यालय का अगला औपचारिक कार्य बालकों में नागरिकता के गुणों को विकसित करना है, जिससे वे वर्तमान जनतंत्र की उत्तम तथा उत्तरदायित्व पूर्ण नागरिक बन जाएँ। एक उत्तम नागरिक को अपने कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का ज्ञान होना एवं उनका उचित प्रयोग करना परम आवश्यक है। इस दृष्टि से विद्यालय को बालकों के समक्ष ऐसा वातावरण प्रस्तुत करना चाहिए जिसमें रहते हुए उन्हें अपने कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का ज्ञान हो जाए।

उपरोक्त कार्यों के साथ ही साथ बालक विद्यालय में राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति की चेतना का विकास कर राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति में सहयोग करता है। इसके साथ ही साथ वह उसमें आध्यात्मिक गुणों के विकास में भी सहायक होता है।

प्रश्न 16. सामाजिक विकास से क्या आशय है ? सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों की व्याख्या कीजिए।

उत्तर—सामाजिक विकास—"सामाजिक विकास से तात्पर्य समाज के नियमों के अनुरूप बालक में व्यवहार करने की योग्यता का विकास है। सामाजिक विकास के अर्थ को स्पष्ट करते हुए **ई.बी. हरलॉक** ने लिखा है, सामाजिक विकास से तात्पर्य सामाजिक अपेक्षाओं के अनुरूप व्यवहार करने की योग्यता को प्राप्त करना है।"

जन्म के समय शिशु में सामाजिकता शून्य होती है अर्थात् बालक शिशु न तो सामाजिक होता है और न ही असामाजिक। जैसे–जैसे उसका शारीरिक व मानसिक विकास होता है, वैसे–वैसे उसका समाजीकरण भी होने लगता है। यह समाजीकरण माता–पिता, भाई–बहन एवं सामाजिक संस्थाओं के प्रभाव से होता है।

जब सामाजिक परिस्थिति इस प्रकार की होती है कि शिशु समाज के नियमों तथा नैतिक मानक को आसानी से सीख लेता है तो यह कहा जाता है कि उसमें सामाजिक विकास हुआ है। दूसरी तरफ, यदि सामाजिक परिस्थिति ऐसी होती है जिसमें बालक समाज के नियमों को ठीक ढंग से नहीं सीख पाता तो कहा जाता है कि उसका सामाजिक विकास पूरा नहीं हुआ है।

बालकों का सामाजिक विकास कुछ प्रक्रियाओं द्वारा पूर्ण होता है। ये प्रक्रिया निम्नलिखित हैं–

1. बालकों द्वारा सामाजिक रूप से अनुमोदित व्यवहार करना।
2. अनुमोदित सामाजिक भूमिका करना।
3. सामाजिक मनोवृत्ति का विकास करना।

बालकों में सामाजिक विकास के लिए इन तीनों प्रक्रियाओं के अलावा यह भी आवश्यक है कि उन्हें अन्य बालकों के साथ मिलने–जुलने दिया जाये, उन्हें सामाजिक क्रियाएँ करने के लिए माता-पिता द्वारा उचित प्रेरणा दी जाये तथा शिक्षकों द्वारा सामाजिक मानदण्डों को सीखने में उनका उचित मार्गदर्शन भी किया जाये।

सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाले कारक—विभिन्न अवस्थाओं में होने वाले सामाजिक विकास को अनेक कारक प्रभावित करते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

1. परिवार—बालक के सामाजिक विकास का प्रारम्भ परिवार से होता है। परिवार के वातावरण, संस्कृति, सहयोग, शिक्षा स्तर, लालन–पालन आदि का प्रभाव बालक के सामाजिक विकास पर पड़ता है। परिवार के बड़े लोगों का आचरण जैसा होता है, बालक भी वैसा ही आचरण करने का प्रयत्न करते हैं।

2. शारीरिक एवं मानसिक विकास—बालक के शारीरिक एवं मानसिक विकास का सामाजिक विकास से घनिष्ठ संबंध है। ऐसा पाया गया है कि अपंग, बीमार, अल्पबुद्धि वाले बालक प्रायः समाज से तिरस्कृत रहते हैं तथा उनमें एक हीन भावना का विकास हो जाता है। वे स्वयं को अन्य बालकों के साथ समायोजित नहीं कर पाते हैं। प्रतिभाशाली बालक भी मानसिक विकास के कारण सामाजिक रूप से समायोजित करने में असमर्थ होते हैं।

3. वंशानुक्रम—मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि सामाजिक विकास पर वंशानुक्रम का कुछ–न-कुछ प्रभाव तो अवश्य ही पड़ता है। वंशानुक्रम व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक विकास के साथ-साथ सामाजिक विकास को भी प्रभावित करता है। अनेक सामाजिक गुण व्यक्ति को अपने माता–पिता, पूर्वजों एवं वंशजों से प्राप्त होते हैं। बालक के अन्दर अनेक सामाजिक गुण, जैसे—परोपकार, दया, आपसी सहयोग, निर्धन की सहायता करना आदि अनुवांशिक व माता–पिता के आधार पर ही आते हैं।

4. आर्थिक स्थिति—परिवार की आर्थिक स्थिति का बालकों के सामाजिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। धनी माता–पिता के बालक अच्छे माहौल में रहते हैं, अच्छे व्यक्तियों से मिलते–जुलते हैं,

अच्छे विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करते हैं। अतः उनका उच्च सामाजिक होने की संभावना होती है, जबकि यदि बच्चे को उत्तम वातावरण, आर्थिक तंगी देखने को मिले तो इससे उसका सामाजिक विकास नकारात्मक रूप से प्रभावित होता है।

5. शिक्षा—शिक्षा सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों में सबसे महत्वपूर्ण कारक है। शिक्षा से संस्कार, मूल्य, अच्छे आचरण आदि का विकास होता है। जो सामाजिक विकास के लिए अनिवार्य घटक होते हैं। बालक को यदि उचित शिक्षा मिलती है, तो ही उसका सामाजिक विकास पूर्णतः संभव है।

6. विद्यालय—परिवार के उपरान्त बालक के सामाजिक विकास में विद्यालय का महत्वपूर्ण स्थान है। विद्यालयों में बालक सहपाठी व अध्यापकों से मिलते–जुलते हैं तथा परस्पर सहयोग करके विभिन्न सामूहिक क्रियाओं में भाग लेते हैं जो उनकी सामाजिक विकास की गति को निर्धारित करता है। परन्तु यदि विद्यालय का वातावरण भय युक्त एवं दमन पर आधारित होगा, तो बालक का सामाजिक विकास बाधित होता है।

7. खेलकूद—बालक के सामाजिक विकास खेलकूद से भी प्रभावित होती है। खेल के माध्यम से उनमें सामाजिक गुणों का विकास होता है, जो उनके जीवन भर काम आता है।

स्किनर के अनुसार—"खेल का मैदान बालक का निर्माण स्थल है, यहाँ उसे प्रदान किये जाने वाले सामाजिक और यांत्रिक उपकरण उसके सामाजिक विकास को निश्चित करने में सहायता देते हैं।"

विभिन्न अवस्थाओं के सामाजिक विकास एवं उनको प्रभावित करने वाले कारकों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि एक मानव जीवन में सामाजिक विकास बहुत महत्वपूर्ण है। क्योंकि सामाजिक प्राणी बनने के लिए समाजीकरण की प्रक्रिया अतिआवश्यक है।

प्रश्न 17. लैंगिक भूमिका पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (रीवा 2022; भोपाल 22)

उत्तर—प्रत्येक समाज के कुछ अपने पूर्व निर्धारित मानक एवं मूल्य होते हैं, जिस आधार पर उनमें रहने वाले व्यक्तियों की भूमिका तय होती है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) ने लैंगिक भूमिका को परिभाषित करते हुए कहा है कि "व्यवहार तथा गतिविधियों से ही सामाजिक रूप से लिंग भूमिकाओं का निर्माण होता है। एक समाज पुरुषों और महिलाओं के लिए जो उचित समझता है, उसी को जिम्मेदार बताता है।"

समाज द्वारा निर्धारित कार्य जो महिला एवं पुरुष को करने चाहिए आमतौर पर इसे ही लैंगिक भूमिका कहा जाता है। लैंगिक भूमिका के वर्गीकरण के अनुसार, प्रत्येक लिंग की कुछ सांस्कृतिक उम्मीदें होती हैं तथा इन्हीं से किसी लिंग की पहचान होती है।

सांस्कृतिक आधार पर ही सामाजिक मानदण्ड निर्धारित होते हैं जो कि व्यक्ति के लिंग से सम्बन्धित होते हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति एक आन्तरिक भावना से अपने लिंग के मानदण्डों से जुड़ा रहता है। यह आन्तरिक भावना ही लिंग भूमिका की उत्पत्ति का कारण होता है। लैंगिक भूमिका साधारणतया व्यवहार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को प्रतिबिम्बित करती है तथा भेद–भाव के रूप में इनका प्रयोग किया जाता है। बहुत से राष्ट्रों में महिलाओं से लिंगभेद के आधार पर बहुत विभेद किया जाता है। इन्हें स्वतंत्रता एवं सुरक्षा का भी पूर्ण अधिकार नहीं दिया गया है। परन्तु 21 वीं शताब्दी में लिंग समानता की बात की जा रही है।

समाज में बहुत से ऐसे लोग विद्यमान है जो समाज द्वारा स्थापित किए गए मानदण्डों के अनुकूल नहीं है और नकारात्मक रूप से लैंगिक भूमिका को बढ़ावा देते हैं। जैसे—महिला घर का काम ही करेंगी एवं पुरुष घर के काम न करके धन उपार्जन का कार्य करेंगे। महिला पर्दे में रहेंगी, महिला घर के बाहर के काम नहीं करेगी ये ऐसी कुछ भूमिकाएँ हैं जो नकारात्मक रूप से लिंग विभाजन या लिंग असमानता को बढ़ावा देती है।

कई लैंगिक भूमिकाएँ हानिकारक साबित होती है। इसके बावजूद भी लैंगिक भूमिकाओं को एक सामाजिक संरचना के रूप में स्वीकार कर लिया गया है और लिंग को आत्मसम्मान की वृद्धि के साथ जोड़ दिया गया है। निर्धारित लिंग भूमिका के पूर्ण होने पर इसे आत्म सन्तुष्टि के रूप में देखा जाता है, जो निर्धारित लैंगिक भूमिका के अनुरूप नहीं होते वे तटस्थ लिंग के रूप में पहचाने जाते हैं। वे अपने को समाज तथा स्वयं से अलग अनुभव करते हैं। उन्हें यह भी अनुभव होता है कि वे सामान्य नहीं है तथा उनका व्यवहार समाज के अनुसार निर्धारित मानकों के अनुसार नहीं है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि लिंग भूमिका सामाजिक संरचना की ही देन है तथा कुछ हद तक समाज को चलाने के लिए पूर्व निर्धारित लिंग अनुसार कार्यों एवं भूमिकाओं का बँटवारा है।

प्रश्न 18. लैंगिक भूमिकाओं को प्रभावित करने वाले कारकों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
(जबलपुर 2021, 22; भोपाल 22)

उत्तर—लैंगिक भूमिकाओं को प्रभावित करने वाले कारक निम्नलिखित हैं—

1. सामाजिक कारक—सामाजिक कारक लिंग की पहचान एवं भूमिका को प्रभावित करते हैं। समाज में जिस तरह की सोच एवं विचारधारा के व्यक्तियों का आधिपत्य होगा वे वैसी ही भूमिकाओं का निर्धारण करेंगे। जैसे—कट्टरवादी सोच रखने वाले समाज में महिलाओं की भूमिकाओं का निर्धारण काफी संकीर्ण सोच के साथ तय किया गया है।

2. रूढ़िवादी विचारधारा—परिवर्तन संसार का नियम है परन्तु जब किसी नियम, सोच या व्यवहार को बिना उसके सभी पक्षों को सोचे बिना अपनाया जाने लगता है तो वह कुरीतियों में बदल जाता है और यही रूढ़िवादी विचारधारा है।

यदि रूढ़िवादी सोच के साथ भूमिकाओं का निर्धारण किया जाता है तो वह लैंगिक भूमिकाओं कों नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है।

3. हॉर्मोनल कारक—लिंग भूमिका के लिए लिंग पहचान का होना अनिवार्य है। लिंग पहचान को सबसे ज्यादा हॉर्मोनल कारक प्रभावित करता है। हॉर्मोन्स बालक के शारीरिक विकास को आकार प्रदान करता है। यह लड़के एवं लड़कियों के लैंगिकता के निर्धारण के साथ उनके शारीरिक भिन्नता एवं निर्माण में आवश्यक भूमिका का निर्वाह करता है।

इस प्रकार, ये कारक लैंगिक भूमिका को सकारात्मक और नकारात्मक रूप से प्रभावित करते हैं।

प्रश्न 19. लिंग भेद से आप क्या समझते हैं ? किस तरह लिंग पर आधारित पक्षपात बालक के विकास को प्रभावित करता है ? **(ग्वालियर 2022)**

उत्तर—समाज के लिए स्त्री एवं पुरुष दो पहिये के समान हैं। एक के कमजोर होने पर वाहन रूपी समाज लड़खड़ाने लगता है। अतः जेण्डर या लिंग विभेद को इस रूप में समझा जा सकता है कि प्रति एक हजार पुरुषों के अनुपात में स्त्रियों की संख्या कितनी है। इससे एक निश्चित समय पर समाज में स्त्री और पुरुषों के मध्य समानता और असमानता का ज्ञान होता है। किसी भी देश की संरचना में जेण्डर तथा लिंगानुपात का विशेष महत्व होता है।

लिंगानुपात को देखकर ही किसी देश की सामाजिक, सांस्कृतिक स्थिति का एक निश्चित सीमा तक अनुमान लगाया जाता है। स्त्री–पुरुष अनुपात की भिन्नता के कारण ही देश के विभिन्न भागों में भिन्न–भिन्न वैवाहिक एवं पारिवारिक प्रथाएँ देखने को मिलती हैं।

बालक–बालिकाओं में व्यक्तित्व एवं समाजीकरण दोनों में ही पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। लैंगिक असमानता का तात्पर्य लैंगिक आधार पर महिलाओं के साथ भेदभाव से है। परम्परागत रूप से समाज में महिलाओं को कमजोर वर्ग के रूप में देखा जाता रहा है। वे घर और समाज दोनों जगहों पर शोषण, अपमान और भेदभाव से पीड़ित होती हैं। महिलाओं के खिलाफ भेदभाव दुनिया में हर जगह प्रचलित है।

लिंग पक्षपात का बालक के विकास पर प्रभाव–प्रत्येक बच्चे का अधिकार है कि उसकी क्षमता के विकास का पूरा मौका मिले, लेकिन लैंगिक असमानता की कुरीति की वजह से वह ठीक से फल–फूल नहीं पाते हैं, साथ ही भारत में लड़कियों और लड़कों के बीच न केवल उनके घरों और समुदायों में बल्कि हर जगह लिंग असमानता दिखाई देती है। पाठ्यपुस्तकों, फिल्मों, मीडिया आदि सभी जगह उनके साथ ही लिंग के आधार पर भेदभाव किया जाता है। यही नहीं बालक और बालिकाओं की देखभाल में भी पक्षपात किया जाता है। लैंगिक पक्षपात के कारण अवसरों में असमानता होती है। लड़के और लड़कियों के बालपन के अनुभव में बहुत अन्तर होता है। लड़कों को लड़कियों की तुलना में स्वतंत्रता अधिक मिलती है। जबकि लड़कियों की स्वतंत्रता में अनेक पाबंदियाँ होती हैं। जिसका प्रभाव उनकी शिक्षा, विवाह और सामाजिक रिश्तों, खुद के लिए निर्णय के अधिकार को प्रभावित करती है। लिंग पक्षपात एवं लड़कों और लड़कियों के बीच भेदभाव जैसे–जैसे बढ़ता जाता है इसका असर न केवल उनके बचपन में दिखता है बल्कि वयस्कता तक आते–आते इसका स्वरूप और व्यापक हो जाता है। नतीजतन कार्यालय में मात्र एक चौथाई महिलाओं को ही काम करते पाया जाता है। हालांकि कुछ भारतीय महिलाओं को विश्वस्तर पर विभिन्न क्षेत्रों में प्रभावशाली पदों पर नेतृत्व करते पाया गया है। लेकिन भारत में अभी भी ज्यादातर महिलाओं और लड़कियों को पितृ प्रधान समाज के विचारों, मानदंडों, परम्पराओं और संरचनाओं के कारण अपने अधिकारों का पूर्ण रूप से अनुभव करने की स्वतंत्रता नहीं मिली है।

समाधान–लड़कियों को शिक्षा, कौशल विकास, खेलकूद में भाग लेने एवं सशक्त करके ही हम उन्हें समाज में महत्व दिला सकते हैं। लड़कियों को सशक्त करके ही अल्पकालिक कार्यों जैसे– सभी को शिक्षा, खून की कमी, अन्य मध्यम वर्गीय कार्यक्रम जैसे–बाल विवाह को समाप्त करना, दीर्घ कालिक कार्यक्रम जैसे लिंग आधारित पक्षपात चयन करना आदि को समाप्त करने में हम सामूहिक रूप से विशिष्ट योगदान कर सकते हैं।

शिक्षा व्यवस्था में इस प्रकार सुधार हो जिससे बालिकाओं के लिए समस्याएँ कम हो, ऐसा पाठ्यक्रम हो जिसमें बालिकाओं की रुचि हो, शिक्षा बालिकाओं के वास्तविक जीवन से जुड़ी हो, महिला शिक्षा भी व्यवसाय केन्द्रित हो, जिसे पढ़कर उन्हें रोजगार प्राप्त हो।

सती प्रथा, पर्दा प्रथा, बाल–विवाह जैसी अनेक कुप्रथाएँ महिलाओं के विकास में बाधक हैं। इन्हें समाप्त करना चाहिए। महिलाओं के खिलाफ प्रतिदिन होने वाले अपराध जैसे बलात्कार, एसिड से हमला, अपहरण आदि बढ़ने से माता–पिता की लड़कियों को लेकर चिंता बढ़ती रहती है। एक सुरक्षित वातावरण न होने से लड़कियों को न केवल असुरक्षा की भावना की वजह से पीछे रहना पड़ता है, बल्कि अभिभावक भी उन्हें स्वतंत्रता प्रदान नहीं कर पाते। अतः बालिकाओं के लिए एक सुरक्षित वातावरण होना चाहिए।

प्रश्न 20. आप अपने शिक्षण के दौरान लैंगिक भिन्नता से उत्पन्न स्थितियों को कैसे नियंत्रित करेंगे ?

उत्तर–मनोवैज्ञानिक दृष्टि से लड़के–लड़कियों में कोई अंतर नहीं होता है, लोकतंत्र तो लिंग के आधार पर किसी भी क्षेत्र में भेद–भाव नहीं करता। हमारे देश में प्राथमिक और उच्च स्तर पर तो सहशिक्षा की व्यवस्था है किन्तु माध्यमिक स्तर पर लड़के–लड़कियों के लिए अलग–अलग स्कूलों की व्यवस्था की जाती है। बड़े अफसोस की बात है देश के अधिकतर प्रांतों में लड़कों के स्कूलों की अपेक्षा लड़कियों के स्कूलों की संख्या बहुत कम है जबकि जनसंख्या की दृष्टि से यह बराबर होनी चाहिए। दूसरी तरफ लड़कियों की शिक्षा स्नातक स्तर तक निःशुल्क कर दी गई है और लड़कों को इससे वंचित रखा गया है।

हमारे देश में लड़कियों की शिक्षा के संबंध में पहली समस्या तो यह है कि अधिकतर माता-पिता अपनी बच्चियों की शिक्षा के प्रति सचेत नहीं हैं और दूसरी समस्या यह है कि लड़कियों की शिक्षा के लिए पर्याप्त शिक्षण संस्थाएँ नहीं हैं। पहली समस्या के समाधान के लिए अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। दूसरी समस्या के समाधान हेतु लड़कियों के लिए और अधिक उच्च प्राथमिक एवं माध्यमिक स्कूलों की स्थापना की जाए और जहाँ आवश्यकता हो वहाँ महिला कॉलेज स्थापित किए जाएँ। जहाँ आवश्यक हो महिला छात्रावासों की व्यवस्था की जाए। निर्धन वर्ग की छात्राओं को शुल्क मुक्त किया जाए और उन्हें आर्थिक सहायता दी जाए।

शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वे अपने शिक्षण के दौरान अभिभावक तथा छात्र–छात्राओं की दृष्टिकोण को बदलने का प्रयास करें। उन्हें इस बात का विश्वास दिलाएँ कि लड़कियाँ भी उतनी ही योग्य तथा सक्षम होती हैं जितना कि लड़के। शिक्षक को यह विश्वास दिलाना चाहिए वे हर कार्य जो लड़के करते हैं, लड़कियाँ भी कर सकती हैं। साथ ही शिक्षक को चाहिए कि वे सहशिक्षा को प्रोत्साहन दें।

प्रश्न 21. लैंगिक समानता पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर–लैंगिक समानता–यह महिलाओं, पुरुषों, बालिकाओं एवं बालकों की संख्या एवं अनुपात के विषय में सापेक्ष समानता से संबंधित एक संख्यात्मक अवधारणा है तथा इन दोनों को ही मिलने वाली सुविधा, अवसर आदि की समानता है।

लैंगिक समानता अर्थात् लिंग के आधार पर असमानता या भेद–भाव का अभाव। व्यापक अर्थ में लैंगिक समानता एक समाजशास्त्रीय अवधारणा है जो लिंग के आधार पर सामाजिक, राजनैतिक, एवं शैक्षिक क्षेत्रों में समानता स्थापित करने की बात करती है।

लैंगिक समानता विशेषकर अवसरों की समानता से संबंधित है जो बिना लैंगिक भेद–भाव के विकास करने का अवसर देती है। लैंगिक समानता विशेषकर महिलाओं को पुरुषों के समान अवसर प्रदान करने से है ताकि उन्हें परम्परागत सोच पर आधारित सामाजिक, शैक्षिक असमानता के दायरे से बाहर लाकर उनको समुचित विकास के अवसर प्रदान किए जा सकें। **मैरी वोल्स्टन क्राफ्ट** (Mary Wollstone Craft) ने लैंगिक समानता का महत्व बताते हुए लिखा है कि "मैं यह नहीं कहती कि पुरुष के बदले स्त्री का वर्चस्व पुरुष पर स्थापित होना चाहिए। आवश्यकता तो इस बात की है कि स्त्री को स्वयं अपने बारे में सोचने–विचारने और निर्णय लेने का अधिकार मिले। उन्हें शिक्षा से वंचित रखा जाता है जिससे उनकी बुद्धि का विकास नहीं हो पाता है और उन्हें बच्चें पालने तथा घर का काम करने जैसे कार्यों में लगा दिया जाता है। उनका कार्यक्षेत्र व्यक्तिगत सीमाओं में बँधकर रह जाता है।" लैंगिक समानता एक ऐसी अवधारणा है जो इस बात पर बल देती है कि स्त्रियाँ लैंगिक भेद–भाव के बिना अपना समुचित विकास कर सकें।

लैंगिक समानता के अर्थ से संबंधित निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं–

(1) लैंगिक समानता मानव अधिकार है, जो किसी को भी इन्सान के रूप में पैदा होने के कारण स्वाभाविक रूप से मिलना चाहिए।

(2) लैंगिक समानता समान व्यवहार से संबंधित प्रत्यय है।

(3) लैंगिक समानता, समान परिस्थितियों को उत्पन्न करने से संबंधित है जो लिंग के आधार पर कोई भेद–भाव नहीं करती हैं।

(4) लैंगिक समानता उस अतार्किक भेद–भाव की एक प्रतिक्रिया है जो महिलाओं के शोषण का प्रमुख आधार है।

(5) भारत की सामाजिक संरचना के संदर्भ में बालिकाओं से संबंधित शिक्षा एवं उनका विकास, एक महत्वपूर्ण एवं आधारभूत अध्ययन का पहलू है। बालिकाओं को शिक्षा के माध्यम से ही सामाजिक संरचना में महत्व प्रदान किया जा सकता है।

(6) लैंगिक समानता व्यक्ति केन्द्रित सतत् विकास के लिए पूर्व आवश्यकता है अर्थात् कोई भी व्यक्ति अपना विकास बिना किसी क्षति के तभी कर सकता है, जब उसे लैंगिक समानता प्रदान की जाए। लैंगिक समानता के साथ ही दोनों ही लिंगों को अपना–अपना विकास करने का अवसर प्राप्त हो सकता है।

प्रश्न 22. लैंगिक समानता के निर्धारक कारकों की चर्चा कीजिए।

उत्तर–लैंगिक समानता से अभिप्राय स्त्री–पुरुष को समान अधिकार, उत्तरदायित्व एवं अवसरों को उपलब्ध कराने से हैं। लैंगिक समानता का निर्धारण विभिन्न कारकों के आधार पर किया जाना चाहिए जिनमें से कुछ प्रमुख कारक निम्नलिखित हैं–

(1) शिक्षा (Education)– पुरुष एवं महिलाओं का शिक्षा संबंधी अनुपात लैंगिक समानता को दर्शाता है। जिस प्रकार की स्थिति होती है उसी अनुपात में भेद–भाव का स्तर नजर आता है। शिक्षा के अनुपात इस बात की ओर इशारा करते हैं कि समाज की अभिवृत्ति कैसी है ? लोगों की मानसिकता कैसी है ? इससे यह भी पता लगता है कि शिक्षा संबंधी कितनी जागरूकता है पर लैंगिक असमानता का स्तर अवश्य इस बात की ओर इशारा करता है कि महिलाओं की स्थिति कैसी है ?

(2) महिला सशक्तीकरण (Women Empowerment)–किसी भी देश में महिलाएँ कितनी सशक्त है, प्रत्येक क्षेत्र में कितनी जागरूक है, अपने अस्तित्व के लिए क्या प्रयास किए जा रहे हैं, कितनी और किस प्रकार के अधिकार प्रदान किए गए हैं कितनी मात्रा में इनका प्रयोग महिलाओं के द्वारा किया जा रहा है। देश, समाज व परिवार में उनकी स्थिति, राजनीतिक भागीदारी व महत्वपूर्ण रोजगार में बेहतर स्थिति का अर्जन आदि महिला सशक्तीकरण के सूचक तथा क्षेत्र हैं, जिसके आधार पर महिला सशक्तीकरण का अनुमान लगाया जा सकता है।

(3) स्वास्थ्य (Health)–स्वास्थ्य के मामले में महिलाओं और पुरुषों की स्थिति को देखकर महिलाओं की तुलनात्मक स्थिति का पता लगाया जाता है। स्वास्थ्य संबंधी सुविधाओं का प्राप्त होना एवं औसत स्वास्थ्य का स्तर इस बात का सूचक होता है कि महिलाओं को कितनी मात्रा में स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध है। इन स्वास्थ्य सेवाओं के अन्तर्गत प्रसव काल के समय प्राप्त स्वास्थ्य सेवाएँ एवं अन्य शेष दिनों में उसके स्वास्थ्य का स्तर, इस बात की ओर संकेत करते हैं कि महिलाओं का स्वास्थ्य कैसा है।

(4) आर्थिक भागीदारी (Economic Partnership)–महिला की आर्थिक भागदारी का स्तर इस बात की ओर संकेत करता है कि उसकी स्थिति कैसी है। यह सबसे अच्छे संकेतों में से एक है, क्योंकि आर्थिक स्थिति अच्छी न हो तो महिलाओं के सशक्तीकरण का सवाल ही उत्पन्न नहीं होता। आर्थिक स्थिति का आकलन करते समय उसके द्वारा अर्जित आय, रोजगार में भागीदारी, व्यवसाय आदि महत्वपूर्ण तथ्यों को सम्मिलित किया जाता है।

(5) साक्षरता दर (Literacy Rate)–साक्षरता दर इस बात की द्योतक होती है कि महिला–पुरुष में साक्षरता का स्तर कितना है। साक्षरता दर भारत वर्ष में जनगणना के फलस्वरुप प्राप्त होती है। साक्षरता दर से यह भी ज्ञात होता है कि समाज, महिलाओं की शिक्षा को लेकर कितना जागरूक है। बालक–बालिकाओं की समानता का अनुमान साक्षरता दर से भी लगाया जा सकता है।

प्रश्न 23. समाज में लैंगिक समानता की आवश्यकता एवं महत्व पर प्रकाश डालिए।

***अथवा*, लैंगिक समानता की आवश्यकता एवं महत्व को स्पष्ट कीजिए।**

उत्तर–लैंगिक समानता, समाज में एक संतुलन बना रहे इसके लिए अतिआवश्यक है। समाज में व्याप्त परम्परागत विषमताओं को दूर करने के लिए तथा अनेक रूढ़िवादी विचारधाराओं को समाप्त करने के लिए लैंगिक समानता का होना अनिवार्य है। इस प्रकार, कई कारणों से समानता की आवश्यकता एवं महत्व है। ये कारण अग्रलिखित हैं–

(1) परम्परागत विषमता को समाप्त करना—हमारे समाज में व्याप्त परम्परागत विषमता अर्थात् समाज में परम्पराओं के रूप में व्याप्त असमानता को समाप्त करने की आवश्यकता के लिए लैंगिक समानता आवश्यक है। जब तक लैंगिक समानता स्थापित नहीं की जाती तब तक परम्परागत विषमता के कई रूपों, जैसे—विशेषाधिकार, निर्णय प्रक्रिया में भूमिका, स्वतंत्रता संबंधी असमानता को पूर्णतः दूर नहीं किया जा सकता है।

(2) संतुलित सामाजिक विकास को सुनिश्चित करना—लैंगिक समानता की आवश्यकता इस बात में निहित है कि इससे सामाजिक विकास संतुलित रूप से हो पाता है। कोई भी समाज तभी ज्यादा संतुलित रूप से विकास कर सकेगा, यदि स्त्री एवं पुरुष दोनों का विकास समान रूप से होगा। अतः लैंगिक समानता सुनिश्चित करके इस उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है। स्त्री एवं पुरुष दोनों का पूर्ण रूप से विकास होगा एवं दोनों समान होंगे तो विकास की दर एकरूपता में निरन्तर अग्रसर होगी।

(3) भेद—भाव समाप्त करना—किसी भी लिंग के प्रति हो रहे भेद—भाव को समाप्त तभी किया जा सकता है जब लैंगिक समानता की स्थिति उत्पन्न होगी। महिलाएँ ही इस भेद—भाव की अधिक शिकार होती है। यदि इस भेद—भाव को समाप्त कर दिया जाए तो महिलाओं का मानसिक स्वास्थ्य भी उत्तम होगा। क्योंकि लगातार हो रहे भेद—भाव के कारण महिलाओं में एक मनोवैज्ञानिक तनाव देखने को मिलता है, जो कि उनके व्यक्तित्व विकास को नकारात्मक रूप से प्रभावित करते हैं।

(4) आर्थिक स्वावलम्बन—लैंगिक समानता का एक उद्देश्य, आर्थिक स्वावलम्बन प्राप्त करना है। विशेषकर महिलाओं के आर्थिक पक्ष को मजबूती प्रदान करके आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाना, लैंगिक समानता का उद्देश्य है। लैंगिक असमानता के प्रमुख कारणों में आर्थिक स्वतंत्रता का अभाव होता है। आर्थिक सुदृढ़ीकरण से उनकी स्वतंत्रता संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है, क्योंकि आर्थिक रूप से पुरुषों पर निर्भरता उनकी स्वतंत्रता में बाधा पहुँचाती है।

लैंगिक समानता का महत्व इस बात से स्पष्ट होता है कि पुरुष एवं महिला दोनों को जीने के लिए आवश्यक परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। महिलाओं के अस्तित्व को मजबूती देना अर्थात् समाज को मजबूत बनाने जैसा है अतः लैंगिक समानता का महत्व एक मजबूत समाज के निर्माण के लिए अति आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है।

प्रश्न 24. लैंगिक समानता को सुदृढ़ बनाने में शिक्षक की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—लैंगिक समानता को सुदृढ़ करने में अध्यापक की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है जिसे निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट किया जा सकता हैं—

(1) अध्यापक—छात्र के सर्वोत्तम संबंध—अध्यापक तथा छात्र के मध्य संबंध मधुर होने चाहिए। अतः छात्रों के द्वारा अध्यापक के प्रत्येक तथ्य को सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिए। इस स्थिति में अध्यापक द्वारा लैंगिक समानता दूर करने संबंधी प्रयासों को छात्रों द्वारा सहर्ष स्वीकार किया जाएगा। इससे विद्यालयी तथा सामाजिक स्तर पर लैंगिक समानता उत्पन्न होगी।

(2) अध्यापक सुविधादाता के रूप में—विद्यालय में अध्यापक की भूमिका एक सुविधा प्रदाता के रूप में होनी चाहिए। प्रत्येक बालक एवं बालिका के प्रति अध्यापक का व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि बालक एवं बालिका अपनी व्यक्तिगत तथा शैक्षिक समस्याओं को प्रकट करने में संकोच न करें।

(3) विद्यार्थियों की गतिविधियों का अवलोकन—अध्यापक को बालक एवं बलिकाओं की विद्यालयी गतिविधियों का अवलोकन करना चाहिए। अध्यापक को जहाँ पर भी लैंगिक असमानता की स्थिति का अनुभव हो तो उसे खत्म करने का प्रयास करना चाहिए।

(4) योग्यतानुसार उत्तरदायित्व प्रदान करना—अध्यापक द्वारा बालक एवं बालिकाओं को उत्तरदायित्व प्रदान करते समय यह नहीं देखना चाहिए कि यह बालक है इसलिए इसका अलग

उत्तरदायित्व है तथा यह बालिका है इसलिए इसका अलग दायित्व है, वरन् उत्तरदायित्व प्रदान करते समय बालक–बालिका की रुचि व योग्यता देखनी चाहिए।

(5) अध्यापक की सकारात्मक सोच–सकारात्मक सोच वाला अध्यापक ही विद्यार्थियों में सकारात्मक सोच विकसित कर सकता है। अध्यापक को बालक एवं बालिका दोनों को लिंग के आधार पर उनसे बिना भेद–भाव के आदर्श एवं सकारात्मक व्यवहार का प्रदर्शन करें।

(6) अभिभावकों को उचित परामर्श–शिक्षक अभिभावक संघ तथा विद्यालय प्रबंधन समिति की बैठक में अध्यापक एवं अभिभावकों का सम्पर्क होता है। इन स्थितियों में विद्यालयी लैंगिक समानता पर चर्चा करते समय परिवार तथा समाज में भी लैंगिक समानता पर विकसित करने पर चर्चा की जाए तो विद्यालय तथा समाज दोनों में ही लैंगिक समानता का वातावरण विकसित हो सकेगा।

अतः हम कह सकते हैं कि लैंगिक समानता को सुदृढ़ बनाने में अध्यापक की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है।

प्रश्न 25. लैंगिक भूमिका (Gender role) में खेल के मैदान का महत्व स्पष्ट कीजिए।

उत्तर–समाज द्वारा तय नियमों एवं रीतियों से लैंगिक भूमिका का निर्धारण किया जाता है, इसमें खेल के मैदान की अहम् भूमिका होती है। हमारे समाज में खेलों को भी लिंग के आधार पर बाँट कर देखा जाता है जैसे लैंगिक भूमिका के निर्धारण जिस खेल में शक्ति एवं अधिक शारीरिक बल लगता है उन खेलों को पुरूषों हेतु माना जाता है। जैसे–कुश्ती, मुक्केबाजी, कबड्डी, फुटबाल आदि।

इसके विपरीत कुछ इनडोर खेल एवं कम शारीरिक बल वाले खेल महिलाओं के लिए माने जाते हैं। खेल के मैदान पर पुरूषों के लिए तय किए गए खेलों में भाग लेने पर महिलाओं को वो स्वीकृति नहीं मिलती जो पुरूषों को मिलती है। अर्थात् खेल के मैदान पर भी लिंग भेद देखने को मिलता है।

विद्यालय एवं खेल का मैदान जो शिक्षा का केन्द्र बिन्दु होता है, वहाँ से इस प्रकार की भिन्नता को दूर किया जाना आवश्यक है। वर्तमान परिस्थितियों में लैंगिक भिन्नता अपेक्षाकृत कम हुई है। अब महिलाएँ बहुत सारे ऐसे खेलों में अपनी उपस्थिति दर्ज करवा कर सफलता भी प्राप्त कर रही हैं, जो एक समय में केवल पुरूषों के लिए माना जाता था।

इसलिए वर्तमान विकास एवं उनके दृढ़संकल्प को देखते हुए, सामाजिक सोच एवं संकीर्ण मानसिकता में परिवर्तन की आवश्यकता है, तथा लिंग भेद के विचारों को दूर करने के साथ–साथ इन कार्यों हेतु उन्हें प्रोत्साहित करने की आवश्यकता भी है।

प्रश्न 26. रूढ़िवादी व्यवहार (Stereotype behaviour) पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर–"रूढ़िवादी व्यवहार या रूढ़ियुक्त का तात्पर्य व्यक्तियों के समूह से संबंधित ऐसे विश्वास से है, जो उस समूह के व्यक्तिक सदस्यों पर लागू होता है।"

सेकेण्ड एवं बैकमैन (1964, 1974) के अनुसार–"रूढ़ियुक्त प्रारूपण का एक अति रंजित रूप है। जिसकी तीन विशेषताएँ हैं– (1) लोग एक वर्ग को निश्चित विशेषताओं के अनुकूल पहचानते हैं, (2) व्यक्तियों के उस वर्ग के प्रति निश्चित शीलगुणों या विशेषताओं को आरोपित करने में लोग सहमत होते हैं तथा (3) उस वर्ग के किसी व्यक्ति पर उस विशेषताओं को थोप देते हैं।"

उक्त परिभाषा के आधार पर रूढ़िवादी से संबंधित चार बातें मुख्य है, जो निम्नलिखित हैं–

(1) रूढ़िवादी धारणा के आधार पर व्यक्तियों को किसी निश्चित वर्ग में विभाजित कर दिया जाता है। यह वर्गीकरण वास्तव में गलत होता है।

(2) उस वर्ग के कुछ निश्चित शीलगुण या विशेषताएँ निर्धारित कर दी जाती है जिनके आधार पर उस वर्ग या उसके सदस्यों को पहचाना जाता है।

ये विशेषताएँ शारीरिक, सामाजिक या सांस्कृतिक हो सकती है। जैसे–शारीरिक विशेषता के आधार पर हम मान लेते हैं कि हिपियों (Hippies) की पहचान लम्बे बाल, फटे–पुराने कपड़े आदि है। ऐसे लोगों को एक वर्ग में रखकर हम विश्वास कर लेते हैं कि वे शांतिप्रिय, अधिकारों के प्रति विद्रोही, अभौतिकवादी तथा भ्रम से मुक्त होते हैं।

(3) रूढ़ियुक्ति के संबंध में एक मुख्य बात यह है कि किसी वर्ग के प्रति शीलगुणों को आरोपित करने में लोगों की सहमति होती है। गैर हिप्पी इस बात पर सहमत है कि हिप्पी वर्ग के अमुक–अमुक शीलगुण या विशेषताएँ है।

(4) रूढ़ियुक्ति के संबंध में एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि किसी वर्ग या समूह का सदस्य होना इस बात के लिए काफी है कि उसमें वर्ग या समूह के सभी शीलगुण या विशेषताएँ उपलब्ध होगी।

किसी व्यक्ति में भूमिहारपन (जाति) होने के लिए यह प्रमाण पर्याप्त है कि यह भूमिहार वर्ग का सदस्य है। अतः रूढ़ियुक्ति का वास्तविक आशय समूह से होता है व्यक्ति से नहीं।

रूढ़ियों के प्रकार (Type of Stereotypes)–

समाजशास्त्रियों के अनुसार, रूढ़ियाँ दो प्रकार के सामाजिक मानदण्ड प्रस्तुत करती हैं जो इस प्रकार हैं–

1. सकारात्मक रूढ़ियाँ–सकारात्मक रूढ़ियाँ ऐसी रूढ़ियाँ होती हैं जो व्यक्ति से विशेष प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा रखती है। उदाहरण के लिए, जीवन में ईमानदारी रखें, माता–पिता की सेवा एवं आदर करो आदि सकारात्मक रूढ़ियाँ हैं।

2. नकारात्मक रूढ़ियाँ–सकारात्मक रूढ़ियों के विपरीत निषेधात्मक रूढ़ियाँ वर्जना (टाबू) के रूप में हमें कुछ विशिष्ट व्यवहार करने से रोकती है। उदाहरण के लिए, पर्दाप्रथा, बाल विवाह इत्यादि।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि रूढ़ियों में निरन्तरता का गुण पाया जाता है तथा सामाजिक संरचना के स्थायित्व में रूढ़ियों की भूमिका अति महत्वपूर्ण होती है।

प्रश्न 27. जेण्डर पहचान एवं स्टीरियोटाइप (रूढ़िवादी व्यवहार) को प्रभावित करने वाले कारक का वर्णन कीजिए। **(छिन्दवाड़ा 2021)**

उत्तर–किसी भी समूह की विशेषताओं के प्रति आम धारणा या विश्वास स्टीरियोटाइप कहलाते हैं। ये धारणायें एक समूह को दूसरे समूह से पृथक् करती है। जेण्डर स्टीरियोटाइप का अर्थ है– पुरुष और स्त्री, लड़के और लड़की के लिए आम विश्वास या आम धारणा।

जेण्डर पहचान एवं स्टीरियोटाइप को मीडिया, फिल्में, अध्यापक का व्यवहार, मित्र, परिवार और साहित्य विशेष रूप से प्रभावित करती है। जिनका विस्तृत वर्णन निम्नलिखित हैं–

1. मीडिया (Media) –मीडिया स्टीरियोटाइप व्यवहार को काफी बढ़ावा देते हैं, जैसे–हमें आमतौर पर विज्ञापनों में देखने को मिलता है। लड़कियों को ऐसे नाजुक और कमजोर दिखाया जाता है या कुछ खेल जैसे–क्रिकेट, कुश्ती आदि के दृश्य में केवल लड़कों को दिखाया जाना ये सब स्टीरियोटाइप व्यवहार को बढ़ावा देते हैं।

2. फिल्में (Movies) –भारतीय सिनेमा पुरुष प्रधान फिल्मों का ज्यादा निर्माण करते हैं, जिनमें महिलाओं की भूमिका केवल सौंदर्यात्मक ही होती है या उनकी भूमिका केवल नृत्य एवं संगीत तक सीमित होती है। फिल्मों से समाज पर काफी प्रभाव पड़ता है। अतः पुरुष प्रधान फिल्में देखकर समाज में जेण्डर स्टीरियोटाइप व्यवहार बढ़ता जाता है।

3. परिवार (Family)–परिवार का वातावरण, माता–पिता की सोच एवं उनकी संस्कृति जेण्डर स्टीरियोटाइप व्यवहार को कई बार बढ़ावा देती पायी गई है। जैसे–पिता या माता पुत्रों को विशेष

प्रकार का भोजन या सुख–सुविधाएँ प्रदान करते हैं। जबकि पुत्रियों को किसी विशेष प्रकार की सुविधा नहीं दी जाती है। कई परिवारों में बेटों को बेटियों से ज्यादा महत्व मिलता है।

4. अध्यापक (Teacher)—अध्यापक जब कक्षा में कई बार गणित के सवाल को हल करने के लिए किसी बालक को ही बोलते हैं, तो ये उनके स्टीरियोटाइप व्यवहार को प्रदर्शित करता है या खेल के मैदान में लड़कियों के लिए बेडमिन्टन और लड़कों के लिए कबड्डी जैसे खेलों का आयोजन करते हैं, तो ये इसी व्यवहार को प्रदर्शित करता है। कई बार ध्यान देने पर ज्ञात होता है कि पाठ्यक्रम में शामिल भिन्न–भिन्न पुस्तकों में भी लिंग–भेद अपनाया जाता है, जैसे—गणित की पुस्तकों में जो उदाहरण या सवाल में जो नाम होते हैं। वो ज्यादातर लड़कों के ही होते हैं। ये सारी बातें जाने–अनजाने में स्टीरियोटाइप व्यवहार को बढ़ावा देती हैं।

5. साहित्य (Literature)—माना जाता है साहित्य समाज का दर्पण होता है। हमारे साहित्य में जिस प्रकार के पात्र होते हैं या जैसी कहानियाँ होती है, समाज के व्यक्ति की सोच वैसे ही बनती या बिगड़ती है। साहित्य में यदि पुरुषों को ज्यादा प्रभावी या महान दिखाया जाता है तो समाज के व्यक्ति की सोच भी वैसी ही बनती जाती है।

ये कुछ ऐसे कारक है जो स्टीरियोटाइप व्यवहार को बढ़ाती है साथ–ही–साथ इस प्रकार के व्यवहार को बंद करने की शक्ति भी इन्हीं में है। ये जैसे अपनी भूमिका निभाएँगे वैसे ही समाज का निर्माण होगा और समाज का मानक भी इन्हीं सभी कारकों से तय होता है।

प्रश्न 28. स्टीरियोटाइप व्यवहार को कम करने में शिक्षकों की भूमिका पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—अध्यापक समाज का एक प्रमुख स्तम्भ होता है, अतः स्टीरियोटाइप व्यवहार को कम करने या खत्म करने में इनकी अहम् भूमिका होती है। शिक्षा का प्रचार करते समय या विद्यार्थियों में मूल्यों का निर्माण करते समय अध्यापकों को कैसी भूमिका का निर्वाह करना चाहिए उसी के लिए कई सिफारिशें की गई हैं जो निम्नलिखित हैं–

(1) अध्यापकों को बड़ी सावधानीपूर्वक यह देखना चाहिए कि कक्षा में ऐसी शिक्षण सामग्री या उपकरण आदि न प्रयुक्त हो, जो ऐसे व्यवहार को बढ़ावा देने वाले हो। अध्यापक को शिक्षण के दौरान ऐसे उदाहरणों से बचना चाहिए जिसमें रूढ़िवादी व्यवहार का प्रदर्शन हो। उदाहरण प्रस्तुत करते समय विशेष ध्यान रखें की वह उदाहरण जेण्डर उदासीन (Gender neutral) हो अर्थात् किसी लिंग विशेष पर केन्द्रित न हो।

विद्यार्थियों को ऐसी पुस्तकें पढ़ने के लिए प्रेरित करें जो उनके आत्म–प्रत्यय, प्रवृत्तियों तथा व्यवहार में सकारात्मक परिवर्तन ला सकें।

(2) अध्यापकों को चाहिए कि कक्षा में पढ़ाये जाने वाली पाठ्य–पुस्तकों को अच्छी तरह से देख ले कि उनमें जेण्डर पक्षपात संबंधी कोई प्रकरण, उदाहरण या चित्र न हों। स्टीरियोटाइप वाले प्रकरण को हटाने के बजाय अध्यापक विद्यार्थियों में स्टीरियोटाइप को पहचानने का कौशल विकसित करें। इससे विद्यार्थियों में जेण्डर पक्षपात एवं जेण्डर प्रत्यक्षीकरण के बारे में आलोचनात्मक चिन्तन का विकास हो सके।

(3) विद्यार्थियों के लिए सकारात्मक, सशक्त कहानियाँ और तस्वीरें प्रस्तुत करने चाहिए। इन कहानियों के विविध पात्र बालकों में क्रियात्मक सकारात्मक, आत्म–प्रत्यय का विकास और पक्षपात रहित प्रवृत्तियों को उन्नत कर सकते हैं।

(4) जेण्डर पक्षपात की शुरुआत अपने ही घर से होती है। अध्यापक विद्यार्थियों के माता–पिता को परामर्श दे सकते हैं कि वे बिना किसी पूर्वाग्रह के अपने बालक एवं बालिका को समान अधिकार एवं प्यार दें एवं विविध संस्कृति एवं सांस्कृतिक विविधताओं का सम्मान करें जिससे उनके बालक–बालिका में उत्तम मूल्य एवं संस्कारों का विकास हो सके।

(5) अध्यापक परिवार कार्यशाला का आयोजन करके जेण्डर पक्षपात के परिणामों के प्रति अभिभावकों को संवेदनशील बना सकते हैं। और अन्त में, शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध कराने में अध्यापकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

अध्यापक अपने विद्यार्थियों का रोल मॉडल होता है, अतः अध्यापक से समाज सदैव एक आदर्श व्यवहार की कामना या उम्मीद रखता है, जिससे जेण्डर स्टीरियोटाइप व्यवहार को खत्म किया जा सके।

प्रश्न 29. संवेगों के कार्यों पर प्रकाश डालिए। **(छिंदवाड़ा 2021; उज्जैन 22)**

उत्तर–संवेगों के कार्य–संवेगों के निम्नलिखित कार्य हैं–

1. अन्तर्वैयक्तिक कार्य (Intrapersonal functions)–संवेग के अन्तर्वैयक्तिक कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैं। यह कार्य व्यक्तिगत रूप से सभी व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं। अन्तर्वैयक्तिक कार्य दूसरों के साथ हमारे सम्बन्धों को व्यक्त करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में संवेगों का विशेष महत्व होता है। बालकों के संवेगों का सम्बन्ध बुद्धि, रुचि, प्रेम, ईर्ष्या, क्रोध आदि से होता है। संवेग इनके शारीरिक एवं मानसिक विकास को भी प्रभावित करते हैं। संवेगात्मक विकास के द्वारा ही बालकों में मित्रता एवं स्नेह जैसे गुणों का विकास होता है। संवेगों के कारण ही व्यक्ति एक–दूसरे के साथ अन्तःक्रिया करते हैं तथा आपसी सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की भावनाओं पर इन कार्यों का प्रभाव पड़ता है। अतः हम कह सकते हैं कि संवेग के अन्तर्वैयक्तिक कार्य पारस्परिक सम्बन्धों पर व्यापक प्रभाव डालते हैं।

2. सामाजिक कार्य (Social functions)–मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है इसलिये व्यक्ति के प्रत्येक सामाजिक कार्य सांवेगिक भूमिका से जुड़े होते हैं। मनुष्य एक–दूसरे से भावनात्मक रूप से जुड़े होने के कारण अपने आपसी सम्बन्धों का सुदृढ़ीकरण करते हैं। किसी भी सामाजिक कार्य की सफलता तभी संभव होती है जब हम एक–दूसरे से भावनात्मक रूप से जुड़ जाते हैं। भावनात्मक रूप से जुड़ने के लिए हम अपने विविध संवेगों का उपयोग करते हैं। अतः सामाजिक कार्य, समाज की संरचना बनाए रखने के लिये तथा विश्व–बन्धुत्व, राष्ट्रीय एकता एवं समाज के सुदृढ़ सम्बन्धों की स्थापना के लिये बालकों या व्यक्तियों में संवेगात्मक विकास अत्यंत आवश्यक माना जाता है। संवेगों से ही प्रभावित होकर व्यक्ति अपने देश, प्रान्त, समाज, समुदाय तथा परिवार के प्रति लगाव अनुभव करते हैं तथा भावनात्मक रूप से इससे जुड़े होते हैं। सांवेगिक कारणों से ही व्यक्ति एक बड़े पैमाने पर अपने देश तथा समाज के सामाजिक कार्यों में जुड़े होते हैं। सामाजिक कार्यों की पूर्ति तथा समाज की व्यवस्था बनाए रखने में संवेग महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं।

3. सांस्कृतिक कार्य (Cultural functions)–बालकों के सांस्कृतिक विकास में भी संवेगों का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक देश के सांस्कृतिक रीति–रिवाज, मान्यताएँ तथा परम्पराएँ दूसरे देश, राज्य, समाज या समुदाय से भिन्न होती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति से लगाव अनुभव करता है। संवेगात्मक कारणों से ही प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति से भावनात्मक रूप से जुड़ा होता है। सांस्कृतिक कार्यों पर व्यक्ति की व्यक्तिगत भावनाओं का प्रभाव पड़ता है। ये भावनाएँ बड़े पैमाने पर संस्कृति के पोषण, रख–रखाव तथा प्रभावी कार्यक्रम के लिये व्यक्ति को पोषित करती है एवं प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति, अपने समुदाय, रीति–रिवाज तथा अपनी मान्यताओं का पोषण करते हैं। संवेग प्रत्येक व्यक्ति की संस्कृति को उसके अहम् भाव से जोड़ते हैं। अहम् भावना व्यक्ति को केवल अपने समूह से ही नहीं जोड़ती है बल्कि समाज, समुदाय तथा राष्ट्र से भी जोड़ती है। संवेग का भाव जहाँ एक ओर व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ता है। वहीं दूसरी ओर जब यह भाव अत्यंत सुदृढ़ हो जाता है तो राष्ट्रीय एकता के लिये खतरा बन जाता है। ये संवेगात्मक कार्य किसी भी समूह के संस्कृति को एक विशिष्ट पहचान देते हैं।

यह सांस्कृतिक पहचान व्यक्ति के रीति–रिवाज, पहनावे, जीवन–स्तर, जीवन–आदर्श तथा भाषा आदि के आधार पर बनती है। इस प्रकार सांस्कृतिक कार्य के लिये भी संवेग अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं।

प्रश्न 30. संवेगात्मक विकास में शिक्षक की भूमिका क्या है ?

(छतरपुर 2021; छिंदवाड़ा 22)

उत्तर– बालक का संवेगात्मक विकास शिक्षा पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। बालक अपने संज्ञानात्मक एवं रुचि, हाव–भाव, मुद्रा इत्यादि का विकास कर शैक्षिक उपलब्धि में वृद्धि करता है। उसके संवेगात्मक विकास के संतुलन में अध्यापक की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। संवेगात्मक विकास को निम्नलिखित बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

(1) बालक के संवेगात्मक विकास में अध्यापकों एवं अभिभावकों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। अभिभावक बच्चों के संतुलित आहार और खान–पान का ध्यान रखते हैं तथा अध्यापक अभिभावकों से संपर्क कर बच्चों की शारीरिक कमजोरियों, अक्षमताओं, बीमारियों आदि से अवगत कराता है तथा उनके समाधान हेतु घर, विद्यालय और चिकित्सालयों की व्यवस्था कराता है।

(2) अध्यापक बालक को अनुकूल परिवारिक वातावरण प्रदान कर उनके संवेगात्मक विकास को प्रभावित करता है।

(3) शिक्षक बालकों के संपर्क में रहने से उनके मनोभावों, इच्छाओं तथा अभिवृत्तियों को समझते हुए उनके माता–पिता तथा अभिभावकों को उनके बालक के कल्याण के लिए परामर्श देता है जिससे बालक में संवेगात्मक संतुलन बना रहे।

(4) विद्यालय में शिक्षक पाठ्य–सहगामी क्रियाओं का आयोजन करता है, वह बालकों के क्रियात्मक विकास हेतु उनके अनुरूप पाठ्य–सहगामी क्रियाओं में भाग लेने हेतु दिशा–निर्देश करता है।

(5) शिक्षक बालक के संवेगात्मक विकास के लिए उपयुक्त विधियों का प्रयोग कर सकते हैं तथा इसके द्वारा बालक के तनाव को समाप्त कर अनावश्यक मानसिक ग्रन्थियों और विकारों को पनपने का अवसर समाप्त कर देते हैं।

(6) बालक अध्यापक को अपना आदर्श मानते हैं। वे उनके हर आचरण की अनुक्रिया करते हैं। अत: शिक्षक को स्वयं एक आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए जो बालकों के संवेगात्मक विकास में सहायता करता है।

(7) शिक्षक द्वारा बालक के संवेगात्मक व्यवहार का अध्ययन किया जाना चाहिये। इससे बालक के सामान्य एवं असामान्य संवेगों के बारे में ज्ञान होने से उन्हें दिशा–निर्देश देते हुए उसका निराकरण किया जा सकता है।

(8) शिक्षक बालकों के संवेगात्मक विकास हेतु समय–समय पर विद्यालय में मनोचिकित्सकों को आमंत्रित कर सकता है। बालक दिए गए दिशा–निर्देश देते हुए उसका निराकरण किया जा सकता है।

(9) अधिगम में संवेगों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। शिक्षक बालकों के संवेगों के अनुसार शिक्षण कर उनके अधिगम को सरल तथा सुविधाजनक बनाता है।

(10) संवेगात्मक विकास, शारीरिक विकास हेतु आवश्यक है। संतुलित और संयमित संवेगात्मक व्यवहार और भावनाएँ न केवल शारीरिक विकास के लिए आवश्यक है बल्कि ज्ञान और कौशल अर्जित करने के लिए भी उचित वातावरण का निर्माण करती हैं।

संवेगात्मक विकास का शैक्षिक महत्व– संवेग बालक के समझ को विकसित करते हैं। इसके द्वारा बालक विभिन्न विषय–वस्तुओं पर चिन्तन एवं मनन कर उनका निष्कर्ष निकालता है तथा वह अपने विभिन्न क्रियाओं को अपने हाव–भाव द्वारा प्रदर्शित करता है। बालक के व्यक्तित्व के निर्माण में संवेगों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। अतः बालकों के उचित संवेगात्मक विकास के लिए प्रयत्न करना चाहिए जिससे बालकों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हो सके। संवेगों के महत्व की व्याख्या करते हुए **रॉस महोदय** के अनुसार, "शिक्षा के आधुनिक मनोविज्ञान में संवेगों का प्रमुख स्थान है तथा शिक्षण–विधि में जो प्रगति वर्तमान समय में हो रही है उसका कारण संभवतः किसी अन्य तथ्य की अपेक्षा संवेगों का महत्व अधिक है। संवेग बालक के सभी कार्यों को गति प्रदान करते हैं तथा शिक्षकों को उन पर ध्यान देना अति आवश्यक है।"

बालकों के जीवन में संवेगात्मक विकास का अत्यधिक महत्व है। उनकी शिक्षा में संवेगात्मक महत्व को हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं–

(1) जिन बालकों का संवेगात्मक विकास समुचित रूप से होता है वे शिक्षण–अधिगम में अपेक्षाकृत अधिक रुचि लेते हैं तथा मानसिक विकास भी उपयुक्त होता है।

(2) संवेगात्मक रूप से विकसित बालकों में उत्तम आचरण की प्रवृत्ति पायी जाती है। संवेग उनमें उत्तम चरित्र, आचरण एवं श्रेष्ठ आदर्श का निर्माण करने में शिक्षा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

(3) संवेगात्मक रूप से विकसित बालक अपने पाठ्यक्रम, पाठ्यवस्तु एवं अधिगम को अच्छे प्रकार से समझ सकते हैं। इन बालकों की शैक्षिक उपलब्धि अधिक पायी जाती है।

(4) संवेगात्मक रूप से विकसित बालक अपने कार्यों जैसे–गृहकार्य, विद्यालय कार्य, अभ्यास कार्य को त्वरित करते हैं। उनमें निष्पादन क्षमता अधिक पायी जाती है।

(5) संवेग के द्वारा बालक क्रियाशील बनता है। बढ़ती क्रियाशीलता को न व्यक्त कर पाने की स्थिति में उनमें वाणी संबंधी दोष उत्पन्न हो जाते हैं तथा शिक्षा में पिछड़ जाते हैं।

प्रश्न 31. बाल्यावस्था में संवेगात्मक विकास का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

(रीवा 2022; छिन्दवाड़ा 21)

उत्तर–क्रो एवं क्रो के अनुसार–"सम्पूर्ण बाल्यावस्था में संवेगों की अभिव्यक्ति में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं।"

बाल्यावस्था में भी शैशवावस्था के सभी संवेग विद्यमान होते हैं, जिनकी विशेषतायें इस प्रकार हैं–

1. संवेग निश्चित एवं नियंत्रित हो जाते हैं–बालक के संवेग निश्चित और कम शक्तिशाली हो जाते हैं। वे शैशवावस्था के समान उत्तेजित नहीं होते जैसे–6 वर्ष की आयु में बालक का भय और क्रोध पर नियंत्रण हो जाता है। वे यह समझ जाते हैं कि क्रोध की अभिव्यक्ति बचकानी होती है।

2. शिष्टता एवं दमन की प्रवृत्ति–बाल्यावस्था में बालकों में संवेग प्रदर्शन में शिष्टता आ जाती है और वे उनका दमन भी कर लेते हैं। जैसे माता–पिता या शिक्षक के सामने वे उन संवेगों का प्रदर्शन नहीं करते जिन्हें वे पसन्द नहीं करते।

3. वातावरण से प्रभावित–बालक में संवेगों का प्रदर्शन वातावरण पर निर्भर करता है। स्वस्थ एवं आदर्श, स्वतंत्र वातावरण संवेगों का परिष्कार करता है जबकि भय, आतंक, कठोरता के वातावरण में ऐसा होना असंभव है।

4. बालक के संवेगात्मक विकास में शिक्षक का स्थान महत्वपूर्ण है क्योंकि अप्रिय व्यवहार, शारीरिक दंड, कठोर अनुशासन में विश्वास करने वाला शिक्षक बालक में मानसिक ग्रंथियों का विकास कर देता है जो उसके संवेगात्मक विकास को विकृत कर देता है।

5. यह भी देखा जाता है कि, बालक अपने घरेलू वातावरण में संवेगों को अनियंत्रित ढंग से करता है जिससे घर में संघर्षमय स्थिति बन जाती है।

6. बाल्यावस्था में संवेगों की अभिव्यक्ति में मात्र नियंत्रण एवं परिपक्वता ही नहीं आती बल्कि परिस्थिति तथा उद्दीपन करने वाले संवेगों के प्रदर्शन में अंतर आ जाता है। जैसे–बालक प्रायः क्रोध उत्पन्न करने वाली परिस्थिति निंदनीय टिप्पणी पर क्रोध करता है जबकि शैशवावस्था में इस टिप्पणी को नहीं समझता है।

7. बाल्यावस्था में बच्चे प्रायः प्रसन्न रहते हैं, दूसरों के प्रति विद्वेष अस्थायी होता है।

शिक्षा पर महत्व–बालक के सांवेगिक विकास को समझना शिक्षक एवं माता–पिता के लिए अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि संवेगों के दमन की प्रवृत्ति के कारण बालक का मानसिक स्वास्थ्य प्रभावित होता है इससे शैक्षिक उपलब्धियाँ प्रभावित होती हैं। बच्चे प्रायः दमित संवेग की अभिव्यक्ति ढूँढ़ने लगते हैं इसे सांवेगिक भावशांति (Emotional catharsis) कहा जाता है। शिक्षकों एवं माता–पिता के सही मार्गदर्शन से बच्चे सांवेगिक भावशांति के कुछ उपाय ढूँढ़ लेते हैं। हँसना, पूर्णतया थक जाने तक खेलते रहना, रोना, चिल्लाना आदि कुछ ऐसे उपाय हैं जिससे बालक अपने दमित संवेगों की अभिव्यक्ति करते हैं। अनुभव बढ़ते जाने पर वे यह तो समझते हैं कि, खेलना, हँसना तो समाज द्वारा अनुमोदित है। रोना, चिल्लाना उपयुक्त नहीं है। बच्चे प्रायः सामाजिक रूप से अनुमोदित तरीकों से ही सांवेगिक भावशांति करता है।

शिक्षकों को संवेगात्मक विकास का क्रम जानने से उपद्रवी या समस्यात्मक बालकों को समझने में सहायता मिलती है। इससे शिक्षकों को बालकों की रुचियों तथा अभिक्षमताओं को समझने में सहायता मिलती है।

प्रश्न 32. शैशवावस्था में होने वाले संवेगात्मक विकास को स्पष्ट करें एवं शिक्षा में उसका महत्व बताएँ।

उत्तर–शैशवावस्था में सांवेगिक विकास में निम्न उल्लेखनीय विकास होते हैं–

1. शिशु जन्म समय से ही संवेगात्मक व्यवहार की अभिव्यक्ति करता है। उसका रोना, चिल्लाना, हाथ–पैर पटकना इस बात का प्रमाण है।

2. अस्थिरता–शिशु के संवेगात्मक व्यवहार में अस्थिरता होती है। जैसे–शिशु रोते–रोते खिलौना पाकर हँसना प्रारम्भ कर देता है।

3. तीव्रता–शिशु के संवेगों में तीव्रता होती है। धीरे–धीरे इस तीव्रता में कमी आती जाती है। जैसे–2-3 माह का शिशु भूख लगने पर तब तक रोता है जब तक उसे दूध नहीं मिल जाता। 4-5 वर्ष के शिशु का व्यवहार इस प्रकार नहीं होता।

4. क्रमशः परिवर्तन–शिशु के संवेगात्मक विकास में क्रमशः परिवर्तन होता जाता है जैसे– शिशु प्रसन्न होने पर मुस्कुराता है। कुछ समय बाद वह अपनी प्रसन्नता को विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करके या बोलकर व्यक्त करता है।

5. अस्पष्टता–शिशु के संवेगों में पहले अस्पष्टता होती है, पर धीरे–धीरे उसमें स्पष्टता आती जाती है जैसे–जन्म के 3 सप्ताह में उसकी चिल्लाहट से संवेग स्पष्ट नहीं होता। 5 सप्ताह के शिशु की चिल्लाहट में भूख, क्रोध या कष्ट की चिल्लाहटों में अंतर आ जाता है।

6. प्रेम भावना का विकास–3 वर्ष की आयु से शिशु में अपने साथियों के प्रति प्रेम का विकास हो जाता है वह उनके साथ खेलता और हँसता है।

7. भय की भावना–छोटा शिशु (0-2 वर्ष) तक साँप से नहीं डरता है लेकिन धीरे–धीरे शिशु में भय की भावना का विकास होने लगता है। वह अंधेरे, पशुओं या अकेले रहने से डरता है।

8. अनुकरण–शिशु अपने बड़ों के संवेगों का अनुकरण करता है। उसे उन्हीं बातों से भय लगता है, जिनसे उनको भय लगता है।

शिक्षा में महत्व–शैशवावस्था में बालक कोई औपचारिक स्कूल नहीं जाता, फिर भी इस अवस्था के संवेगों का शैक्षिक महत्व है। इस अवस्था के संवेग बाल्यावस्था, किशोरावस्था तथा प्रौढ़ावस्था के लिए नींव की तरह कार्य करते हैं।

माता–पिता एवं नर्सरी शिक्षकों को बच्चों को उचित दिशा–निर्देश देने की आवश्यकता होती है। इस अवस्था में बालकों के व्यक्तित्व को सही दिशा देने से किशोरावस्था या प्रौढ़ावस्था में सांवेगिक असंतुलन से बचा जा सकता है और बच्चों की शैक्षिक उपलब्धि श्रेष्ठ होती है।

प्रश्न 33. संवेगात्मक विकास का शैक्षिक महत्व स्पष्ट कीजिए। (रीवा 2022)

उत्तर–बालक का यदि संवेगात्मक विकास होता है तो उसके अधिगम प्रक्रिया पर भी इसका प्रभाव दिखता है। बालक के संवेगात्मक विकास के शैक्षिक महत्व निम्नलिखित हैं–

(1) समुचित सांवेगिक विकास वाले बालकों में शिक्षा के द्वारा उत्तम आचरण एवं श्रेष्ठ आदर्शों का निर्माण होता है।

(2) उचित सांवेगिक विकास वाले बालक शिक्षण–अधिगम में विशेष रुचि रखते हैं।

(3) संवेगात्मक रूप से विकसित बालकों का समुचित विकास होता है और वे अध्ययन हेतु प्रेरित होते हैं।

(4) संवेगात्मक रूप से विकसित बालकों की शैक्षिक उपलब्धि अधिक पायी जाती है।

(5) संवेगात्मक रूप से विकसित बालकों में निष्पादन क्षमता अधिक होती है।

मानव जीवन में संवेगों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। व्यक्ति के व्यवहार का संबंध संवेगों से होता है तथा शिक्षा का संबंध व्यवहार के परिशोधन से होता है। इसलिए बालकों के संवेगात्मक व्यवहार का शैक्षिक दृष्टि से अत्यन्त महत्व है। माता–पिता तथा अध्यापकों को बालकों के संवेगों के प्रशिक्षण पर ध्यान देना चाहिए तथा शिक्षा के द्वारा अवांछित संवेगों को नियंत्रित तथा वांछित संवेगों को प्रोत्साहित करने का प्रयास करना चाहिए। बालकों के वातावरण को इस प्रकार से नियंत्रित करना चाहिए कि एक ओर जहाँ उनमें अवांछित संवेगों का उदय न हो सके वहीं दूसरी ओर उनमें वांछित संवेगों का भी संचार हो सके। इसके लिए शोधन, परिश्रमी (Industrious) तथा रेचन (Catharsis) के द्वारा संवेगों को नियंत्रित किया जा सकता है।

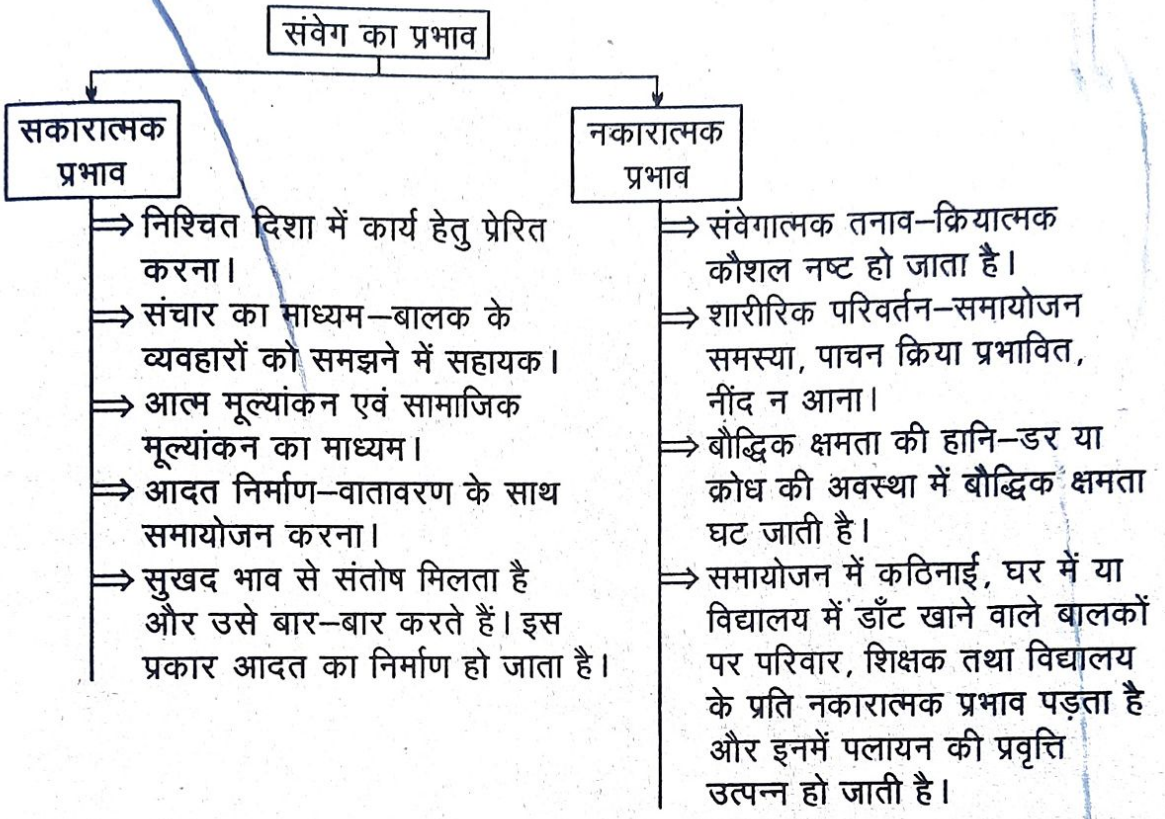
शोधन (Sublimation) में अवांछित संवेगों को परिमार्जित करके उन्हें अच्छी दिशा में मोड़ने का प्रयास किया जाता है, जैसे–क्रोध की वृत्ति को शत्रुओं की ओर या काम प्रवृत्ति को साहित्य की ओर मोड़ना।

अव्यवसाय में लगे रहना भी संवेगों पर नियंत्रण करने का एक उपाय हो सकता है। रेचन का तात्पर्य संवेगों को आने से रोका न जाये वरन् संवेगों को अभिव्यक्त करने के लिए पर्याप्त अवसर दिया जाये। अतः शिक्षक होने के नाते हम अध्यापकों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि बालकों के संवेगात्मक विकास में यथासंभव सहयोग दें तथा पाठ्यसहगामी क्रियाओं, जैसे–नाटक, खेल, स्काउटिंग, भ्रमण आदि के माध्यम से भी छात्रों को उचित ढंग से संवेगात्मक विकास कर सकें।

प्रश्न 34. एक अधिगमकर्ता पर संवेगात्मकता का प्रभाव किस प्रकार पड़ता है ?

उत्तर–अधिगमकर्ता के व्यक्तित्व पर संवेगों का प्रभाव दो प्रकार से पड़ता है–

(1) सकारात्मक प्रभाव, (2) नकारात्मक प्रभाव।



प्रश्न 35. संवेगात्मक विकास को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारक कौन–कौन से हैं ?

उत्तर–संवेगात्मक विकास का स्थान बालक विकास की प्रत्येक अवस्था में अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। बालक का संवेगात्मक विकास जन्म कुछ समय के पश्चात् ही प्रारम्भ हो जाता है। बालक का संवेगात्मक विकास अनेक कारकों पर निर्भर करता है। उन कारकों में से कुछ कारक निम्नलिखित हैं–

(1) विद्यालय वातावरण–बालक के संवेगात्मक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों में विद्यालय वातावरण का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। विद्यालय का अच्छा वातावरण और पाठ्यचर्या कार्यक्रम बालक के संवेगों को संतुष्ट कर उसे आनंद की अनुभूति प्रदान करता है, उपयुक्त विद्यालयी वातावरण में बालक का संवेगात्मक विकास अत्यंत प्रभावी ढंग से हो पाता है।

(2) परिवार एवं पड़ोस का वातावरण–बालक के संवेगात्मक विकास पर बालक के परिवार पारिवारिक सदस्यों एवं आस–पड़ोस के वातावरण पर प्रभाव पड़ता है। बालक के संतुलित संवेगात्मक विकास के लिए यह आवश्यक है कि बालक के परिवार एवं आस–पड़ोस का वातावरण आनंदमय, शान्तिपूर्ण और सुरक्षायुक्त हो। बालक के परिवार एवं आस–पड़ोस का वातावरण जैसा होगा, बालक का व्यवहार भी वैसा ही होगा। परिवार के सदस्यों का नकारात्मक दृष्टिकोण बालक के संवेगात्मक विकास को असंतुलित कर देता है।

(3) थकान–संवेगात्मक विकास पर थकान का भी स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। थकावट की वजह से अक्सर बालक चिड़चिड़ाने लगता है। बालक को शीघ्र क्रोध आने लगता है। जिसका परिणाम यह होता है कि बालक में अवांछनीय संवेगात्मक विचार एवं व्यवहार उत्पन्न होने लगता है।

(4) बुद्धि एवं मानसिक योग्यता–बालक का संवेगात्मक विकास उसकी बुद्धि एवं मानसिक योग्यता पर भी निर्भर करता है। संवेगों के विकास एवं बुद्धि के बीच में सह–संबंध पाया जाता है।

संवेगात्मक कुण्ठा एवं कष्ट बौद्धिक विकास में बाधा उत्पन्न करती है। संवेगात्मक रूप से स्थिर बालक अपने मन को पढ़ाई में लगाते हैं।

(5) सामाजिक स्थिति–बालक को संवेगात्मक रूप से प्रभावित करने का एक अन्य कारक बालक की सामाजिक स्थिति है।

क्रो एण्ड क्रो के अनुसार–"निम्न सामाजिक स्थिति के बालक में उच्च सामाजिक स्थिति के बालकों की अपेक्षा अधिक असंतुलन और अधिक संवेगात्मक अस्थिरता होती है।"

(6) आर्थिक स्थिति–बालक के संवेगात्मक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों में से एक कारक परिवार की आर्थिक स्थिति भी है। सामान्यतः धनी परिवार के बालक और निर्धन परिवार के बालकों के संवेगात्मक व्यवहार में भिन्नता पायी जाती है। अनेक ऐसे कारण हैं जिनकी वजह से उनमें ईर्ष्या–द्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती है।

(7) आयु–संवेगात्मक विकास को आयु भी प्रभावित करती है। आयु का संवेगात्मक विकास पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। आयु बढ़ने के साथ–साथ संवेगात्मक परिपक्वता आने लगती है।

(8) सामाजिक स्वीकृति–सामाजिक स्वीकृति भी बालक के संवेगात्मक विकास को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। बालक सदैव अपने द्वारा किए गए कार्यों की प्रशंसा का इच्छुक रहता है। यदि ऐसा नहीं होता तो बालक में संवेगात्मक तनाव उत्पन्न हो सकता है।

प्रश्न 36. जॉन बाल्बी (John Bowlby) के लगाव के सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।

(इन्दौर 2019, छतरपुर 21)

***अथवा*, किशोर बालकों के लिये बोल्बी लगाव सिद्धांत को संक्षेप में लिखिए।**

(छतरपुर 2021, 22; ग्वालियर 22; छिंदवाड़ा 22)

उत्तर–बालक के जन्म के साथ ही उसमें रोना, मुस्कुराना, उछलना, बलबलाना आदि व्यवहार निहित होता है। इन सब का प्रयोग वह लोगों का ध्यानाकर्षण करने के लिए करता है। यह इन संकेतों के द्वारा अपने विचारों को अन्य तक पहुँचाता है।

हमारे जीवन में कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ एक दृढ प्रेमपूर्ण संबंध है, जो हमें प्रसन्नता प्रदान करता है। जब हम उनसे अंतः क्रिया करते हैं या तनाव के क्षणों में उनका साथ प्राप्त करते हैं।

लगाव विकास के प्रमुख चार चरण निम्नलिखित हैं–

1. पूर्व लगाव चरण (जन्म से 6 हफ्ते)
2. लगाव निर्माण चरण (6 हफ्ते से 8 महीने)
3. ''क्लीयर कट'' लगाव चरण (8 महीने से 18 महीने)
4. आपसी संबंध निर्माण चरण (18 महीने से आगे)

1. पूर्व लगाव चरण (Pre-attachment-phase)–इस चरण में बच्चे के जन्म से 6 हफ्ते तक का समय आता है। बालक अपने हाव–भाव के द्वारा संकेतों को प्रकट करता है। बालक अपने सकारात्मक संकेतों के द्वारा अन्य के करीब आता है। बच्चा अपने को सुरक्षित पाकर संबंधित व्यक्ति से सम्पर्क बनाता है। इस आयु में वह अपनी माँ की उपस्थिति, आवाज तथा चेहरे को पहचानता है। अजनबी की पहचान नहीं कर पाता और न ही उनसे डरता है।

2. लगाव निर्माण चरण (Attachment in making phase)–इस चरण में 6 हफ्ते से प्रारंभ होकर 8 महीने का समय आता है। इस अवस्था में आते–आते बालक पारिवारिक हो जाता है। वह अजनबियों से डरने लगता है। वह अपनी माँ के पास पहुँच कर अत्याधिक खुश होता है। वह दूसरों की आदतों को सीखने लगता है तथा उनकी नकल कर प्रत्युत्तर देने लगता है।

3. ''क्लीयर कट'' लगाव चरण (Clearcut attachment phase)–इस चरण में 8 महीने से 18 महीने समयावधि होती है। उसमें विभिन्न संवेग प्रदर्शित होने लगता है। वह गुस्से से लोगों

से दूर भागता है। अपनी इच्छा को प्रकट करता है तथा समय के अनुसार अपने व्यवहार को परिवर्तित करने लगता है।

4. आपसी संबंध निर्माण चरण (Formation of reciprocal relationship phase)—इस चरण के अन्तर्गत 18 माह के बाद का बालक आता है। इस आयु में बालकों का विकास तीव्र गति से होता है। वे भाषाओं को समझने लगता है।

इस अवस्था में अपने संरक्षणकर्ता पर कम आश्रित रहने लगते हैं।

इस प्रकार बाल्बी का सिद्धान्त बालक के विकास के साथ उनके व्यवहार तथा लगाव को समझने में सहायक है। एक शिक्षक के लिए बालक को समझने में यह आवश्यक रूप से सहायक होता है।

प्रश्न 37. संवेगों के विकास में परिपक्वता की क्या भूमिका है ? **(इंदौर मार्च 2023)**

***अथवा*, संवेगों की विशेषताएँ लिखिए।**

उत्तर—संवेग भावों के अत्यंत निकट है। जब भाव तथा अनुभूति की मात्रा बढ़ जाती है और शरीर में उद्दीप्त स्थिति का कारण बनती है तब उसे संवेग कहते हैं। इन्हीं संवेगों का मानव जीवन में इतना बड़ा महत्व है कि मानव, देश, जाति तथा धर्म की सुरक्षा के लिए बड़े–से–बड़े कार्य करने को तत्पर हो जाते हैं। ऐसी प्रेरणा उसे संवेगों के कारण ही मिलती है। संवेगहीन मानव की कल्पना मिट्टी अथवा मशीन के समान की जा सकती है। संवेग की अवस्था में मनुष्य का सारा शरीर उत्तेजित हो जाता है। अतः मनोवैज्ञानिकों ने सम्पूर्ण शारीरिक क्रियाओं को ही संवेग कहा है।

(1) वुडवर्थ के अनुसार—"प्रत्येक संवेग एक अनुभूति है और उसी समय एक क्रियात्मक रूप है।"

(2) जरसील्ड के अनुसार—"संवेग शब्द आवेश में आने, भड़क उठने अथवा उत्तेजित होने की दशा को सूचित करता है।"

संवेग वास्तव में व्यक्ति के आतंरिक भावों की अचानक तीव्र होने तथा विवेक प्रक्रिया के नियंत्रण से युक्त व्यवहार के परिलक्षित होने की स्थिति को व्यक्त करते हैं।

संवेगों का विकास

संवेगात्मक प्रतिमानों के विकास के अंतर्गत यह समझाया जा चुका है कि जन्म के समय बालक में संवेगात्मक अनुक्रिया की योग्यता पायी जाती है। परन्तु इस संवेगात्मक अनुक्रिया का विकास परिपक्वता और अधिगम के आधार पर होता है। परिपक्वता और अधिगम आपस में एक–दूसरे के साथ इतने संबंधित हैं कि इनके सापेक्षिक महत्व को समझना कठिन कार्य है। बालकों में संवेगों के विकास को स्पष्ट करने के लिए कुछ सिद्धांतों की व्याख्या भी की गई है।

संवेगों के विकास में परिपक्वता—**गुडएनफ** ने फोटोग्राफिक विधि की सहायता से दस वर्ष की एक अन्धी और बहरी बालिका के संवेगों के अध्ययन में मुखात्मक अभिव्यक्तियों के फोटोग्राफ्स लेकर इनकी तुलना सामान्य बालकों के संवेगों की मुखात्मक अभिव्यक्तियों के फोटोग्राफ्स से की है। उसने अपने इस अध्ययन में देखा कि क्रोध, भय, प्रेम, प्रसन्नता और घृणा आदि संवेगों का प्रदर्शन अन्धी–बहरी बालिका ने उसी प्रकार से किया जिस प्रकार कि सामान्य बालक करते हैं। **गुडएनफ** ने अपने इन अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकाला कि परिपक्वता संवेगों के विकास को प्रेरित करती है। जान्स ने भी एक अध्ययन इस संबंध में किया है। उसने अपने अध्ययन में भिन्न–भिन्न आयु के बालकों को कमरे में रखकर उनके सामने साँप छोड़कर इनमें उत्पन्न भय संवेग का अध्ययन किया। जॉन्स ने अपने इस अध्ययन में देखा कि दो साल के बच्चे साँप से किसी भी प्रकार से भयभीत नहीं होते हैं। तीन साल के बच्चे साँप को देखकर थोड़ा–सा सावधान हो जाते हैं तथा चार साल के बच्चों ने साँप से भागने और बचने की प्रतिक्रिया प्रस्तुत की।

मॉर्गन का विचार है कि संवेगात्मक व्यवहार की परिपक्वता के लिए अन्तः स्त्रावी ग्रंथियों का विकसित होना आवश्यक है। यह देखा गया है कि एड्रीनल ग्रंथि जन्म के कुछ समय बाद ही आकार में छोटी हो जाती है। इस ग्रंथि का संवेगों में संवेगों का प्रमुख कार्य होता है। लगभग संवेगात्मक परिपक्वता किशोर के व्यक्तित्व को अभिप्रेरित करने का कार्य करती है।

संवेगों की विशेषताएँ—संवेगों की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं—

(1) संवेगात्मक अनुभव किसी मूल प्रवृत्ति या जैविकीय उत्तेजना से जुड़े होते हैं।

(2) सामान्यतः संवेग प्रत्यक्षीकरण का उत्पाद होते हैं।

(3) प्रत्येक संवेगात्मक अनुभव के दौरान प्राणी में अनेक शारीरिक परिवर्तन होते हैं।

(4) संवेग किसी स्थूल वस्तु या परिस्थिति के प्रति अभिव्यक्त किए जाते हैं।

(5) प्रत्येक जीवित प्राणी में संवेग होते हैं।

(6) विकास के सभी स्तरों में संवेग होते हैं और बच्चे व वृद्धों में उत्पन्न किए जा सकते हैं।

(7) एक ही संवेग अनेक प्रकार के उत्तेजनाओं, वस्तुओं या परिस्थितियों से उत्पन्न किए जा सकते हैं।

(8) संवेग शीघ्रता से उत्पन्न होते हैं और धीरे–धीरे समाप्त होते हैं।

प्रश्न 38. बोल्वी के लगाव का सिद्धांत मानव लगाव के प्रति हमारी समझ को किस प्रकार प्रभावित करता है ? **(जबलपुर 2022)**

उत्तर—जॉन बोल्वी (1907-1990) एक मनोविश्लेषक थे। वे मानसिक और व्यवहार की समस्याओं के लिए बचपन को ही जिम्मेदार मानते थे। लगाववादी सिद्धांत व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक संबंधों की गतिशीलता का वर्णन करता है। इस मनोवैज्ञानिक प्रतिमान का निर्माण बोल्वी ने किया था। लगाववादी विशेषता रिश्तों को एक सामान्य रूप में स्वीकार नहीं करता है बल्कि इसका एक विशिष्ट पहलु व्यक्त करता है। बोल्वी का मानना था कि जब बालक इस संसार में आता है तो वह अपने आस–पास अथवा करीब रहने वाले व्यक्तियों से लगाव रखता है। यह उसके जीवित रहने में सहायता करता है। बोल्वी का मत है कि लगाव व्यवहार आंतरिक होता है। यह किसी भी परिस्थिति में हो सकता है। बच्चों को डॅराने धमकाने में, अलग करने पर, असुरक्षा, डर एवं प्यार की स्थिति में बालकों में लगाव उत्पन्न होता है।

बोल्वी ने कहा था कि लगाव सिद्धांत का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांत यह है कि शिशु के सफल सामाजिक और भावनात्मक विकास के लिए सम्बन्ध विकसित करने की आवश्यकता होती है। इन सम्बन्धों की सहायता से ही बालक अपनी भावनाओं को विनियमित करता है। बालक एवं संवेदनशील संरक्षक की उपस्थिति में अपने को सुरक्षित अनुभव करता है। शिशु का अपनी माता के साथ ही यह संबंधित संबंध सुनिश्चित करता है तथा सबसे अधिक लगाव बालक को अपनी माँ के साथ ही होता है। यह बोलकर, मुस्कुराकर, घटनों के बल चलकर तथा रोकर माता से अपने संपर्क को सुनिश्चित करता है।

बोल्वी का मानना है कि बालक केवल एक ही प्रकार का लगाव विकसित करता है। यह लगाव रिश्तों में एक सुरक्षित आधार के रूप में कार्य करता है।

लगाव विकास के चरण (Phases of attachment development)—बालक के जन्म के साथ ही उसमें रुदन, शांत रहना, उछलना तथा मुस्कुराना जैसे व्यवहार निहित होते हैं। इन सबका प्रयोग वह ध्यानाकर्षण करने के लिए करता है। यह इन संकेतों के द्वारा अपने विचारों को अन्य तक पहुँचाता है।

लगाव विकास के प्रमुख चार चरण निम्नलिखित हैं–

(1) पूर्व लगाव चरण (जन्म से 6 हफ्ते)

(2) लगाव निर्माण चरण (6 हफ्ते से 8 महीने)

(3) 'क्लीयर कट' लगाव चरण (8 महीने से 18 महीने)

(4) आपसी संबंध निर्माण चरण (18 महीने आगे)।

(1) पूर्व लगाव चरण (Pre-attachement phase)–इस चरण में बच्चे के जन्म से 6 हफ्ते तक का समय आता है। बालक अपने हाव–भाव के द्वारा संकेतों को प्रकट करता है। बालक अपने सकारात्मक संकेतों के द्वारा अन्य के करीब आता है। बच्चा स्वयं को सुरक्षित पाकर संबंधित व्यक्ति से सम्पर्क बनाता है। इस आयु में वह अपनी माँ की उपस्थिति, आवाज तथा चेहरे को पहचानने लगता है। अजनबी की पहचान नहीं कर पाता और न ही उनसे डरता है।

(2) लगाव निर्माण चरण (Attachment in making phase)–लगाव निर्माण चरण बालक की आयु के 6 हफ्ते से प्रारंभ होकर 8 महीने तक होता है। इस समय तक बालक पारिवारिक हो जाता है, वह अजनबियों से डरने लगता है। वह अपनी माँ के पास पहुँचकर अत्यधिक खुश होता है। वह दूसरों की आदतों को सीखने लगता है तथा उनकी नकल कर प्रत्युत्तर देने लगता है। यह किसी के पास भी आसानी से चला जाता है क्योंकि उसमें समझ का विकास हो जाता है।

(3) 'क्लीयर कट' लगाव चरण (Clear cut attachment phase)–क्लीयर कट लगाव चरण बालक के 8 माह से 18 माह के मध्य होता है। उसमें विभिन्न संवेग प्रदर्शित होने लगते हैं। वह गुस्से में लोगों से दूर भागता है। अपनी इच्छा को प्रकट करता है तथा समय के अनुसार अपने व्यवहार को परिवर्तित करने लगता है।

(4) आपसी संबंध निर्माण चरण (Formation of reciprocal relationship)–इस चरण के अन्तर्गत 18 माह का बालक होता है। इस आयु में बालक का विकास तीव्र गति से होता है। वे भाषाओं को समझने लगते हैं। अभिभावक के आने तथा जाने का समय तथा उनका एहसास अनुभव करने लगते हैं। वे अपने संरक्षणकर्ता पर कम ही आश्रित रहते हैं। अपने साथ अथवा हम उम्र बालकों के साथ खेलते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर ही माता–पिता के पास जाते हैं।

इस प्रकार बोल्वी का सिद्धांत बालक के विकास के साथ उनके व्यवहार तथा लगाव को समझने में सहायक है।

●●

इकाई 4

समाजीकरण के सन्दर्भ
[CONTEXT OF SOCIALIZATION]

लघु एवं दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. समाजीकरण से क्या आशय है ? समाजीकरण की विशेषताएँ बताइए।
(छतरपुर 2021, 22; छिंदवाड़ा 21; ग्वालियर 21; रीवा 22)

उत्तर—समाजीकरण से आशय—समाजीकरण उस प्रकिया को कहते हैं, जिसमें जैविक प्राणी में सामाजिक गुण आ जाते हैं और वह प्राणी एक सामाजिक प्राणी कहलाया जाने लगता है।

ग्रीन के अनुसार—"समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बच्चा सांस्कृतिक विशेषताओं, आत्म तथा व्यक्तित्व को प्राप्त करता है।"

जॉनसन के अनुसार—"समाजीकरण एक प्रकार का सीखना है, जो सीखने वाले को सामाजिक कार्य करने योग्य बनाता है।"

डेवर के अनुसार—"समाजीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने सामाजिक वातावरण में समायोजन करता है और सामाजिक मान्यता प्राप्त करके वह समाज का मान्य सहयोगी तथा कुशल सदस्य बनता है।"

सोरोकिन के अनुसार—"समाजीकरण सांस्कृतिक तथा वैचारिक कारकों के अन्तःकरण की प्रक्रिया है।"

वाटसन के अनुसार—"समाजीकरण एक सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है।"

हरलॉक के अनुसार—समाजीकरण की प्रक्रिया में तीन उप–प्रक्रियाएँ शामिल हैं—

1. उचित व्यवहार करना—इससे तात्पर्य यह है कि बालक सामाजिक समूह द्वारा स्वीकृत व्यवहार करें और हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक सामाजिक समूह की उचित व्यवहार के संबंध में अपनी नियमावली होती है।

2. स्वीकृत सामाजिक प्रकार्यों को करना—समाज द्वारा स्वीकृत प्रकार्यों को करने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति उन सभी कार्यों का सम्पादन करें, जो उस विशेष स्थिति के साथ जुड़े हुए है, जिसे वह समाज में रहकर प्राप्त करता है।

3. सामाजिक अभिवृत्ति का विकास—इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति में एकीकरण तथा सहयोग का भाव होना चाहिए, जिससे वह समाज के लिए सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित कर सकें।

समाजीकरण की विशेषताएँ—समाजीकरण की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. सामाजिक अनुरूपता—सामाजिक अनुरूपता से तात्पर्य सामाजिक मूल्यों, सामाजिक आदर्शों तथा सामाजिक परम्पराओं के अनुसार व्यवहार करने से है। जो व्यक्ति समाज के रीति–रिवाज, परम्पराओं, सामाजिक मान्यताओं, प्रथाओं तथा नियमों के अनुसार आचरण करता है, वही सुखी तथा तनाव रहित जीवन व्यतीत कर सकता है।

2. सामाजिक अन्तः क्रियाएँ —जब कई व्यक्ति परस्पर मिलते हैं, तो उनमें कई प्रकार की क्रियाएँ होती है। इन क्रियाओं में भाग लेते हुए वे एक–दूसरे पर अपना प्रभाव डालते हैं। ये समस्त क्रियाएँ 'अन्त : क्रियाएँ' कहलाती है। अन्तःक्रियाएँ होना यह प्रदर्शित करता है कि समाजीकरण उचित प्रकार से हो रहा है।

3. सामाजिक समायोजन—कोई भी व्यक्ति समाज में यथोचित जीवनयापन कर सकता है। यदि वह समाज के सदस्यों के साथ उचित प्रकार से समायोजन स्थापित कर सके। तालमेल, सहयोग, सहानुभूति, सहकारिता, करुणा, स्नेह आदि साधन समायोजन में सहायक होते हैं। सामाजिक

समायोजन सामाजिक विकास का सूचक है।

4. सामाजिक परिपक्वता—जब कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से सामाजिक मान्यताओं को अपनाता है तथा सामाजिक रीति–रिवाजों, परम्पराओं और नियमों का पालन करता है, सामाजिक कार्यक्रमों में सम्मिलित होता है और ऐसा करने पर उसके मन में किसी तरह का कोई तनाव नहीं होता है, असन्तोष नहीं उत्पन्न होता है तो ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि उसमें सामाजिक परिपक्वता है। सामाजिक परिपक्वता सामाजिक विकास की सूचक होती है, जिससे यह ज्ञात हो जाता है कि व्यक्ति सामाजिक रूप से जिम्मेदार हो गया है।

5. सामाजिक गतिविधियों में भाग लेना—सामाजिक कार्यों की कोई निश्चित सीमा नहीं होती। इसमें व्यक्ति अपनी योग्यता, क्षमता, आयु के आधार पर भाग ले सकता है। सामाजिक गतिविधियों में भागीदारी करने से बालक की समाजीकरण की क्रिया में तीव्रता आ जाती है। सामाजिक गतिविधियों में भागीदारी सामाजिक विकास का लक्षण कहा जा सकता है।

प्रश्न 2. समाजीकरण की प्रक्रिया की विवेचना कीजिए। **(ग्वालियर 2021)**

उत्तर— समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा बालक को सामाजिक बनाया जाता है। इस प्रक्रिया के विभिन्न कारक है, जिनमें से महत्वपूर्ण कारकों की चर्चा निम्नलिखित बिन्दुओं द्वारा की जा रही हैं–

1. निर्देश—सामाजिक निर्देशों का बालक के समाजीकरण में गहरा हाथ होता है। ध्यान देने की बात है कि बालक जिस कार्य को करता है उसके संबंध में वह दूसरे व्यक्तियों से निर्देश प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि व्यक्ति को जिस तरह से निर्देश मिलते हैं वह उसी प्रकार उसका समाजीकरण करता है।

2. सामाजिक शिक्षण—अनुकरण के अतिरिक्त सामाजिक शिक्षण का भी बालक के समाजीकरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। ध्यान देने की बात है कि सामाजिक शिक्षण का आरम्भ परिवार से होता है जहाँ पर बालक माता–पिता, भाई–बहन तथा अन्य सदस्यों से खान–पान तथा रहन–सहन आदि के बारे में शिक्षा ग्रहण करता रहता है।

3. आत्मीकरण—माता–पिता, परिवार तथा पड़ोस की सहानुभूति द्वारा बालक में आत्मीकरण की भावना का विकास होता है। जो लोग बालक के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते हैं उन्हीं को बालक अपना समझने लगता है तथा उन्हीं के रहन–सहन, भाषा तथा आदर्शों के अनुसार व्यवहार करने लगता है।

4. अनुकरण—समाजीकरण का आधारभूत तत्व अनुकरण है। ध्यान देने की बात है कि बालक में अनुकरण का विकास परिवार तथा पड़ोस में रहते हुए होता है। दूसरे शब्दों में, बालक परिवार तथा पड़ोस के लोगों को जिस प्रकार का व्यवहार करते देखते हैं उसी का अनुकरण करने लगते हैं।

5. सहकारिता—व्यक्ति को सामाजिक, समाज बनाता है। दूसरे शब्दों में, समाज की सहकारिता बालक को सामाजिक बनाने में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। जैसे–जैसे बालक अपने साथ अन्य व्यक्तियों का सहयोग पाता जाता है वैसे–वैसे वह दूसरे लोगों के साथ अपना सहयोग भी प्रदान करना आरंभ कर देता है। इससे उसकी सामाजिक प्रवृत्तियाँ संगठित हो जाती हैं।

6. पुरस्कार एवं दण्ड—बालक के समाजीकरण में पुरस्कार एवं दंड का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। जब बालक समाज के आदर्शों तथा मान्यताओं के अनुसार व्यवहार करता है, तो लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। साथ ही वह समाज के हित को दृष्टि में रखते हुए जब कोई विशिष्ट व्यवहार करता है, तो उसे दण्ड दिया जाता है। जिसके भय से वह ऐसा कार्य फिर दुबारा नहीं करता। स्पष्ट है कि पुरस्कार एवं दण्ड का बालक के समाजीकरण पर महत्वपूर्ण प्रभाव है।

7. पालन–पोषण–बालक के समाजीकरण में पालन–पोषण का गहरा प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार का वातावरण बालक को प्रारंभिक जीवन में मिलता है तथा जिस प्रकार से माता–पिता बालक का पालन–पोषण करते हैं उसी के अनुसार बालक में भावनाएँ तथा अनुभूतियाँ विकसित हो जाती हैं। इसका अर्थ यह है कि जिस बालक की देख–रेख उचित ढंग से नहीं होती उसमें समाज विरोधी आचरण विकसित हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, बालक समाज विरोधी आचरण उसी समय करता है, जब वह समाज के साथ व्यवस्थापन नहीं कर पाता। इस दृष्टि से उचित समाजीकरण के लिए यह आवश्यक है कि बालक का पालन ठीक प्रकार से किया जाये।

8. सहानुभूति–पालन–पोषण की भाँति सहानुभूति का भी बालक के समाजीकरण में गहरा प्रभाव पड़ता है। शैशवावस्था में बालक अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परिवार के अन्य सदस्यों पर निर्भर रहता है। दूसरे शब्दों में, अन्य व्यक्तियों द्वारा बालक की आवश्यकतायें पूरी की जाती है। यहाँ इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि बालक की सभी आवश्यकताओं को पूरा करना ही सब कुछ नहीं है वरन् उसके साथ सहानुभूति की आवश्यकता भी है। इसका कारण यह है कि सहानुभूति के द्वारा बालक के अपनत्व की भावना विकसित होती है। जिसके परिणामस्वरूप वह एक–दूसरे में भेद–भाव करना सीख जाता है। वह उस व्यक्ति को अधिक प्यार करने लगता है, जिसका व्यवहार उसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण होता है।

प्रश्न 3. (a) बालक के समाजीकरण में समुदाय की भूमिका क्या है ? **(म. प्र. 2020)**

उत्तर–बालक जिस सामाजिक वातावरण में जन्म लेता है, पलता है और बड़ा होता है, वह उसके वातावरण से प्रभावित होता है। बालक का समाज के साथ सम्पर्क होता है। वह समाज के सदस्य के रूप में अन्य लोगों के सम्पर्क में आता है। अतः वह स्वयं प्रभावित होता है और दूसरों को प्रभावित करता है। वह संतोष प्रदान करने वाले सभी व्यक्तियों के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण अपना लेता है और इस प्रकार उसमें सामाजिक परिपक्वता आती जाती है। बालक समाज में ही रहकर प्रतियोगिता, सहयोग, मित्रता, नेतृत्व, अनुशासन आदि बातें, सामाजिक व्यवहार को प्रेरित करती हैं। समाज बालकों में ऐसी परिस्थितियाँ उपलब्ध कराता है जिससे वे सुरक्षित, सुसंस्कृत और आदर्श नागरिक बनें। यह सदैव प्रेरणा का स्रोत होता है। समाज का प्रयास रहता है कि भावी पीढ़ी सहयोगी, निष्ठावान और सहिष्णु बने। इस प्रकार निश्चित रूप से समाज बालक के कार्य, व्यवहार एवं विकास पर काफी प्रभाव डालता है।

प्रश्न 3. (b) विकास की विभिन्न अवस्थाओं में समाजीकरण की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।

***अथवा*, किशोरावस्था में सामाजिक विकास समझाइए।** **(ग्वालियर 2021)**

उत्तर–समाजीकरण की प्रक्रिया–समाजीकरण की प्रक्रिया तब शुरू हो जाती है जब अबोध बालक का अपने माता–पिता, परिवार के सदस्यों तथा अन्य व्यक्तियों के संपर्क में आना शुरु हो जाता है और फिर वह कार्य जीवन–भर चलता है। बालक जैसे–जैसे बड़ा होता है वैसे–वैसे वह सहयोग सहानुभूति तथा सामाजिक मूल्यों एवं नियमों को अच्छी तरह ग्रहण कर लेता है। किशोरावस्था के अंत तक बालक में सर्वाधिक परिपक्वता का विकास होता है। इस अवधि में सामाजिक चेतना को प्राप्त करता है, अधिक–से–अधिक मित्र बनाता है तथा समूह बनाता है।

विभिन्न अवस्थाओं में समाजीकरण की प्रक्रिया–

जन्म के बाद एक बालक का सामाजिक विकास भिन्न–भिन्न अवस्थाओं में भिन्न–भिन्न तरीकों से होता है। उनका वर्णन निम्नलिखित हैं–

(1) शैशवावस्था में सामाजिक विकास–इस काल में सामाजिक विकास की विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

(i) स्वयं केन्द्रित बालक, (ii) माता–पिता पर आश्रित बालक, (iii) सामाजिक खेल का विकास, (iv) स्पर्धा की भावना, (v) मैत्री और सहयोग, (vi) सामाजिक स्वीकृति।

हरलॉक ने पहले दो वर्ष में होने वाले सामाजिक विकास को निम्न ढंग से प्रस्तुत किया है–

(i) पहले माह में मानव और अन्य ध्वनि में अंतर समझना।

(ii) दूसरे माह में मानव ध्वनि को पहचानना और मुस्कान के साथ स्वागत करना।

(iii) तीसरे माह में अपनी माता को पहचानना तथा उससे दूर होने पर दुःखी होना।

(iv) चार माह में व्यक्तियों के चेहरे को पहचानना।

(v) पाँच माह में क्रोध या प्यार की आवाज पहचानना।

(vi) छह–सात माह में परिचितों का मुस्कान से स्वागत करना।

(vii) आठ या नौ माह में अपनी परछाईं से खेलना।

(viii) चौबीस माह में बड़ों के काम में हाथ बँटाने का प्रयत्न करना।

(2) बाल्यावस्था में सामाजिक विकास–इस अवस्था में बालक में कई परिवर्तन आ जाते हैं जो इस प्रकार हैं–

(i) छोटे समूहों में खेलना, (ii) दूसरों से स्नेह की अपेक्षा, (iii) दल के प्रति वफादारी, (iv) आदतों का निर्माण, (v) सहयोग की भावना, (vi) लिंग विभाजन का समय, (vii) मित्रों का चुनाव, (viii) सामाजिक सूझ–बूझ का विकास, (ix) नेता बनने की इच्छा, (x) प्रिय कार्यों में रुचि।

(3) किशोरावस्था में सामाजिक विकास–इस अवस्था में किशोर की रुचि परिवार से हटकर बाहरी दुनिया की तरफ हो जाती है। यह माता–पिता से साथियों के लिए लड़ाई कर सकता है। बालक उग्र प्रवृत्ति का हो जाता है। इस समय वह अपने लिए आदर्श चुन लेता है। वह अच्छा या बुरा हो सकता है। किशोरावस्था में परिवर्तन निम्नलिखित हैं–

(i) किशोरों की सामाजिक चेतना का विकास तीव्र गति से होता है।

(ii) किशोर अपने वातावरण के प्रति सजग होता है।

(iii) किशोर के सामाजिक विकास में उनके शरीर का अधिक योगदान होता है।

(iv) जो किशोर कमजोर, बीमार तथा शारीरिक रूप से कमजोर होते हैं उन्हें कोई अपने पास बिठाना पसंद नहीं करता।

(v) इस अवस्था में किशोर को पता लग जाता है कि उनकी सामाजिक मान्यता किस स्थान पर है और किस स्थान पर नहीं है।

(vi) किशोरों को अनुभव होने लगता है कि उनके माता–पिता उन्हें अच्छी तरह नहीं समझते और उन्हें आजादी उचित प्रकार से प्रदान नहीं करते।

(vii) किशोरावस्था में यौन विकास के कारण लड़के–लड़कियाँ आपस में मिलना, बात करना और सामाजिक कार्यों में भाग लेना चाहते हैं।

(viii) समान रुचि वाले किशोरों में मित्रता का विकास होने लगता है।

(ix) माता–पिता और परिचितों से अपनी प्रशंसा सुनना, रूठना और अपनी बात मनवाना उनका ध्येय हो जाता है।

किशोरों के समाजीकरण की विशेषताएँ–(1) समूहों का निर्माण करना, (2) समूहों के प्रति वफादारी, (3) विद्रोह की भावना रखना, (4) मैत्री भावना का विकास, (5) व्यवसाय चयन में रुचि दिखाना, (6) सामाजिक परिपक्वता की भावना स्वयं भरना, (7) बहिर्मुखी प्रवृत्ति दिखाना।

प्रश्न 4. 'सामाजीकरण' की अवधारणा को समझाइए। **(उज्जैन 2022)**

उत्तर–समाज में जन्म लेने के बाद मनुष्य के बच्चे का समाज में ही पालन–पोषण होता है तथा समाज में रहकर ही वह बड़ा होता है। परिवार, पड़ोस, स्कूल तथा धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विरासत के तत्वों का परिचय भी इसी से प्राप्त होता है। सामाजीकरण से न केवल मानव जीवन का प्रभाव अखण्ड व सतत् रहता है वरन् इसी से मानवोचित गुणों का विकास होता है, और व्यक्ति सुसभ्य व सुसंस्कृत भी बनता है।

अवधारणा–मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेले जीवन नहीं बिता सकता है। इस कारण वह समूह का निर्माण करता है। मानव का सामाजिक बनना एक लम्बी प्रक्रिया है। शिशु जन्म लेते ही समाज में आता है और अपनी जन्मजात शक्तियों को सामाजिक वातावरण में ही विकसित करता है। जन्म के समय शिशु न तो सामाजिक होता है और न ही असामाजिक परन्तु धीरे–धीरे वह सामाजिक वातावरण से प्रभावित होने लगता है और उसका सामाजीकरण होना प्रारंभ हो जाता है।

सामाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया होती है जिसमें विभिन्न प्रकार की उपक्रियाएँ शामिल होती हैं। ये उपक्रियाएँ जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त लगातार चलती रहती हैं और मानव की सामाजीकरण में सहायता करती है। सामाजीकरण में शैशवावस्था से ही मानव समाज में चली आ रही मान्यताएँ, रीति–रिवाज तथा परम्पराएँ, आकांक्षाएँ, सामाजिक उद्देश्यों एवं संस्कृति के अनुपात में संलग्न हो जाता है और उसके प्रभाव को स्वीकार कर उसके अनुरूप व्यवहार करने लगता है। वह इस सामाजीकरण की प्रक्रिया में नैतिकता, धर्म, व्यक्तिगत रहन–सहन और सामाजिक आचरण को ग्रहण करके वैसे ही कार्य और व्यवहार करना शुरू करता है जो समाज द्वारा मान्य होते हैं। समाज द्वारा मान्य व्यवहारों के करने से मानव की प्रशंसा होती है और उसे सामाजिक मान लिया जाता है।

(1) ग्रीन के अनुसार–"सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बच्चा सांस्कृतिक विशेषताओं, आत्म तथा व्यक्तित्व को प्राप्त करता है।"

(2) जानसन के अनुसार–"सामाजीकरण एक प्रकार का सीखना है, जो सीखने वाले को सामाजिक कार्य करने के योग्य बनाता है।"

सामाजीकरण की उपक्रियाएँ–सामाजीकरण में तीन उपक्रियाएँ शामिल हैं–

(1) उचित व्यवहार करना–इसका तात्पर्य है बालक सामाजिक समूह द्वारा स्वीकृत व्यवहार करे और हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक सामाजिक समूह के उचित व्यवहार के संबंध में अपनी नियमावली होती है।

(2) स्वीकृत सामाजिक प्रकार्यों को करना–समाज द्वारा स्वीकृत प्रकार्यों को करने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति उन सभी कार्यों का सम्पादन करे जो उस विशेष स्थिति के साथ जुड़े हुए हैं जिसे वह समाज में रहकर प्राप्त करता है।

(3) सामाजिक अभिवृत्ति का विकास–इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति में एकीकरण तथा सहयोग का भाव होना चाहिए, जिससे वह समाज के लिए सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित कर सके।

सामाजीकरण की विशेषताएँ–सामाजीकरण की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) सामाजिक परिपक्वता (Social maturity) –जब कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से सामाजिक मान्यताओं को अपनाता है तथा सामाजिक रीति–रिवाजों, परम्पराओं और नियमों का पालन करता है, सामाजिक कार्यक्रमों में सम्मिलित होता है और ऐसा करने पर उसके मन में किसी तरह का तनाव नहीं होता, असंतोष नहीं होता तो ऐसी स्थिति में यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि उसमें सामाजिक परिपक्वता है। सामाजिक परिपक्वता सामाजिक विकास की सूचक होती है जिससे यह ज्ञात हो जाता है कि व्यक्ति सामाजिक रूप से जिम्मेदार हो गया है।

(2) सामाजिक अनुरूपता (Social conformity) –सामाजिक अनुरूपता से तात्पर्य है– सामाजिक मूल्यों, सामाजिक आदर्शों तथा सामाजिक परम्पराओं के अनुसार व्यवहार करना। जो व्यक्ति आसानी से समाज के साथ सामंजस्य स्थापित कर लेता है, वही व्यक्ति सुखमय तथा सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकता है। जो व्यक्ति समाज के रीति–रिवाजों, परम्पराओं, सामाजिक मान्यताओं, प्रथाओं तथा नियमों के अनुसार आचरण करता है, वही सुखी तथा तनाव रहित जीवन व्यतीत कर सकता है।

(3) सामाजिक समायोजन (Social adjustment) –कोई भी व्यक्ति समाज में यथोचित जीवन–यापन कर सकता है यदि वह समाज के सदस्यों के साथ उचित प्रकार से समायोजन स्थापित कर सके। तालमेल, सहयोग, सहानुभूति, सहकारिता, करुणा, स्नेह आदि साधन समायोजन में सहायक होते हैं। सामाजिक समायोजन से समाज का विकास होता है।

(4) सामाजिक गतिविधियों में भाग लेना (Participation in social activities) –सामाजिक कार्यों की कोई निश्चित सीमा नहीं होती है। इसमें व्यक्ति अपनी योग्यता, क्षमता, आयु के आधार पर भाग ले सकता है। सामाजिक गतिविधियों में भागीदारी करने से बालक की सामाजीकरण की क्रिया में तीव्रता आ जाती है। सामाजिक गतिविधियों में भागीदारी सामाजिक विकास का लक्षण कहा जा सकता है।

(5) सामाजिक अन्त:क्रियाएँ (Social Interactions) –जब कई व्यक्ति परस्पर मिलते हैं, तो उनमें कई प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। इन क्रियाओं में भाग लेते हुए वे एक–दूसरे पर अपना प्रभाव डालते हैं। ये समस्य क्रियाएँ अन्त:क्रियाएँ कहलाती हैं। अन्त:क्रियाएँ होना यह प्रदर्शित करता है कि सामाजीकरण अथवा सामाजिक विकास उचित प्रकार से हो रहा है।

प्रश्न 5. समाजीकरण से आपका क्या आशय है ? बालक का समाजीकरण करने वाले तत्वों की विवेचना कीजिए। **(ग्वालियर 2022; रीवा 22)**

उत्तर–समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से मनुष्य समाज के विभिन्न व्यवहार रीति–रिवाज गतिविधियाँ इत्यादि सीखता है। जैविक अस्तित्व से सामाजिक अस्तित्व में मनुष्य का रूपांतरण भी समाजीकरण के माध्यम से ही होता है। समाजीकरण के माध्यम से ही वह संस्कृति को आत्मसात् करता है। समाजीकरण का अर्थ उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से अंत:क्रिया करता हुआ सामाजिक आदतों, विश्वासों, रीति–रिवाजों तथा परम्पराओं एवं अभिवृत्तियों को सीखता है। इस क्रिया के द्वारा व्यक्ति जन कल्याण की भावना से प्रेरित होते हुए अपने आपको अपने परिवार, पड़ोस तथा अन्य सामाजिक वर्गों के अनुकूल बनाने का प्रयास करता है जिससे वह समाज का एक श्रेष्ठ, उपयोगी तथा उत्तरदायी सदस्य बन जाये तथा उक्त सभी सामाजिक संस्थाएँ तथा वर्ग उसकी प्रशंसा करते रहें।

जॉनसन के अनुसार– "समाजीकरण एक प्रकार का सीखना है, जो सीखने वाले को सामाजिक कार्य करने योग्य बनाता है।"

रॉस के अनुसार– "समाजीकरण सहयोग करने वाले व्यक्तियों में हम की भावना का विकास करता है और उनमें एक साथ कार्य करने क्षमता और इच्छा का विकास करता है।"

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति और व्यक्ति एवं समाज के बीच अंत:क्रिया होती है और व्यक्ति समाज की भाषा, रहन–सहन, खान–पान एवं आचरण की विधियाँ और रीति–रिवाज सीखता है और इस प्रकार उस समाज में समायोजन करता है।

समाजीकरण के तत्व (Factors of Socialization)–समाजीकरण की प्रक्रिया के चार तत्व हैं–

(1) मनुष्य की जैविक विशेषता–मनुष्य की अपनी जैविकीय विशेषता है, वह कुछ मूल प्रवृत्तियों, संवेगों सामान्य जन्मजात प्रवृत्तियों, इंद्रियों और मस्तिष्क को लेकर जन्म लेता है, इन्हीं के आधार पर उसका समाजीकरण होता है, इनके अभाव में हम उसका समाजीकरण नहीं कर सकते।

(2) सामाजिक अंत: क्रियाएँ–मनुष्य के समाजीकरण के लिए दूसरा आवश्यक तत्व सामाजिक अंत:क्रियाएँ हैं, जब तक कोई मनुष्य दूसरे मनुष्य के संपर्क में नहीं आता और उनके बीच अन्त:क्रियाएँ नहीं होतीं तब तक वह ना तो समाज की भाषा सीख सकता है और न ही आचरण की विधियाँ, इनको सीखकर ही वह जैविक पुरानी से सामाजिक प्राणी बनता है।

(3) सामाजिक अंत: क्रियाओं में निश्चित परिणाम–समाजीकरण के लिए यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति–व्यक्ति अथवा व्यक्ति–समाज के बीच की अन्त : क्रियाओं के निश्चित परिणाम हो, निरर्थक अंत : क्रियाओं के समाज समस्त आचरण नहीं सीखा जा सकता।

(4) परिणामों के प्रति स्वीकृति–अस्वीकृति–जहाँ क्रिया होगी वहाँ परिणाम अवश्य होगा, चोरों के बीच रहकर बच्चा चोरी करना सीख सकता है परन्तु उसे जब यह जानकारी होगी कि यह कार्य समाज द्वारा स्वीकृत नहीं है और ऐसा करके वह समाज में समायोजन नहीं कर सकता तो वह उस कार्य को स्वीकार नहीं करेगा, समाज द्वारा स्वीकृत आचरण को सीखकर तदनुकूलन आचरण करना ही समाजीकरण होता है।

बालक के समाजीकरण में बाधक तत्व–

(1) सांस्कृतिक परिस्थितियाँ–जैसे–जाति, धर्म, वर्ग आदि से संबद्ध पूर्व धारणाएँ।

(2) बाल्यकालीन परिस्थितियाँ–जैसे–माता–पिता का प्यार न मिलना, माता–पिता में सदैव कलह, पक्षपात, एकाकीपन तथा अनुचित दंड आदि।

(3) तात्कालिक परिस्थितियाँ–जैसे–निराशा, अपमान, अभ्यास, अनियमितता, कठोरता, परिहास और भाई–बहन, मित्र, पड़ोसी आदि की ईर्ष्या।

(4) अन्य परिस्थितियाँ–जैसे–शारीरिक हीनता, निर्धनता, असफलता, शिक्षा की कमी, आत्म-विश्वास का अभाव तथा आत्म–निर्भरता की कमी आदि।

प्रश्न 6. लैंगिक समानता लाने में परिवार एवं संस्कृति की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

उत्तर–लैंगिक समानता लाने में परिवार की भूमिका–परिवार समाजीकरण की प्रक्रिया का प्रमुख तत्व होता है। यह प्रथम संस्थान है जो समाज का आकार बनाता है। परिवार के सदस्यों की सोच एवं अभिभावकों का पालन–पोषण नवीन समाज का ढाँचा तैयार करता है।

विभिन्न परिवारों में समाजीकरण की प्रक्रिया एक रूढ़िबद्ध वातावरण में होती है जहाँ बालक एवं बलिकाओं में जन्म से ही भेद–भाव किये जाते हैं, चूँकि इस असमानता की शुरुआत परिवार से होती है, अत: लैंगिक समानता की शुरुआत भी परिवार से प्रारंभ होनी चाहिए।

अत: लैंगिक समानता हेतु परिवार की भूमिका निम्नानुसार होनी चाहिए–

(1) समानता का व्यवहार–परिवार में यदि बालक एवं बालिकाओं के प्रति समानता का व्यवहार किया जाता है, तो ऐसे परिवारों में लिंग संबंधी असमानता नहीं पायी जाती है। समानता के व्यवहार के अंतर्गत लड़के एवं लड़कियों का पारिवारिक कार्य के समान अवसर, समान शिक्षा, समान रहन–सहन आदि मुख्य रूप से शामिल है।

(2) समान शिक्षा की व्यवस्था–कई परिवारों में ऐसा पाया जाता है कि बालकों को अच्छे प्राइवेट स्कूलों में दाखिला करवाया जाता है जबकि बालिकाओं को किसी भी साधारण या सरकारी स्कूलों में पढ़ने को भेजते हैं, इस तरह से शिक्षा के अवसरों में असमानता की शुरुआत हो जाती है। लैंगिक समानता को बनाने के लिए परिवार के सदस्यों को बालकों एवं बालिकाओं को शिक्षा के समान अवसर प्रदान करने चाहिए।

(3) सर्वांगीण विकास के अवसर–परिवार के सदस्यों को चाहिए कि बालक एवं बालिका दोनों को ही मानसिक, शारीरिक एवं भावनात्मक रूप से विकसित होने के लिए प्रयास करें एवं इन प्रयासों में किसी प्रकार का भेद–भाव न करें। जो सुविधा बालक को दे वही सुविधा बालिकाओं को भी प्रदान करें ताकि बिना किसी प्रकार की हीन भावना के बालिकाओं का भी सर्वांगीण विकास हो सके।

(4) अन्धविश्वासों एवं रूढ़िवादी परम्पराओं का बहिष्कार–हमारे समाज एवं परिवार में अनेक अन्धविश्वास एवं रूढ़िवादी परम्पराएँ व्याप्त हैं। लड़कों को वंश बढ़ाने वाला, पैतृक कर्मों एवं संपत्ति का उत्तराधिकारी आदि माना जाता है। ये सभी बातें लैंगिक समानता को कमजोर करती है, अत:

परिवार में ऐसी रूढ़िवादी एवं अंधविश्वासी विचार का विरोध करना चाहिए और इन कुरीतियों के प्रति समाज में जागरूकता फैलाना चाहिए ताकि लैंगिक समानता को बढ़ावा मिल सके।

(5) बालिकाओं को सशक्त बनाना—कभी–कभी परिवार के सदस्य न चाहते हुए बालिकाओं को बार–बार ये बोलकर कि तुम कमजोर हो या आपको भाई की या किसी अन्य की सहायता या सुरक्षा की आवश्यकता है। ये बातें बालिकाओं को मानसिक रूप से कमजोर और उनके आत्मविश्वास को कमजोर करती है। परिवार को चाहिए कि वह बालिकाओं को सशक्त बनाए न केवल शारीरिक रुप से बल्कि मानसिक रूप से भी ताकि वो समाज में पुरुषों से कंधे–से–कंधा मिलाकर चल सकें।

लैंगिक समानता में संस्कृति की भूमिका—लैंगिक विसंगतियों को दूर करने के लिए संस्कृति की भूमिका निम्नानुसार होनी चाहिए—

(1) संस्कृति में नियम निर्धारण करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि इससे समानता व स्वतंत्रता की स्थिति में कोई दोष उत्पन्न न हो।

(2) किसी कार्य विशेष को लिंग के आधार पर पूर्व निर्धारित नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि दोनों ही समान रूप से सभी कार्यों को करने में सक्षम है। जैसे–कुछ पदों पर केवल पुरुषों का एकाधिकार माना जाता है ऐसी सोच लैंगिक समानता के लिए घातक है।

(3) परिवार एवं समाज में महिला एवं पुरुष दोनों का निर्णय संबंधी अधिकार समान रूप से दिया जाना चाहिए।

(4) महिला में यदि बाहरी कार्य (अर्थात् घर के कार्यों से अलग) करने की योग्यता है तो उसे प्रोत्साहित करना चाहिए।

इस प्रकार यदि परिवार, समाज एवं संस्कृति की भूमिका बिना किसी भेद–भाव के रही तो लैंगिक असमानता जैसी कोई संकल्पना समाज में नहीं पायी जायेगी, और सही मायनों में समाज तभी मजबूत होगा और समृद्ध होगा।

प्रश्न 7. माता–पिता के पालन–पोषण शैली का बच्चों के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है ? **(जबलपुर 2021)**

***अथवा,* बालक के विकास में परिवार किस प्रकार सहायक होता है ? समझाइये।**

***अथवा,* बालक के समाजीकरण में परिवार की भूमिका को समझाइये।** **(छतरपुर 2021; रीवा 22)**

***अथवा,* बच्चे के पालन–पोषण की शैलियों पर टिप्पणी लिखिए।** **(भोपाल 2022)**

***अथवा,* परिवार में बच्चों का लालन–पालन किस प्रकार होता है ?** **(जबलपुर 2021)**

उत्तर–डायना बूमरिंड ने अपने अनुसंधान के माध्यम से पाया कि पालन–पोषण की चार प्रमुख शैलियाँ हैं—1. अधिकारवादी पालन–पोषण, 2. अधिकारपूर्ण पालन–पोषण, 3. अनुज्ञात्मक पालन–पोषण, 4. तटस्थ पालन–पोषण।

1. अधिकारवादी पालन–पोषण—इस पालन–पोषण में माता–पिता द्वारा स्थापित नियमों का पालन सख्ती से करने की आशा की जाती है। नियमों का पालन न करने पर बच्चों को दंडित किया जाता है। ये माता–पिता आज्ञापालन और स्तर को महत्व देते हैं तथा बिना किसी स्पष्टीकरण के अपने आदेशों के पालन की अपेक्षा करते हैं।

2. अधिकारपूर्ण पालन–पोषण—इस शैली में नियम और मार्गदर्शन माता–पिता द्वारा निश्चित किए जाते हैं, जिसके पालन की अपेक्षा बच्चों से की जाती है। इस शैली में माता–पिता बच्चों के प्रति अनुक्रियाशील होते हैं और उनके प्रश्नों को सुनने के लिए तैयार रहते हैं। जब बच्चे आशाओं को पूरा करने में असफल होते हैं तो माता–पिता प्रोत्साहन देते हैं एवं बच्चों की क्षमताओं का विकास करते हैं। ये माता–पिता अपने बच्चों के आचरण के मानकों को मॉनीटर करते हैं एवं सहयोगशील रहते हैं।

3. अनुज्ञात्मक पालन–पोषण–इस प्रकार के माता–पिता को बच्चों के प्रति कृपालु या आसक्त भी कहा जा सकता है। इन्हें बच्चे से बहुत कम अपेक्षाएँ होती हैं। ये अपने बच्चों को बहुत अनुशासन में नहीं रखते। ये माता–पिता अपने बच्चों का पोषण करते हैं साथ ही संप्रेषण भी बनाए रखते हैं। अपने बच्चों के साथ मित्रवत् व्यवहार करते हैं।

4. तटस्थ पालन–पोषण–इस शैली के माता–पिता बहुत कम अपेक्षा रखने वाले, अल्प अनुक्रियाशील और कम सम्प्रेषण करने वाले होते हैं। ये बच्चों की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करते हैं किन्तु बच्चे के जीवन से तटस्थ बने रहते हैं। कई मामलों में ये अपने बच्चों की आवश्यकताओं को अस्वीकार भी कर सकते हैं।

पालन–पोषण का बच्चे पर पड़ने वाले प्रभाव–बूमरिंड के 100 विद्यालय पूर्व किए गए प्रारम्भिक अध्ययन एवं अन्य अनुसंधानकर्ताओं के द्वारा किए गए शोध से प्राप्त निष्कर्ष इस प्रकार हैं–

(1) अधिकारवादी पालन–पोषण शैली के बच्चों पर यह प्रभाव होता है कि वे आज्ञाकारी और प्रवीण होते हैं परन्तु प्रसन्नता, सामाजिकता और आत्मसम्मान में कम स्तर के होते हैं।

(2) अधिकारपूर्ण शैली से पालन–पोषण वाले बच्चे प्रसन्न, सक्षम और सफल होते हैं (मैकोब, 1992)।

(3) अनुज्ञात्मक पालन–पोषण शैली के बच्चे प्रसन्नता तथा स्वनियमितता में कम स्तर के होते हैं। ये बच्चे अधिकारियों के साथ व्यवहार करने में कठिनाई महसूस करते हैं और विद्यालय में इनकी उपलब्धि कुछ कम होती है।

(4) तटस्थ पालन–पोषण शैली जीवन के सभी क्षेत्रों में निम्नतम स्तर की है। इन बच्चों में आत्मनियंत्रण का अभाव होता है, आत्मसम्मान कम होता है। अपने सहपाठियों की अपेक्षा कम सक्षम होते हैं।

प्रश्न 8. बालकों में सामाजिक विकास का विकास करने में शिक्षक की भूमिका का वर्णन कीजिए। **(रीवा 2021, 22)**

उत्तर–बालक के सामाजिक विकास पर शिक्षक का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि शिक्षक शिष्ट, शान्त और सहयोगी है तो उसके छात्र भी उसी के समान व्यवहार करते हैं। इसके विपरीत यदि शिक्षक अशिष्ट, क्रोधी और असहयोगी है, तो उसके विद्यार्थी भी उसी के समान बन जाते हैं। योग्य शिक्षकों का सम्पर्क बालक के सामाजिक विकास पर निश्चय ही प्रभाव डालता है। **स्ट्रैंग** के अनुसार, "वास्तविक सामाजिक ग्रहणशीलता और योग्यता वाले शिक्षकों से दैनिक सम्पर्क, बालक के सामाजिक विकास में अतिशय योग देता है।"

बालक के सामाजिक विकास पर शिक्षक के मानसिक स्वास्थ्य का भी प्रभाव पड़ता है। यदि शिक्षक अपने छात्रों से सहानुभूति रखता है, तो बालकों का भी मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहता है। फलस्वरूप उनका मानसिक विकास होता रहता है। योग्य शिक्षकों की देख–रेख बालकों के सामाजिक विकास को प्रभावित करती है।

प्रश्न 9. अधिक आयु के अधिगमकर्ता (Over age learner) पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। **(भोपाल 2022)**

उत्तर–विभिन्न स्तरों पर शिक्षा ग्रहण करने वाले बालकों की आयु के संबंध में शिक्षा नीतियों एवं शिक्षा विभाग ने आयु सीमा बतायी है जिसके अनुसार, विद्यालय में प्रत्येक कक्षा में बालक का दाखिला लिया जाता है। इस प्रकार, जब बालकों का नामांकन होता है तो लगभग एक कक्षा के सभी बालकों की आयु लगभग–लगभग समान होती है परन्तु कई बार ऐसा पाया जाता है कि किसी कक्षा में कुछ बालक जिनकी संख्या एक या दो की होती है उनकी आयु उनके कक्षा के अन्य बालकों से काफी ज्यादा होती है। ऐसे बालक अधिक आयु के अधिगमकर्ता होते हैं।

अधिक आयु के अधिगमकर्ता कई कारणों से पाए जाते हैं। इसके कारण निम्नलिखित हैं–

(1) कुछ बच्चे धीमी गति से अधिगम कर पाते हैं जिस कारण उनके साथ के बालक अगली कक्षा में चले जाते हैं और वह साल–दर–साल कई बार एक ही कक्षा में रह जाते हैं, इस अवस्था में ऐसे बालक अपने वर्तमान सहपाठियों की तुलना में अधिक आयु का दिखता है और उक्त कक्षा का अधिक आयु का अधिगमकर्ता कहलाता है।

(2) कुछ बालक आर्थिक परेशानियों की वजह से समय से अपनी शिक्षा प्रारंभ नहीं कर पाते। इनके अभिभावक इनका दाखिला ही विलम्ब से करते हैं, जिस कारण ये अपनी कक्षा के बालकों की आयु से अधिक आयु के होते हैं।

(3) कई बार बालक किसी शारीरिक समस्याओं या लंबी बीमारी के कारण देर से अपनी पढ़ाई शुरू करते हैं या समय से पढ़ाई शुरू करने के बाद बीच में कभी पढ़ाई छोड़नी पड़ती है और जब ये पुनः पढ़ाई शुरू करते हैं तो ये उक्त कक्षा के अधिक आयु के अधिगमकर्ता कहलाते हैं।

(4) प्राकृतिक आपदाएँ भी इस तरह की समस्याओं का एक कारण हो सकती है। भूकम्प, तूफान आदि के कारण सभी व्यवस्थाएँ ध्वस्त हो जाती है, वहाँ की आबादी विस्थापन की स्थिति में पहुँच जाती है जिस कारण नई जगह पर वापस से शिक्षा प्रारंभ करने पर ये बालक उस कक्षा के बालक से अधिक आयु के होते हैं।

(5) कुछ सामाजिक–राजनैतिक कारण भी होते हैं, जैसे–युद्ध या संघर्ष, दंगे आदि। ऐसी स्थिति में भी बालकों की शिक्षा बाधित होती है (जैसे–कश्मीर आदि में), तो ये बालक वर्तमान कक्षा के लिए अधिक आयु के अधिगमकर्ता कहलाते हैं।

इन कारणों के अलावा भी अन्य कई कारण है। जैसे–सामाजिक–सांस्कृतिक कारण, बाल–अपराध, माता–पिता से अलगाव, विद्यालयों की अनुपलब्धता, दुर्गम इलाके आदि इन कारणों से बालक अपनी समान आयु के बालकों के साथ शिक्षा नहीं ले पाते हैं और ये अधिक आयु के अधिगमकर्ता की श्रेणी में आ जाते हैं।

प्रश्न 10. अधिक आयु के अधिगमकर्ता की समस्याओं का वर्णन कीजिए एवं अध्यापक की भूमिका स्पष्ट करें।

उत्तर–अधिक आयु के अधिगमकर्ता अपनी कक्षा के अन्य बालकों से भिन्न होते हैं जिस कारण कई बार उनको अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जो निम्नलिखित हैं–

(1) हीनता की भावना–अपनी आयु से कम आयु के साथ रहने के कारण कई बार इनमें हीनता की भावना जागृत हो जाती है।

(2) समायोजन की समस्या–आयु में असमानता होने के कारण ये बालक अपनी कक्षा के बालकों के साथ समायोजित नहीं हो पाते हैं। कई बार इनकी तरफ से प्रयास करते हैं तो इनके साथ वाले बालक भी इनका मजाक बनाते हैं और इनसे दूरी बना कर रहते हैं, जिस कारण इनका समायोजन खराब हो जाता है।

(3) सामुहिक कार्य से दूरी बनाना–अधिक आयु के अधिगमकर्ता कई बार सामुहिक कार्यों से दूरी बनाते हैं क्योंकि उनमें समायोजन का अभाव होता है और इसलिए समूह के कार्य करने में कतराते हैं।

(4) आयु में समानता नहीं होने के कारण इन बालकों के साथ कई बार शिक्षक भी दुर्व्यवहार कर देते हैं इससे इनमें कुण्ठा एवं निराशा की भावना जागृत हो जाती है।

अधिक आयु के अधिगमकर्ताओं के लिए शिक्षक की भूमिका इस प्रकार है–

(1) अध्यापक एक रचनाकार होता है, वह अपनी कक्षा का वातावरण समावेशी और रचनायें बनाकर सभी विद्यार्थियों को सुसमायोजन का अवसर दे सकता है।

(2) अध्यापक को ऐसे बालकों को प्रेरणा प्रदान करना चाहिए ताकि वो सभी सामूहिक एवं अन्य पाठ्यसहगामी क्रियाओं में हिस्सा लें ताकि उनका आत्मबल बढ़े एवं उनका अन्य बालकों से भी संपर्क बढ़े।

(3) अध्यापक ऐसे बालकों के माता–पिता से भी संपर्क करें ताकि उनकी समस्या की विस्तृत चर्चा कर सके एवं उनके समाधान के लिए अभिभावक एवं अध्यापक दोनों सामूहिक प्रयास कर सकें।

(4) अध्यापक ऐसे बालकों को व्यक्तिगत परामर्श प्रदान करें जिससे उनके समायोजन एवं अन्य समस्याओं का वो स्वयं समाधान करने में सक्षम बन सकें।

अधिक आयु के बालकों की मुख्य समस्याओं को ध्यान में रखकर शिक्षकों को उनके समाधान को उद्देश्य बनाकर व्यवहार करना चाहिए।

प्रश्न 11. अधिक आयु वाले अधिगमकर्ताओं की क्या विशेषताएँ होती हैं ?

(इन्दौर मार्च 2023)

उत्तर–अधिक आयु वाले अधिगमकर्ता के अंतर्गत वे छात्र/छात्राएँ आते हैं जिनकी आयु अधिक हो चुकी है परन्तु उन्होंने विद्यालय में कभी प्रवेश ही नहीं लिया या बीच में अध्ययन पूर्ण होने से पहले ही छोड़ दिया। इन विद्यार्थियों के लिए शिक्षा की उचित व्यवस्था की जाती है। इनके लिए उपयुक्त शैक्षिक उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं तथा पाठ्यक्रम का निर्धारण किया जाता है। अनौपचारिक शिक्षा तथा प्रौढ़ शिक्षा का कार्यक्रम उम्र के अनुसार वर्गीकृत किया गया है। अब 6 से 35 तक की आयु वर्ग को शिक्षा के सार्वभौमिकरण के अंतर्गत साक्षर बनाना है तो इसके दो आयु वर्ग 6-14 अनौपचारिक शिक्षा आयोजन तथा 15-35 तक के आयु वर्ग के लिये प्रौढ़ शिक्षा का आयोजन किया जाता है।

विशेषताएँ–अधिक आयु वाले अधिगमकर्ताओं में निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं–

(1) अधिक आयु वाले अधिगमकर्ता स्वयं अनुशासित होते हैं।

(2) अधिक आयु वाले अधिगमकर्ता में आत्मनियंत्रण होता है।

(3) अधिक आयु वाले अधिगमकर्ता में तर्कसंगत रूप से कार्य करने की योग्यता होती है।

(4) अधिक आयु वाले अधिगमकर्ता अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु लगातार प्रयास करते रहते हैं।

(5) अपने कार्य पूर्ण निष्ठा से करते हैं।

(6) अधिक आयु वाले वर्ग के अधिगमकर्ता में एकाग्रता अधिक होती है।

(7) अधिक आयु वाले अधिगमकर्ता में उत्सुकता अधिक होती है।

(8) अधिक आयु वाले अधिगमकर्ता अधिक सरल, सहज एवं सकारात्मक सोच वाले होते हैं।

(9) अधिक आयु वाले अधिगमकर्ता धैर्य और संगठन दिखाते हैं, वे समझते हैं कि शिक्षा अत्यंत महत्वपूर्ण है, जिससे हम नये–नये कौशल सीख सकते हैं।

(10) अधिक आयु वाले अधिगमकर्ता के पास जीवन अनुभव की एक विशाल मात्रा होती है जो नये अवबोध को समझने और उसे गहराई से समझने के लिए मूल्यवान संदर्भ और दृष्टिकोण प्रदान कर सकता है। वे इस अनुभव का सहारा लेते हैं ताकि वे नई जानकारी को गहराई से समझ सकें।

(11) कई अधिगमकर्ता स्वाभाविक प्रेरणा से शिक्षा ग्रहण करते हैं। वे नयी रुचियों की खोज कर सकते हैं।

(12) आयु अक्सर मूल्यांकन क्षमता को तेज करती है। बड़े वयस्क अक्सर विषयों के प्रति और गहरे स्तर पर विश्लेषण के एक उच्च स्तर के साथ नजर डालते हैं, अनुमानों से संबंधित प्रश्न करते हैं और एक गहरी समझ प्राप्त करने के लिए शोध करते हैं।

(13) अधिक उम्र वाले अधिगमकर्ता समस्या समाधान के तरीके से अच्छी तरह वाकिफ होते हैं।

(14) अधिक उम्र वाले अधिगमकर्ता सभी प्रकार की समस्या का समाधान हेतु स्वयं रणनीतियाँ बनाते हैं।

(15) अधिक उम्र वाले अधिगमकर्ता स्व–नियमन और समय प्रबंधन कौशल के साथ स्वाधीन होते हैं। उन्हें अपने कौशलों को विकसित करने हेतु कौन–सी रणनीतियाँ अपनानी हैं ये ज्ञात होता है।

प्रश्न 12. बालक के समाजीकरण में संगी–साथियों की भूमिका बताइए।

(जबलपुर 2021, 22)

उत्तर– मित्र मंडली का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन होता है। किशोरावस्था में घर से बाहर बालक अपनी मित्र मंडली के साथ सामूहिक खेलों में रुचि लेना प्रारम्भ कर देता है। इससे प्रतिस्पर्धा की भावना का विकास होता है। मित्र मंडली अथवा टोली बालक में अनेक सामाजिक गुणों का विकास करती है। इस उम्र में बालकों के विचारों में मतभेद, मानसिक स्वतंत्रता और विद्रोह की प्रवृत्ति देखी जा सकती हैं। इस अवस्था में किशोर समाज में प्रचलित परम्पराओं, अंधविश्वासों के जाल में न फँसकर स्वछन्द जीवन जीना चाहता है। ऐसे में मित्र उसकी भावनाओं को समझकर उसकी सहायता करते हैं। बच्चे स्वाभाव से ही मिलनसार तथा सामाजिक होते हैं। एक बालक के लिए सबसे दुखद घड़ी तब होती है जब उसको उसके सहयोगियों से अलग–अलग कर दिया जाता है। वह अपने समूह विशेष में अपनी प्रतिष्ठा तथा अपने साथियों का साथ चाहता है। इसलिए माता–पिता, अध्यापकों तथा समाज के सभी उत्तरदायी सदस्यों का सदैव यह प्रयत्न रहना चाहिए कि बालक का पूरी तरह अपने समुदाय और साथी समूह में अच्छा तालमेल बना रहे जिससे उसका मानसिक स्वास्थ्य बना रहे।

संगी–साथियों की भूमिका–साथी–वर्ग बालकों के मानसिक स्वास्थ्य को बनाए रखने में निम्न प्रकार से सहयोग करते हैं–

1. चिन्तन एवं कल्पनाशक्ति का विकास–समूह में रहकर बालक में चिन्तन शक्ति का विकास होता है जो आगे चलकर उनमें कल्पनात्मक योग्यता का विकास होता है। समूह में आपसी विचार–विमर्श होते हैं इस प्रक्रिया में बालक खुलकर प्रतिभाग लेता है तथा अपने विचारों को व्यक्त करता है तथा दूसरों के विचारों पर प्रतिक्रिया भी करता है जिससे उसमें चिन्तन एवं कल्पना शक्ति का विकास होता है जो उसके मानसिक स्वास्थ्य को बनाए रखने में सहायक है।

2. प्रतियोगिता एवं सहयोग की भावना का विकास–साथी–समूहों में रहकर बालक अपने साथियों के साथ विभिन्न प्रकार के खेल खेलते हैं। इन खेलों से घर बैठे–बैठे उनका मनोरंजन तो होता है साथ–ही–साथ बालक की मानसिक योग्यताओं के विकास में काफी सहायता मिलती है। समूह में श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए वे पूरी लगन से इन खेलो में प्रतिभाग लेते हैं तथा प्रथम स्थान प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार उनमें प्रतियोगिता एवं सहयोग की भावना का भी विकास होता है जो उनके मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करती है।

3. तनाव से मुक्ति–बालक समूह में रहकर अन्य बालकों से अन्तःक्रियाएँ करता है। ये अतःक्रियाएँ कभी गंभीर व जटिल विषयों पर तो कभी हास्यपद विषयों से संबंधित होती हैं। परिणामस्वरूप तनाव दूर होता है और मानसिक स्वास्थ्य बना रहता है।

4. प्रत्यक्षीकरण–समूहों का हिस्सा बनकर बालक में प्रत्यक्षीकरण की समझ उत्पन्न हो जाती है। प्रत्यक्षीकरण एक ज्ञानात्मक (Cognitive) मानसिक प्रक्रिया है। इसके द्वारा किसी उपस्थित व्यक्ति या वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है। प्रत्यक्षीकरण की समझ के कारण ही बालक सही और गलत में भेद कर पाता है और बालक का मानसिक विकास होता है।

5. परिवर्तनशील समाज में अनुकूलन–प्रारंभ में बालक किसी–न–किसी समूह का सदस्य होता है। इस समूह में गुप्त भाषा, सदस्यता के नियम, बैठकों की जगह, नेता और क्रियाओं के विशेष

प्रयोजन दिखाई पड़ते हैं, सदस्यगण समूह के प्रति स्वामीभक्ति दिखाते हैं। समूह में बालक स्वतंत्रता का अनुभव करता है और समूह के नेता द्वारा बताए हुए मार्ग पर चलता है। यही समूह आगे चलकर वयस्क आयु में तरह–तरह की सभी सोसाइटियों के प्रतिमान उपस्थित करते हैं इस प्रकार साथी समूह में रहकर बालक अपने परिवर्तनशील सामाजिक संसार में अधिकाधिक अनुकूल करने लगता है।

6. तार्किक क्षमता का विकास–समूह बालक तर्क क्षमता का विकास करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। समूह में रहकर बालक के सामने अनेक प्रकार की समस्याएँ आती हैं उनका समाधान करने के लिए योग्यता की आवश्यकता होती है। सोचने–विचारने और तर्क करने की शक्ति ही समस्या के समाधान में सहायक सिद्ध होती है जो समूह अन्तःक्रिया से ही बालक ग्रहण करता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम देखते हैं कि साथी या समूह बालक में प्रत्यक्षीकरण, चिन्तन, तर्क, स्मृति एवं बुद्धि तथा मानसिक क्रियाओं के विकास में सहायक हैं। समूह बालक को समाज में अनुकूलन के लिए तैयार करते हैं। उनमें सहयोग एवं प्रतियोगिता की भावना का विकास करते हैं। समूह या साथी बालकों का सामाजिक, मानसिक एवं भावात्मक विकास करके उसे सामाजिक प्राणी बनाते हैं।

प्रश्न 13. बच्चों के समाजीकरण को 'दोस्ती' किस तरह प्रभावित करती है ? तथा समाजीकरण के उद्देश्य लिखिए। **(इंदौर मार्च 2023)**

उत्तर–समाजीकरण एक ऐसी समाजीकरण प्रक्रिया है, जिसके द्वारा एक जैविक प्राणी में सामाजिक गुणों का विकास होता है और वह सामाजिक प्राणी बनता है। इस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति समाज और संस्कृति के बीच रहकर विभिन्न साधनों के माध्यम से सामाजिक गुणों को सीखता है, अतः इसे सीखने की प्रक्रिया भी कहते हैं। समाजीकरण द्वारा, संस्कृति, सभ्यता तथा अन्य अनगिनत विशेषताएँ पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती हैं और जीवित रहती हैं।

समाजीकरण में 'दोस्ती' का प्रभाव – मित्र समूह सम आयु, योग्यता एवं सामाजिक स्थिति का समूह होता है। किशोरों पर अपने मित्र–समूह का सर्वांगीण प्रभाव पड़ता है। किशोरी–किशोर किसी न किसी मित्र–समूह का सदस्य होता है। समूह के सदस्य एक ही प्रकार से सोचते हैं, बोलते हैं एवं कार्य करते हैं। एक मित्र समूह अपने समूह के सदस्यों हेतु हम की भावना रखता है। किशोर हेतु उसके मित्र–समूह विश्वासपात्र, सत्यवादी एवं ईमानदार होते हैं। मित्र समूह युवाओं हेतु शरणस्थली होते हैं, जो युवा अपने परिवार के साथ भिन्नता रखते हैं मित्र समूह उन्हें सहारा देते हैं। किशोरावस्था में मित्र समूह में किशोरों का काफी समय व्यतीत होता है। किशोर मित्र समूह में खेलकूद, शिक्षा, राजनीति, परिवार, संगीत, कला एवं अन्य सांसारिक बातों पर विचार विमर्श करते हैं। वे आपस में सामंजस्य रखते हैं। मित्र समूह बच्चों को विविध सामाजिक क्षमताओं के विकास के अवसर प्रदान करते हैं, जैसे–नेतृत्व, समूह कार्य की योग्यता आदि। मित्र समूह नवीन भूमिका तथा अन्तः क्रिया हेतु इन अवसरों को स्वीकार कर लेता है, वे समूह के साथ समानता का व्यवहार करता है, लेकिन वे कम व्यवस्थित होते हैं। इस कारण बहुत से बच्चे एवं किशोर एक समूह से दूसरे समूह में चले जाते हैं।

समाजीकरण के उद्देश्य – समाजीकरण के निम्न उद्देश्य हैं–

(1) अनुशासन का विकास – समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से व्यक्ति को सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों को स्वीकार करना और अच्छा व्यवहार करना सिखाया जाता है। बचपन से ही बच्चों को अच्छे कर्मों के लिए प्रोत्साहित किया जाता है और गलत कामों की सजा दी जाती है। बालक समाज से ही सही और गलत में फर्क करना सीखता है।

(2) आकांक्षाओं की पूर्ति – अनुशासन स्वयं व्यक्ति को कोई पुरस्कार नहीं देता बल्कि आकांक्षाओं की पूर्ति में सहायक होता है। व्यक्ति की इच्छाओं का स्वरुप इस बात पर निर्भर करता है कि यहाँ किस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था है।

(3) सामाजिक क्षमताओं का विकास – सामाजिक क्षमताएँ उन गुणों को संदर्भित करती हैं जो व्यक्ति को समाज के अनुकूल बनाने में सहायता करते हैं। उदाहरण के लिए, पत्र लिखने की कला, दोस्तों के साथ स्पष्ट बातचीत आदि कुछ ऐसी सामजिक क्षमताएँ है जो व्यक्ति के राजनीतिक और आर्थिक जीवन को प्रभावित करती हैं। समाजीकरण की प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य व्यक्ति में उन सामाजिक क्षमताओं का विकास करना है जिससे वह भी अपने कार्यक्षेत्र में अपने उत्तरदायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वाह कर सके।

(4) सामाजिक दायित्वों को पूरा करना – समाज के प्रत्येक व्यक्ति को यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसकी स्थिति अन्य लोगों की तुलना में क्या है। इसे ध्यान में रखते हुए व्यक्ति को कई तरह की भूमिकाएँ निभानी होती है। उदाहरण के लिए, एक नेता और अनुयायी, शिक्षक और छात्र, वक्ता और श्रोता की भूमिकाएँ एक–दूसरे से भिन्न लेकिन एक–दूसरे के पूरक हैं। समाजीकरण की प्रक्रिया यह सिखाती है कि विभिन्न परिस्थितियों में अन्य लोगों के व्यवहार को कैसे अनुकूलित किया जाए और उन व्यक्तियों के अुनकूल होने के लिए किस प्रकार की भूमिका निभायी जाए।

प्रश्न 14. बालक के सामाजीकरण में प्रतियोगिता की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
(जबलपुर 2022)

***अथवा*, 'सामाजीकरण की प्रक्रिया में प्रतिस्पर्धा एवं सहयोग की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।" कथन की व्याख्या कीजिए।** **(उज्जैन 2022)**

उत्तर–मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेले जीवन नहीं बिता सकता है। इस कारण वह समूह का निर्माण करता है। मानव का सामाजिक बनना एक लम्बी प्रक्रिया है। शिशु जन्म लेते ही समाज में आता है और अपनी जन्मजात शक्तियों को सामाजिक वातावरण में ही विकसित करता है। जन्म के समय शिशु न तो सामाजिक होता है और न ही असामाजिक, परन्तु वह धीरे–धीरे सामाजिक वातावरण से प्रभावित होने लगता है और उसका सामाजीकरण होना प्रारंभ हो जाता है। अतः सामाजीकरण उस प्रक्रिया को कहते हैं जिससे जैविक प्राणी में सामाजिक गुण आ जाते हैं और वह प्राणी एक सामाजिक प्राणी कहलाता है।

(1) ग्रीन के अनुसार–"सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बच्चा सांस्कृतिक विशेषताओं, आत्म तथा व्यक्तित्व को प्राप्त करता है।"

(2) जॉनसन के अनुसार–"सामाजीकरण एक प्रकार का सीखना है, जो सीखने वाले को सामाजिक कार्य करने के योग्य बनाता है।"

(3) वाटसन के अनुसार–"सामाजीकरण एक सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है।"

प्रतिस्पर्धा एवं सहयोग–बच्चों के सामाजीकरण में प्रतियोगिता तथा सहयोग दोनों ही भावनाएँ पायी जाती हैं। प्रतिस्पर्धा में प्रतियोगिता पायी जाती है जिसमें दूसरों से आगे रहने का भाव होता है, लेकिन अपने को दूसरों से बेहतर बनाकर आगे रहना ही प्रतियोगिता में भाव निहित होता है। दूसरों को नुकसान पहुँचाकर आगे जाने का भाव संघर्ष को जन्म देता है। प्रतियोगिता सदैव सकारात्मक भाव पर निहित होती है। सामाजीकरण में प्रतिस्पर्धा का विशेष महत्व है। खेलकूद तथा पढ़ाई के क्षेत्र में आगे रहने के लिए स्वस्थ प्रतिस्पर्धा करायी जाती है जिससे विद्यालय तथा राष्ट्र को योग्य एवं प्रतिभाशाली नागरिक प्राप्त होते हैं। समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए सम्मिलित रूप से दो या अधिक बालकों का प्रयास सहयोग कहलाता है। दो–तीन वर्ष का बालक झगड़ालू होता है। अतः उसमें सहयोग नहीं होता है। तीसरे–चौथे वर्ष में बालक में सहयोग दिखाई देने लगता है। सहयोग के प्रथम लक्षण बच्चों में सामूहिक खेल में दृष्टिगोचर होने लगते हैं। यह देखा गया है कि एक बच्चा दूसरे बच्चों के साथ जितना अधिक रहता है, उसमें सहयोग के लक्षण उतनी ही जल्दी उत्पन्न हो जाते हैं। लगभग छः या सात वर्ष का बच्चा सहयोग का अर्थ थोड़ा–थोड़ा समझने लगता है। जिन परिवारों में

बच्चों के लालन–पालन में प्रभुत्वशाली विधियाँ अपनायी जाती हैं, वहाँ बच्चे अक्सर निषेधात्मक व्यवहार अपना लेते हैं और वे असहयोगी व्यवहार करने वाले हो जाते हैं। सहयोग करना अधिकतर बच्चे सामूहिक खेलों के माध्यम से और अपने घरेलू परिवेश से सीखते हैं और इसी सहयोगात्मक व्यवहार का उपयोग वे घर के बाहर विद्यालय तथा सामाजिक पर्यावरण में करने लगते हैं। जो बच्चे घर में असमायोजित होते हैं उनमें सहयोग की भावना कम पायी जाती है।

सहयोग से आशय–सहयोग दो या दो से अधिक व्यक्तियों द्वारा समान रूप से किसी इच्छित काम को पूरा करने अथवा किसी निश्चित लक्ष्य तक पहुँचने के सार्वजनिक एवं निरंतर प्रयास को कहा जाता है। सहयोग वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें दो अथवा दो से अधिक व्यक्ति संगठित होकर समान उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करते हैं।

सहयोग के प्रकार–सहयोग तीन प्रकार के होते हैं–

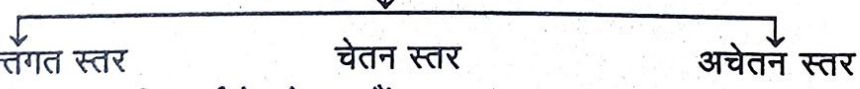
(1) प्राथमिक सहयोग–जब किसी सामाजिक अंतःक्रिया में इस प्रकार सहयोग पाया जाता है तब लोगों को मित्रता एवं घनिष्ठता दिखाई देती है।

(2) द्वितीयक सहयोग–वह सहयोग जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति अथवा समूह समान उद्देश्य की प्राप्ति हेतु इसलिए प्रयास करते हैं जिससे उनके स्वार्थों की पूर्ति होती रहे।

(3) तृतीयक सहयोग–वह सहयोग जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति मिलकर समाज की परिवर्तित अवस्थाओं के साथ अनुकूलन करने के लिए प्रयत्न करते हैं।

प्रतिस्पर्धा से आशय / प्रतियोगिता–प्रतिस्पर्धा वह सामाजिक प्रक्रिया है जो अवैयक्तिक होता है। यह प्रक्रिया सीमित समान उद्देश्यों के लिए होती है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु तब तक प्रयत्न करता है जब तक असफलता का अनुभव नहीं करता है। प्रत्येक समाज तथा समूह के व्यक्तियों में कुछ–न–कुछ प्रतिस्पर्धा अवश्य पायी जाती है। एक समाज में व्यक्ति चाहे किसी भी जाति, वर्ग या आयु के क्यों न हो, उनमें कुछ–न–कुछ प्रतिस्पर्धा अवश्य रहती है। प्रतिस्पर्धा से व्यक्ति केवल प्रोत्साहित ही नहीं होता है, बल्कि स्वस्थ स्पर्धा से व्यक्ति की उन्नति भी होती है और उसकी कार्यक्षमता में भी वृद्धि होती है तथा व्यक्ति प्रतिस्पर्धा के माध्यम से समाज में उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। प्रतिस्पर्धा की उपस्थिति में व्यक्ति अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु नवीन उपाय ढूँढता है। सामूहिक स्तर पर प्रतिस्पर्धा लोगों को संगठित करती है। प्रतिस्पर्धा का व्यक्तिगत जीवन के अतिरिक्त सामूहिक जीवन में भी महत्व है। समाज तथा व्यक्ति हेतु प्रतिस्पर्धा तभी लाभकारी होती है जब प्रतिस्पर्धा का स्वरूप स्वस्थ होता है। प्रतिस्पर्धा-समाज में व्यक्ति की स्थिति, व्यक्ति का चरित्र, व्यक्ति के कार्य भी उसकी प्रतिस्पर्धा को प्रभावित करते हैं।

प्रतिस्पर्धा के प्रकार



प्रतिस्पर्धा के रूप–प्रतिस्पर्धा के दो रूप हैं–

(1) वैयक्तिक प्रतिस्पर्धा–यह ऐसे दो व्यक्तियों या समूहों में पायी जाती है जो आपस में परिचित होते हैं।

(2) अवैयक्तिक प्रतिस्पर्धा–यह ऐसे दो व्यक्तियों में पायी जाती है जो आपस में अपरिचित होते हैं।

प्रश्न 15. बालक में प्रतिस्पर्धा, सहयोग एवं संघर्ष की भावना का विकास किस प्रकार होता है? बताइए। **(ग्वालियर 2022)**

उत्तर–प्रतियोगिता (प्रतिस्पर्धा) एवं संघर्ष–प्रतिस्पर्धा वह सामाजिक प्रक्रिया है जो अवैयक्तिक होता है। यह प्रक्रिया सीमित समान उद्देश्यों के लिए होती है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु तब तक प्रयत्न करता है जब तक असफलता का अनुभव नहीं करता है। प्रत्येक समाज

तथा समूह के व्यक्तियों में कुछ–न–कुछ प्रतिस्पर्धा अवश्य पायी जाती है। एक समाज में व्यक्ति चाहे किसी भी जाति, वर्ग या आयु के क्यों न हो उनमें कुछ–न–कुछ प्रतिस्पर्धा अवश्य रहती है। प्रतिस्पर्धा से व्यक्ति केवल प्रोत्साहित ही नहीं होता है, बल्कि स्वस्थ प्रतिस्पर्धा से व्यक्ति की उन्नति भी होती है और उसकी कार्य क्षमता में भी वृद्धि होती है तथा व्यक्ति प्रतिस्पर्धा के माध्यम से समाज में उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। प्रतिस्पर्धा की उपस्थिति में व्यक्ति अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु नवीन उपाय ढूँढ़ता है। सामूहिक स्तर पर प्रतिस्पर्धा लोगों को संगठित करती है। प्रतिस्पर्धा का व्यक्तिगत जीवन के अतिरिक्त सामूहिक जीवन में भी महत्व है। समाज तथा व्यक्ति हेतु प्रतिस्पर्धा तभी लाभकारी होती है जब प्रतिस्पर्धा का स्वरूप स्वस्थ होता है। वर्तमान समय में समाज में लोगों के मूल्य बहुत तेजी से बदल रहे हैं। नैतिक स्तर में गिरावट आ रहा है। ऐसी स्थिति में प्रतिस्पर्धा का स्वरूप भी अवश्य अस्वस्थ हो गया है। आज प्रतिस्पर्धा में भी लोग बुरे तरीके अपनाते हैं तथा हिंसात्मक व्यवहार करते हैं। प्रतिस्पर्धा का विकास सांस्कृतिक भिन्नता के कारण जिसे सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा कहा जाता है। आर्थिक रूप से प्रतिस्पर्धा का विकास आर्थिक वस्तुओं की प्राप्ति हेतु किया जाता है।

संघर्ष के आशय–संघर्ष वह पारस्परिक एवं सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति अथवा समूह किसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए विरोधी कार्य करते हैं। वे विरोधी कार्यों में समाज को नुकसान भी पहुँचा सकते हैं, तोड़–फोड़ कर सकते हैं।

संघर्ष की भावना का विकास–आज समाज में तेजी से बढ़ती जनसंख्या के कारण समस्त संसाधन कम पड़ते जा रहे हैं महंगाई बढ़ती जा रही है तथा लोगों का नैतिक स्तर दिन–प्रतिदिन घटता जा रहा है। इन परिस्थितियों में सफलता एवं धनोपार्जन हेतु लोग गलत तरीके अपना रहे हैं। परिणामस्वरूप प्रतिदिन विभिन्न प्रकार के संघर्ष होते रहते हैं। संघर्ष केवल राजनीतिक दलों के बीच ही नहीं होता है, बल्कि बालकों, खिलाड़ियों, जाति, धर्मों के बीच भी होता है। नैतिक मूल्यों के पतन के कारण आज पारिवारिक संघर्ष भी आम बात बन गयी है। संघर्ष के कारण लोगों के आपसी संबंध खराब हो जा रहे हैं तथा समाज में विघटन आरंभ हो जाता है। संघर्ष के कारण सम्पत्ति की बर्बादी होती है तथा कभी–कभी व्यक्ति का जीवन भी दाँव पर लग जाता है। इससे सामाजिक विकास अवरुद्ध हो जाता है।

सहयोग से आशय–सहयोग दो या दो से अधिक व्यक्तियों द्वारा समान रूप से किसी इच्छित काम को पूरा करने अथवा किसी निश्चित लक्ष्य तक पहुँचने के सार्वजनिक एवं निरन्तर प्रयास को कहा जाता है।

सहयोग का विकास–बच्चों के समाजीकरण में सहयोग की भावना का विकास होता है। समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए सम्मिलित रूप से दो या अधिक बालकों का प्रयास सहयोग कहलाता है। दो तीन वर्ष का बालक झगड़ालू होता है। अतः उसमें सहयोग की भावना नहीं होता है। तीसरे और चौथे वर्ष में बालक में सहयोग दिखाई देने लगता है। सहयोग के प्रथम लक्षण बच्चों में सामूहिक खेल में दिखाई देने लगता है। यह देखा गया है कि एक बच्चा दूसरे बच्चों के साथ जितना ही अधिक रहता है उसमें सहयोग की भावना उतनी ही जल्दी उत्पन्न होती है। लगभग छः या सात वर्ष का बच्चा सहयोग का अर्थ थोड़ा–थोड़ा समझने लगता है। जिन परिवारों में बच्चों के लालन–पालन में प्रभुत्वशाली विधियाँ अपनायी जाती हैं, वहाँ बच्चे अक्सर निषेधात्मक व्यवहार अपना लेते है और वे असहयोगी व्यवहार करने लगते हैं। सहयोग करना अधिकतर बच्चे सामूहिक खेलों के माध्यम से और अपने घरेलू परिवेश से सीखते हैं और इसी सहयोगात्मक व्यवहार का प्रयोग वे घर के बाहर भी करते हैं।

प्रश्न 16. सामाजिक विकास में सहयोग (Co-operation) का महत्व एवं विशेषता का वर्णन कीजिए।

उत्तर—समाज का ताना–बाना एक साधारण से तथ्य के इर्द–गिर्द घूमता है और वो यह है कि कोई व्यक्ति अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं नहीं कर सकता, उसे किसी–न–किसी अन्य व्यक्ति की सहायता लेनी ही पड़ती है। अर्थात् समाज में, व्यक्तियों का एक–दूसरे के साथ आपस में एक सामंजस्य एवं सहयोग का संबंध होता है।

सहयोग शब्द का सबसे सरल अर्थ है एक–दूसरे की हर संभव सहायता करना। सहयोग का किशोरों के सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि सहयोग के कारण ही समाज में व्यक्ति समायोजन कर पाते हैं और एक जीव से सामाजिक प्राणी में परिवर्तित हो पाते हैं।

सहयोग के लिए सहकारिता या सहकार्य आदि शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है। सहयोग का अर्थ दो या दो–से–अधिक व्यक्तियों का साथ मिलकर कार्य करना है। सहयोग सामाजिक जीवन का एक मूल–भूत आधार है। इसके अभाव में सामूहिक जीवन, समाज व राष्ट्र की कल्पना ही नहीं की जा सकती है।

ग्रीन के अनुसार—"सहयोग दो या दो–से–अधिक व्यक्तियों द्वारा किसी कार्य को करने या किन्हीं समान उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए किया जाने वाला निरन्तर एवं सामूहिक प्रयत्न है।"

जी. एस. लेस्ली के अनुसार—"वैयक्तिक या सामूहिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए व्यक्तियों या समूहों के द्वारा किए गए साझा प्रयास को सहयोग कहा जाता है।"

किंग्सले डेविस के अनुसार—"सामाजिक अन्तः क्रिया के उस रूप को सहयोग कहते हैं जिसमें दो या–दो–से अधिक व्यक्ति एक सामान्य ध्येय की प्राप्ति के लिए साथ–साथ कार्य करते हैं।"

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि सहयोग एक लम्बी एवं अनवरत् प्रक्रिया है जिसके माध्यम से किसी उद्देश्य की प्राप्ति होती है। सहयोग के अन्तर्गत दीर्घकालीन पारस्परिक निर्भरता का होना आवश्यक है।

सहयोग का महत्व एवं विशेषताएँ—सहयोग एक सतत् प्रक्रिया है। इनकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. सामाजिक अन्तः क्रिया का होना—प्रत्येक सहयोग के लिए व्यक्तियों के मध्य सामाजिक अंतः क्रिया का होना अनिवार्य है।

2. मान्यता प्राप्त प्रक्रिया—सहयोग एक सामाजिक प्रक्रिया है जो व्यक्तियों या समूहों को एक मान्यता प्राप्त दिशा में कार्य करने के लिए प्रेरित करती है समाज में सहयोगी तथा असहयोगी दो ही प्रकार के सम्बन्धों को सम्मिलित किया जाता है। समाज में सामाजिक जीवन को संगठित करने का कार्य सहयोग के माध्यम से ही संभव है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सहयोग एक मान्यता प्राप्त प्रक्रिया है।

3. सहयोग एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है—विश्व के प्रत्येक समाज में सहयोग अवश्य पाया जाता है। जिस समाज में संघर्ष एवं तनाव की स्थिति बनी होती है वहाँ भी सहयोग पाया जाता है। सहयोग के अभाव में समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। अतः यह कहा जा सकता है कि सहयोग एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है।

4. सामान्य लक्ष्य का होना—जब सहयोग करने वाले व्यक्ति या समूह के सामने एक स्पष्ट लक्ष्य निर्धारित होता है तभी सहयोग की प्रक्रिया प्रभावशाली बन सकती है। ये लक्ष्य ही व्यक्तियों को प्रत्येक स्थिति में एक–दूसरे से बाँधे रखने की प्रेरणा देता है। सहयोग की प्रक्रिया तभी दुर्बल होती है जब या तो यह लक्ष्य प्राप्त हो जाता है या इस लक्ष्य के प्रति व्यक्ति उदासीन हो जाते हैं।

5. सामूहिक प्रक्रिया—सभी को किसी–न–किसी के सहयोग से ही शक्ति मिलती है। सामूहिक प्रयास के माध्यम से बड़े–बड़े लक्ष्यों एवं कार्यों को आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति चाहे वह कितना निपुण एवं बलवान क्यों न हो सहयोग के अभाव में लक्ष्य प्राप्ति नहीं कर सकता।

6. निरन्तरता—सहयोग एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है और यही निरन्तरता सहयोग की एक प्रमुख विशेषता भी है। समाज में किसी–न–किसी रूप में सहयोग की प्रक्रिया चलती रहती है। प्रत्येक सामाजिक संस्था का अंतिम उद्देश्य सहयोग की प्रक्रिया की निरन्तरता को बनाये रखना है।

प्रश्न 17. "सहयोग की प्रक्रिया सामाजिक जीवन के संगठन और विकास का आधार है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए। (छतरपुर 2018)

उत्तर—सहयोग की प्रक्रिया सामाजिक जीवन के संगठन और विकास का आधार है। यद्यपि यह पूर्णतया सत्य है कि समाज में प्रत्येक अवसर पर सहयोग नहीं लिया जा सकता है अपितु कभी–कभी कुछ अवसरों पर संघर्ष में भी वृद्धि हो सकती है लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि संघर्ष मात्र अस्थायी तत्व है और सहयोग स्थायी तत्व है। संघर्ष कुछ समय के लिए सामाजिक संगठन में पड़ने वाली बाधा है, जबकि सहयोग सामाजिक संगठन का आधार है। सामाजिक जीवन में सहयोग का महत्व निम्नलिखित क्षेत्रों में सर्वाधिक हैं–

1. सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रगति के क्षेत्र में सहयोग की प्रक्रिया का सर्वाधिक महत्व है—मानव संस्कृति के आरम्भिक युग से ही विभिन्न समूह एक–दूसरे से सहयोग करके संस्कृति को इस स्तर पर पहुँचा सके हैं। कोई भी आविष्कार किसी एक व्यक्ति की ही सम्पत्ति नहीं होती है अपितु हजारों व्यक्तियों के सहयोग से ही वे उपयोगी रूप धारण कर पाते हैं।

सहयोग की भावना से ही व्यक्तिवाद के स्थान पर व्यक्तियों में सामूहिक कल्याण की भावना उत्पन्न होती है यही स्थिति सामाजिक प्रगति को संभव बनाती है।

2. सहयोग सामूहिकता का आधार है—सहयोग के महत्व को स्पष्ट करते हुए **मैरिल एवं एलड्रिज** कहते हैं, "सहयोग एक सामान्य उद्देश्य के लिए व्यक्तियों को साथ–साथ काम करने की प्रेरणा प्रदान करता है, किसी वैयक्तिक उद्देश्य के लिए अलग–अलग रहकर कार्य करने की नहीं।" सामान्य उद्देश्य के आधार पर साथ–साथ कार्य करना सामूहिकता की भावना में वृद्धि करना है। इसी से समाज को अधिक स्थायित्व प्राप्त होता है। समान मनोवृत्तियों, समान आकांक्षाओं तथा समान समस्याओं का जन्म सामूहिक जीवन के फलस्वरूप होता है। ये परिस्थितियाँ ही समाज को अधिक संगठित बनाने एवं उसे संघर्ष से बचाने के लिए अति महत्वपूर्ण है।

3. सामाजिक एकता सहयोग पर ही निर्भर होती है—यह सभी जानते हैं कि कोई भी समाज अपने आप में पूर्ण नहीं होता है। इसी कारण समाज में पूर्ण एकता भी नहीं पायी जाती है। इसका कारण समाज के प्रत्येक सदस्यों में कुछ मतभेदों का पाया जाना है। सहयोग की प्रक्रिया पारस्परिक मतभेद को मानसिक रूप से गौण स्थान प्रदान कर एकता को प्रोत्साहन देती है एवं सभी व्यक्तियों को एक–दूसरे के कार्यों में भाग लेने की प्रेरणा देती है। सहयोग के कारण ही सामाजिक व्यवस्था के सभी अंग एक–दूसरे से परस्पर संबंधित होते हैं। सत्य तो यह है कि सहयोग प्रत्येक स्तर पर (प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष) विद्यमान रहता है।

सहयोग के कारण ही व्यक्ति अपने स्वार्थों को प्रतिबंधित कर संयुक्त रूप से कार्य करने का प्रयास करता है, उसकी यह प्रकृति सहयोग को स्थायी और संघर्ष को अस्थायी बनाने में सहायक होती है। इस प्रकार "सहयोग की प्रक्रिया सामाजिक जीवन के संगठन और विकास का आधार है।" अतः ये कथन को सिद्ध करता है।

प्रश्न 18. प्रतियोगिता एवं अन्तर्द्वन्द्व (Competition and Conflict) में अंतर स्पष्ट कीजिए। (ग्वालियर 2022)

उत्तर–प्रतियोगिता एवं अन्तर्द्वन्द्व में अंतर–

क्र.	प्रतियोगिता	अन्तर्द्वन्द्व
1.	प्रतियोगिता एक अनवरत / अविराम प्रक्रिया है। यह कभी खत्म नहीं होती है।	यह असतत् प्रक्रिया है और एक स्तर पर आने के बाद इसका अन्त हो जाता है।
2.	प्रतियोगिता एक अचेतन प्रक्रिया है।	अन्तर्द्वन्द्व एक चेतन प्रक्रिया है अर्थात् व्यक्ति को किन बातों का द्वन्द्व है, ज्ञात रहता है।
3.	प्रतियोगिता अधिकांशतः अवैयक्तिक होती है।	जबकि अन्तर्द्वन्द्व एक व्यक्तिगत प्रक्रिया है।
4.	प्रतियोगिता में अहिंसात्मक उपायों का सहारा लिया जा सकता है।	अन्तर्द्वन्द्व में हिंसात्मक तरीके को भी अपनाया जा सकता है।
5.	प्रतियोगिता कुछ नियमों के अनुसार चलती है।	जबकि अन्तर्द्वन्द्व में किसी प्रकार का कोई नियम नहीं होता है।
6.	प्रतियोगिता में अपने लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित होता है।	अन्तर्द्वन्द्व में विरोधी को हानि पहुँचाने या उसे नष्ट करके लक्ष्य प्राप्ति की लालसा होती है।
7.	प्रतियोगिता में किसी का नुकसान नहीं होता बल्कि दोनों पक्षों का फायदा होता है।	जबकि अन्तर्द्वन्द्व में दोनों पक्षों को नुकसान होता है।
8.	प्रतियोगिता श्रम के महत्व पर जोर देती है।	जबकि अन्तर्द्वन्द्व श्रम को हतोत्साहित करता है।
9.	प्रतियोगिता एक वांछनीय प्रक्रिया है।	अन्तर्द्वन्द्व मुख्यतः एक अवांछनीय प्रक्रिया है।

प्रश्न 19. संघर्ष से आप क्या समझते हैं ? संघर्ष के कारण तथा परिणामों का वर्णन कीजिए।

उत्तर–संघर्ष– यह एक प्रकार की चेतन प्रक्रिया है। इसमें विरोधियों को इस बात का पूरा ज्ञान रहता है कि अपने विरोधी को किस प्रकार हानि पहुँचाकर अपने उद्देश्य की प्राप्ति की जा सकती है।

पार्क व बर्गेस के अनुसार–"संघर्ष तीव्र संवेगों तथा शक्तिशाली उत्तेजना को जागृत करता है तथा ध्यान और प्रयत्न को अत्यधिक एकाग्रचित करता है।" संघर्ष एक वैयक्तिक तथा अनिरन्तर प्रक्रिया है। संघर्ष सदैव नहीं चलता है और न एक गति से चलता है।

गिलिन एवं गिलिन के अनुसार–"संघर्ष सामाजिक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति या समूह अपने विरोधी के प्रति प्रत्यक्ष रूप से हिंसात्मक तरीके को अपनाकर या इस प्रकार की धमकी देकर अपने उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं।"

ग्रीन के अनुसार–"संघर्ष वह प्रयत्न है जो जान–बूझकर किया जाता है, इसमें व्यक्ति दूसरें या व्यक्तियों की इच्छाओं का विरोध या प्रतिकार करते हैं।"

मैकाइवर व पेज के अनुसार–"सामाजिक संघर्ष में वे सब क्रियाएँ सम्मिलित हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक–दूसरे के विरूद्ध कार्य करते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कह सकते हैं कि संघर्ष वह पारस्परिक प्रकिया है, जिसमें व्यक्ति दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों का किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विरोधी कार्य करते हैं और इस पारस्परिक प्रक्रिया में व्यक्ति कभी–कभी गुत्थमगुत्था, मारपीट, गाली–गलौज और यहाँ तक की हिंसात्मक उपायों से भी काम करते हैं। यह व्यवहार दो या दो–से–अधिक व्यक्तियों या समूहों के बीच होता है। जब प्रतिस्पर्धा अनियंत्रित होती है तब प्रतिस्पर्धा संघर्ष का रूप धारण कर सकती है।

संघर्ष के कारण तथा परिणाम–संघर्ष के सामान्यतया निम्न कारण हैं–

(1) सुविधाओं का अभाव–आज सुविधाओं के अभाव के कारण भी लगातार संघर्ष की उत्पत्ति हो रही है। अपने देश की बढ़ती जनसंख्या के कारण भी सुविधाओं का अभाव दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इससे समाज में कानून तथा व्यवस्था का स्तर गिर रहा है। आधुनिक ढंग से पानी, बिजली तथा राशन जैसी बुनियादी चीजों के लिए भी संघर्ष दिखाई पड़ते हैं।

(2) सामाजिक परिवर्तन–संघर्ष का एक महत्वपूर्ण कारण सामाजिक परिवर्तन है। सामाजिक परिवर्तनों के साथ–साथ बालक एवं किशोर जब समायोजन करने में असमर्थ रहते हैं तब उनके पृथक् समूह बन जाते हैं। इन भिन्न–भिन्न समूहों के भिन्न–भिन्न मूल्यों में रहन–सहन के ढंग तथा खान–पान के अलग ढंग विकसित होते हैं। इस प्रकार की भिन्नता समाज को संगठित करने के स्थान पर विघटित करने का कार्य अधिक करती है।

(3) अहम् भाव–सामाजिक मूल्यों का ह्रास होने के कारण व्यक्तियों में 'हम' की भावना खत्म होती जा रही है और 'मैं' की भावना प्रबल होती जा रही है, जो अपने साथ द्वेष, संघर्ष, असमायोजन आदि को बढ़ावा दे रहा है। व्यक्ति में अहम् की भावना बढ़ती जा रही है, जिस कारण संघर्ष भी बढ़ता जा रहा है।

(4) सांस्कृतिक भिन्नता–दो या दो–से–अधिक संस्कृतियों की प्रथाओं, व्यवहार प्रतिमानों और मूल्यों में अन्तर पाया जाता है। उनके खान–पान, रहन–सहन का ढंग एवं जीवन जीने का तरीका भी भिन्न होता है। यह सांस्कृतिक अन्तर लोगों में तनाव तथा संघर्ष को जन्म देता है।

(5) सही शिक्षा का अभाव–शिक्षा व्यक्ति में संस्कार को जन्म देता है तथा मूल्यों का विकास करता है जिससे व्यक्ति समाज के साथ समायोजित होकर जीना सीखता है। शिक्षा के अभाव में व्यक्ति में मूल्यों एवं संस्कारों का अभाव होता है, फलस्वरूप संघर्ष को बल मिलता है।

संघर्ष एक नकारात्मक क्रिया है, जिससे व्यक्ति की सकारात्मक ऊर्जा का नुकसान होता है। संघर्ष तनाव को भी जन्म देता है। शिक्षक विद्यार्थियों को प्रोत्साहन और नैतिक शिक्षा के ज्ञान द्वारा संघर्ष के भाव से मुक्त कर सकता है।

प्रश्न 20. द्वन्द्व (Conflict) को परिभाषित करते हुए उनके प्रकारों का वर्णन कीजिए।
(रीवा 2022)

उत्तर– द्वन्द का सामान्य अर्थ है 'संघर्ष'। जब व्यक्ति के मन–मस्तिष्क में किन्हीं दो विरोधी लक्ष्यों या विचारों के बीच द्वन्द्व चलता है तो व्यक्ति की इस मानसिक स्थिति को मानसिक द्वन्द्व, मानसिक संघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व (Conflict) कहते हैं। अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति में व्यक्ति में संवेगात्मक तनाव उत्पन्न हो जाता है तथा वह कुछ भी निर्णय नहीं ले पाता है, जबकि संघर्ष के कारण ही व्यक्तित्व का विकास होता है। उसमें गतिशीलता आती है। यही कारण है कि आज प्रत्येक व्यक्ति किसी–न–किसी रूप में संघर्ष का शिकार हो रहा है। संघर्ष के माध्यम से ही व्यक्ति में अहम् (Ego) एवं परम् अहम् (Super ego) या वास्तविकता (Reality) तथा नैतिक आदर्शों (Moral ideals) आदि से संबंधित गुणों का जन्म एवं विकास होता है। संघर्ष के माध्यम से ही यह व्यक्ति अच्छा है या बुरा का अनुभव करता है।

दूसरे शब्दों में, दो या दो से अधिक (परस्पर विरोधी प्रकृति की) इच्छाएँ या आवश्यकताएँ व्यक्ति में उत्पन्न हो तथा एक ही पूर्ति दूसरे की पूर्ति में बाधा उत्पन्न करें तो ऐसी अवस्था को **अन्तर्द्वन्द्व** कहते हैं। मानव जीवन में आरम्भ से ही अन्तर्द्वन्द्व की परिस्थितियाँ जन्म लेती रहती है। एक शिशु भी अन्तर्द्वन्द्व से अछूता नहीं रहता जब वह यह अनुभव करता है कि माँ उसे खेलने देगी या नहीं, दूध पिलाएगी या नहीं, खिलौना खेलने को देगी या नहीं अथवा उससे प्रेम करेगी या नहीं। जब पिता बालक को बाहर खेलने से मना करते हैं तो बालक वह अनुभव करता है कि वह बालक खेलने जाए या नहीं, क्या करे और क्या न करे की स्थिति अन्तर्द्वन्द्व कहलाती है।

परिभाषाएँ—अलग–अलग मनोवैज्ञानिकों ने इसकी अलग–अलग परिभाषाएँ दी हैं—

फ्रॉयड के अनुसार—"जीवन अन्तर्द्वन्द्वों की शृंखला से मिलकर बना है।" यही कारण है कि फ्रॉयड ने सभी शक्तियों का आधारभूत स्रोत अंतर्द्वन्द्व को ही माना है।

ब्राउन के अनुसार—"मनोविश्लेषकों ने अन्तर्द्वन्द्व की विशेषता इस प्रकार दी है—अन्तर्द्वन्द्व वह अवस्था है, जब दो इच्छाएँ इतनी विरोधी होती हैं कि एक–दूसरे की तृप्ति में बाधा उत्पन्न कर सकती है।"

लेजर्स के अनुसार—"अन्तर्द्वन्द्व उस समय उत्पन्न होता है जब एक व्यक्ति को दो असंगत या पारस्परिक रूप से विरोधी आवश्यकताओं की पूर्ति को प्रायः एक ही समय पर पूरा करना होता है अर्थात् जब विवश होकर एक आवश्यकता की पूर्ति करने पर, दूसरी आवश्यकता की पूर्ति कर पाना असंभव हो जाता हैं।"

डगलस एवं हॉलैण्ड के अनुसार—"मानसिक द्वन्द्व से तात्पर्य उस कष्टदायक एवं संवेगात्मक दशा से है जो विरोधी एवं विपरीत इच्छाओं के बीच तनाव से उत्पन्न होती है।"

बोरिंग लैगफील्ड एवं वेल्ड के अनुसार—"अन्तर्द्वन्द्व एक ऐसी अवस्था है जिसमें दो या दो से अधिक विरोधी प्रेरणाएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिसका एक साथ तृप्ति करना संभव नहीं है।"

उपरोक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर मुख्यतः तीन बातें सामने आती हैं—

1. अन्तर्द्वन्द्व एक तनावपूर्ण स्थिति है।
2. अन्तर्द्वन्द्व का जन्म तब होता है जब दो या दो से अधिक इच्छाएँ एक साथ ही उत्पन्न हों।
3. ये इच्छाएँ एक–दूसरे की विरोधी होती हैं। विरोधात्मक प्रवृत्ति होने के कारण दोनों इच्छाओं की दृष्टि एक साथ संभव नहीं है।

अन्तर्द्वन्द्व में विफलता की आशंका तथा व्यक्ति की निश्चयहीनता विद्यमान रहती हैं। **फ्राफ** का कहना है कि "शुरुआत में बालक पूर्णतः अपनी माँ पर आश्रित रहता है तथा निष्क्रिय अवस्था में पड़ा रहता है लेकिन धीरे–धीरे वह अन्य सदस्यों के ऊपर आश्रित रहने का प्रयत्न करता है। वहाँ भी उसे विफलता मिलती है तो वह परिवार के बाहर के लोगों से संपर्क बढ़ाता है। इस प्रकार विभिन्न संघर्षों के बीच उसके व्यक्तित्व का विकास होता है।" अतः अन्तर्द्वन्द्व ही व्यक्तित्व के विकास का आधार है। **उदाहरण के लिए**—एक लड़की अपनी पढ़ाई में काफी मेहनत करती है। इसी बीच उसके पिता जी की मृत्यु हो जाती है। अब उसकी इच्छा पढ़ने के स्थान पर यह होती है कि वह पढ़ाई छोड़कर अपने घर की जिम्मेदारी उठाए। दूसरी तरफ उसे लगता है कि वह पढ़ाई न छोड़े उसे निरन्तर यथावत् रखे लेकिन यदि वह घर में नौकरी न करके सहयोग न करे तो समाज के लोग क्या कहेंगे, माँ की क्या राय होगी। इस प्रकार यह लड़की दो इच्छाओं के बीच फँस जाती है। वह इस अवस्था में हो जाती है कि क्या करे व क्या न करे ऐसी स्थिति को अन्तर्द्वन्द्व कहते हैं।

अन्तर्द्वन्द्व के सामान्य स्रोत—हमारी संस्कृति हमारे सम्मुख अनेक प्रकार के अन्तर्द्वन्द्वों को प्रस्तुत करती है। सर्वप्रथम व्यक्तियों के सम्मुख कुछ कम व निश्चित उद्देश्य होते थे तथा व्यक्ति उनकी पूर्ति करने के साधनों को भी जानता था। माता–पिता अपने बच्चों पर विश्वास करते थे तथा प्रत्यक्ष रूप से अपने विश्वास का हस्तान्तरण युवा पीढ़ी को कर देते थे। इस प्रकार यहाँ किसी भी प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

आधुनिक समाज बहुत विकसित व जटिल हो गया है। आज अमेरिका जैसे देश में कुछ प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व समस्या के रूप में विकसित है। जैविक प्रेरकों के मध्य कम ही अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं, परंतु प्रायः जैविक प्रेरकों और संवेगों या सामाजिक प्रेरकों के मध्य अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। लिंग (Sex) का अन्य सामाजिक प्रेरकों के मध्य अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त अन्तर्द्वन्द्व के अन्य सामान्य स्रोत हैं। अंतः वैयक्तिक संबंध प्रेरकों की शक्ति या प्रभाव, लिंग का समूह के साथ संबंध का होना आदि।

अन्तर्द्वन्द्वों का वर्गीकरण—अन्तर्द्वन्द्वों को उनके स्रोतों व चेतन अथवा अचेतन रूपों के आधार पर निम्न रूप से वर्गीकृत किया जा सकता है—

I. स्रोतों के आधार पर वर्गीकरण—(1) आन्तरिक आवश्यकताओं एवं बाह्य प्रतिरोधों में अन्तर्द्वन्द्व।
(2) दो बाह्य आग्रहों के परस्पर विरोध में अन्तर्द्वन्द्व।
(3) दो आन्तरिक आवश्यकताओं के परस्पर विरोध से अन्तर्द्वन्द्व।

II. मुख्य रूप से चेतन स्तरीय अन्तर्द्वन्द्व—
(1) उपागम–उपागम अन्तर्द्वन्द्व (Approach-Approach Conflict)।
(2) परिहार–परिहार अन्तर्द्वन्द्व (Avoidance-Avoidance Conflict)।
(3) उपागम–परिहार अन्तर्द्वन्द्व (Approach-Avoidance Conflict)।
(4) द्विस्तरीय उपागम–परिहार अन्तर्द्वन्द्व (Two-level Approach-Avoidance Conflict)।

III. मुख्य रूप से अचेतन स्तरीय अन्तर्द्वन्द्व—
(1) इदम् तथा अहम् के अन्तर्द्वन्द्व।
(2) अहम् तथा पराहम् के अन्तर्द्वन्द्व।
(3) इदम् तथा पराहम् के अन्तर्द्वन्द्व।

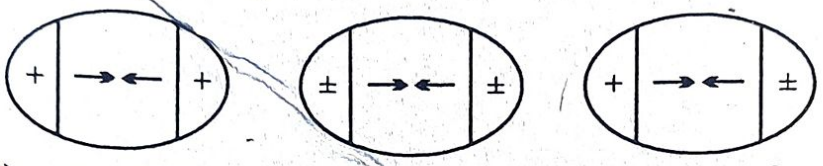
स्रोतों के आधार पर अन्तर्द्वन्द्व का वर्गीकरण—स्रोतों के आधार पर अन्तर्द्वन्द्वों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

(1) आन्तरिक आवश्यकताओं तथा बाह्य प्रतिरोधों में टकराव से उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व—व्यक्ति अपनी विभिन्न जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति अपने बाह्य पर्यावरण से ही करता है, लेकिन बाह्य पर्यावरण में भी कई तरह के प्रतिरोध हमेशा उपस्थित रहते हैं। इनमें भौतिक अवरोध, सामाजिक परंपराएँ तथा सांस्कृतिक मूल्य होते हैं तथा वे व्यक्ति की पूर्ति होने में अवरोध का कार्य करते हैं। **उदाहरणार्थ**—परिवार में जब एक बड़ा बालक किसी दूसरे छोटे बालक से खिलौना छीन लेता है तब छोटे बालक को कभी–कभी एकदम क्रोध आ जाता है तथा वह बड़े बालक से खिलौना न मिलने पर गाली–गलौज करने लगता है तभी घर के बड़े व्यक्ति, माता–पिता या अन्य सदस्य उसे ऐसा न करने को कहते हैं। इस प्रकार यहाँ बालक के लिए बाह्य प्रतिरोधों के कारण आन्तरिक आवेगों की पूर्ति न होने पर अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न होता है। बालक के शुरुआती जीवन में ऐसी अनेक परिस्थितियाँ आती हैं, परन्तु धीरे–धीरे समय बीतने के साथ–साथ उसका रूप समाजीकृत होता है तथा फिर उसमें प्रायः ऐसा अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न नहीं हो पाता।

(2) दो बाह्य आग्रहों के परस्पर विरोध से उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व—समाज कभी–कभी व्यक्ति के सामने ऐसी परस्पर भूमिका प्रस्तुत करता है, जो विरोधी होती हैं ताकि व्यक्ति को उसे मानने के लिए बाध्य करती हैं। **उदाहरण के लिए**—समाज के नैतिक व धार्मिक उपदेश व्यक्ति को सभी धर्म पर राष्ट्र के बीच उपदेश देते हैं। वहीं दूसरी ओर इसके विपरीत उसे अपने राष्ट्र, धर्म, समुदाय व समूह को ही सर्वश्रेष्ठ मानने का आग्रह करते हैं। परस्पर रूप से ऐसी सामाजिक भूमिकाओं में व्यक्ति के भीतर अन्तर्द्वन्द्व होना स्वाभाविक है। इस प्रकार समाज व्यक्तियों को एक ओर सहयोग तथा दूसरी ओर विरोध (प्रतिस्पर्धा) के परस्पर विरोधी आग्रहों से उसमें अन्तर्द्वन्द्व की स्थितियाँ उत्पन्न करता है।

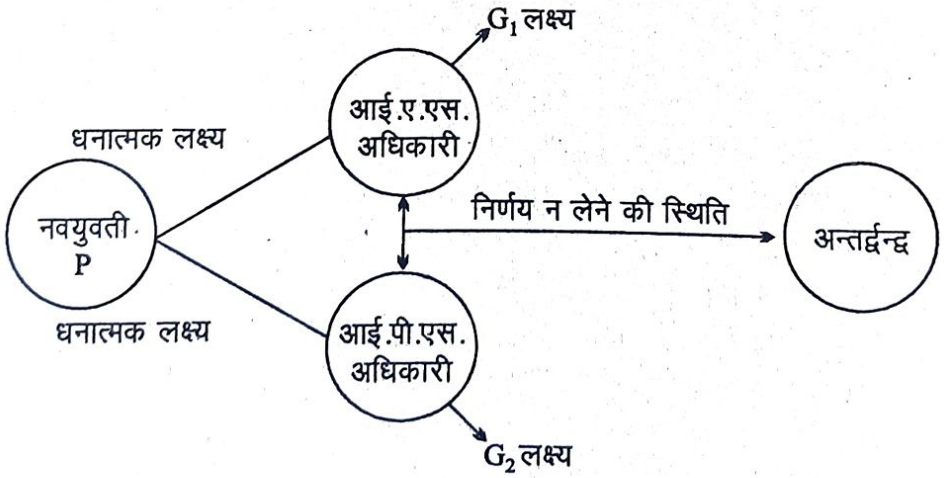
(3) दो आन्तरिक आवश्यकताओं के परस्पर विरोध में अन्तर्द्वन्द्व—जब कभी व्यक्ति अपनी ही आन्तरिक आवश्यकताओं के अन्तर्द्वन्द्व के जाल में फँस जाता है, **उदाहरण के लिए**—यदि कोई बालक परीक्षा में उच्च श्रेणी में अंक प्राप्त करना चाहता है तो वहीं वह खेलकूद में भी आगे बढ़ना चाहता है, ऐसी स्थिति में एक सामान्य विद्यार्थी के लिए दो परस्पर रूप में विरोधी आवश्यकताओं से तीव्र अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न होता है, क्योंकि यदि वह परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त करने के लिए पढ़ना चाहता है तो वह खेलकूद में अधिक समय नहीं दे पाता है, यदि वह अधिक समय खेल में देता है तो वह परीक्षा में अच्छे अंक नहीं प्राप्त कर पाता है।

मुख्य रूप से चेतन स्तरीय अन्तर्द्वन्द्व–कर्ट लेविन ने सर्वप्रथम मनोविज्ञान के अंतर्गत आकारीय चित्रों (Topological diagram) का प्रयोग किया। इन चित्रों के माध्यम से अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट व पूर्ण रूप से समझाया जा सकता है। व्यक्ति में किसी उद्देश्य को प्राप्त करने की इच्छा या प्रेरणा जाग्रत होती है जिसके कारण वह भिन्न प्रकार की क्रियाएँ करता है, लेकिन सफलता के साथ उस उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर पाता, क्योंकि अनेक प्रकार के रोधक (Barriers) उस उद्देश्य तक पहुँचने में बाधा का कार्य करते है। यह बाधक धनात्मक (Positive) व ऋणात्मक (Negative) दोनों प्रकार के हो सकते हैं। इसके निम्न तीन रूप है–



(1) उपागम–उपागम अन्तर्द्वन्द्व (2) परिहार–परिहार अन्तर्द्वन्द्व (3) उपागम–परिहार अन्तर्द्वन्द्व

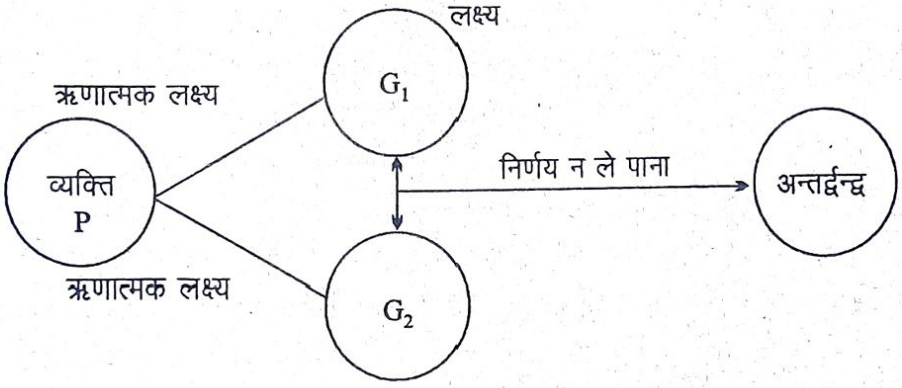
(1) उपागम–उपागम अन्तर्द्वन्द्व–इस प्रकार के संघर्ष में व्यक्ति के सम्मुख दो इच्छाएँ होती हैं तथा दोनों ही व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित करती हैं, क्योंकि दोनों ही ओर धनात्मक लक्ष्य होते हैं। यदि व्यक्ति इनमें से एक इच्छा को प्राप्त करता है तो दूसरी अधूरी रह जाएगी तथा उसे प्राप्त न करने का नैराश्य उसमें उत्पन्न हो जाएगा। जैसे–दो समान रूप से आकर्षक चलचित्रों से एक की चयन की समस्या। इस प्रकार के संघर्ष में **टप्स** का प्रयोग किया जा सकता है। फलतः व्यक्ति थोड़ा–सा अपने जीवन स्पेश (Life Space) में परिवर्तन करके इस प्रकार के संघर्ष से बच सकता है। यह भी संभव है कि दोनों इच्छाओं में जिसके सदिश अधिक शक्तिशाली होंगे उसी तरफ व्यक्ति बढ़ने लगता है। **उदाहरण के लिए,** एक लड़की को वर चुनाव में एक आई.ए.एस. अधिकारी तथा दूसरी तरफ दूसरा व्यक्ति आई.पी.एस. अधिकारी चुनने के दो ऐसे उत्तम प्रस्ताव विचाराधीन होते हैं जो कि सब दृष्टियों से एकदम आकर्षक होते हैं, उस समय उसकी मानसिक उलझन यह होती है कि वह किसे स्वीकार करे तथा किसे अस्वीकार। उसके मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को निम्न आरेख द्वारा समझा जा सकता है।



व्यावहारिक जीवन में अनेक ऐसे अवसर आते हैं, जहाँ कि व्यक्ति को दो समान रूप के आकर्षक लक्ष्यों में से केवल एक का ही चयन करना है। वस्तुतः सामान्य व्यक्ति अपने अन्तर्द्वन्द्व के संबंध में गुण–दोषों का मूल्यांकन करके प्रायः अपनी दुविधा से छुटकारा पा जाने में समर्थ रहते हैं, परंतु संवेगात्मक दृष्टि से अपरिपक्व व्यक्ति या न्यूरोटिक व्यक्ति (Neurotic) के लिए ऐसी स्थिति में

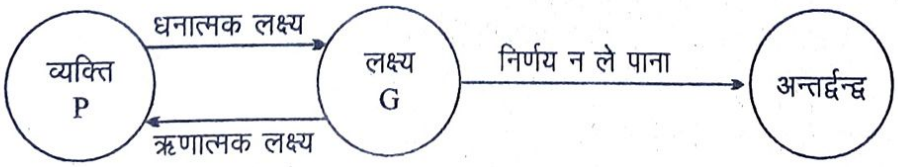
फँसकर उसमें से निकलना मुश्किल हो जाता है। कभी–कभी व्यक्ति की ऐसी दुविधा उसके जीवन भर का संघर्ष हो जाती है।

(2) परिहार–परिहार अन्तर्द्वन्द्व–इस प्रकार के संघर्ष में व्यक्ति के सामने दो ऋणात्मक लक्ष्य उत्पन्न हो जाते हैं। दोनों में ही एक समान विरोधी सदिश (Negative vector) रहते हैं अर्थात् व्यक्ति दोनों ही काम नहीं करना चाहता है, परंतु परिस्थिति ऐसी आ जाती है कि उसे उनमें से एक को चुनना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में अगर व्यक्ति प्रथम लक्ष्य की ओर आकर्षित हो तो उसके सम्मुख भयंकर स्थिति उत्पन्न हो जाती है और यदि दूसरे लक्ष्य की ओर अग्रसर हो तो भी उसे ऐसी ही परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। ऐसी कठिन परिस्थितियाँ दैनिक जीवन में प्रायः आती रहती है। **उदाहरण के लिए**–एक बीमार बालक से माँ कड़वी दवा या उसके स्थान पर इंजेक्शन लेने के लिए पूछती है। बालक इन दोनों कष्टकारक स्थिति में से किसी को भी स्वीकार नहीं करना चाहता है, परन्तु साथ ही साथ वह इस कटुस्थिति से बच नहीं सकता। इस प्रकार का संघर्ष बहुत भयानक होता है तथा व्यक्ति दो कठिनाइयों के बीच फँस जाता है व उनमें से एक को उसे पूर्ण करना होता है जिसे निम्न आरेख द्वारा समझा जा सकता है–

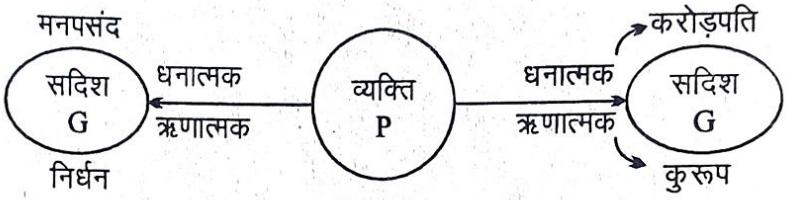


इस प्रकार के व्यक्तियों में इदम् (Id) काफी शक्तिशाली होता है। एक सैनिक युद्ध में अगर लड़े तो मरने का डर और न लड़े तो कायरता की भावना से पीड़ित होता है। यह परिवार–परिवार अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति होगी। इस प्रकार के संघर्ष में यह भी संभव है कि उसकी स्मृति समाप्त हो जाए व पक्षाघात या लकवा (Paralysis) का शिकार हो जाए, क्योंकि इसमें एक प्रकार का परिवर्तन होने की संभावना होती है। इस संघर्ष से बचने का एक असामान्य रास्ता है। यदि इस प्रकार के रोगी को ठीक करना है तो परिस्थिति को सुधारना पड़ेगा। इस प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व बाल अपराधी व अपराधी व्यवहार से अधिक संबंधित होता है। घर से भागने का संबंध क्षेत्र से बाहर जाना यह आन्तरिक प्रक्रिया व्यवस्था में गड़बड़ी का परिचालक है।

(3) उपागम–परिहार अन्तर्द्वन्द्व–अन्तर्द्वन्द्व की इस स्थिति में व्यक्ति के सम्मुख एक ही लक्ष्य होता है जिसे वह प्राप्त भी करना चाहता है व उससे दूर भी भागना चाहता है। इस प्रकार व्यक्ति के अंदर दो विरोधात्मक भाव होते हैं जिसके कारण वह तनाव में आ जाता है। **उदाहरण के लिए**–एक युवक शादी भी करना चाहता है, क्योंकि शादी से उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा आदि में वृद्धि होती है। दूसरी तरफ, वह शादी नहीं भी करना चाहता है, क्योंकि इससे उसकी स्वतंत्रता समाप्त हो जाएगी जिसे निम्न आरेख द्वारा समझा जा सकता है–



(4) द्वि–स्तरीय उपागम–परिहार अन्तर्द्वन्द्व– इस अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति में व्यक्ति ऐसी दुविधा में एक साथ पड़ जाता है कि उसे कुछ निश्चित रूप से करने में संतुष्टि के साथ–साथ असंतुष्टि भी निश्चित रूप में मिलती है। **उदाहरण के लिए**–नवयुवती के पास दो ऐसे युवकों के संबंध में प्रस्ताव आते हैं जिनमें से एक युवक मनपंसद किन्तु निर्धन होता है तथा दूसरा करोड़पति लेकिन कुरूप होता है, इसे निम्न आरेख द्वारा समझा जाता है।



सामान्य व्यक्ति अन्तर्द्वन्द्व की ऐसी स्थिति में अन्य संबंधित परिवेश के तत्वों के संदर्भ में तर्क-वितर्क के द्वारा विवेकपूर्ण निर्णय लेकर ऐसे अन्तर्द्वन्द्व से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है, लेकिन कुछ व्यक्ति ऐसी स्थिति में शीघ्र निर्णय नहीं ले पाते हैं तथा संवेगात्मक भंवर अर्थात् कभी एक तरफ तो कभी दूसरी तरफ में फँस जाते हैं। इससे मुक्त होने के लिए कभी–कभी उन्हें मनोचिकित्सक की सहायता लेनी पड़ती है।

अन्तर्द्वन्द्व के स्वरूप के संबंध में यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि ऊपर जिन अन्तर्द्वन्द्वों का उल्लेख किया गया है, उनका स्वरूप व्यक्ति के चेतन मन से है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपने मानसिक द्वन्द्वात्मक संघर्ष के आधार को साधारणतः समझ सकता है व उससे मुक्त होने के आवश्यक उपाय के विषय में भी सोच सकता है, परन्तु व्यक्ति के अनेक–अन्तर्द्वन्द्वों का स्वरूप अचेतन भी हो जाता है।

प्रश्न 21. संघर्ष के अर्थ, परिभाषाएँ, विशेषताएँ एवं इनके पाँच प्रकार लिखिए।

(जबलपुर 2021; छतरपुर 21; उज्जैन 22)

उत्तर–संघर्ष का अर्थ–Conflict शब्द लैटिन भाषा के Con + Fligo से मिलकर बना है। Con का अर्थ है 'together' तथा Fligo का अर्थ है 'To Strike'। अतः संघर्ष का अर्थ है–'लड़ना, प्रभुत्व के लिए संघर्ष करना, विरोध करना, किसी पर काबू पाना, आदि। **ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी** के अनुसार, "दो वर्गों में या समूहों के बीच सशस्त्र प्रतिरोध, लड़ाई या युद्ध संघर्ष है। विपरीत सिद्धान्तों, कथनों, तर्कों आदि से विरोध भी संघर्ष है तथा विचारों, मतों और पसन्द के बीच असामंजस्यपूर्ण व्यवहार भी संघर्ष है।"

संघर्ष की विभिन्न परिभाषाएँ–

जे.एस. फिचर के अनुसार–"पारस्परिक अंतःक्रिया का वह रूप है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति एक–दूसरे को दूर करने का प्रयत्न करते हैं।"

गिलिन और गिलिन के अनुसार– "संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है जिनमें व्यक्ति अथवा समूह अपने ध्येयों की प्राप्ति का प्रयास विरोध को सीधे हिंसा की धमकी से चुनौती देकर करते हैं।"

मैकाइवर और पेज के अनुसार–"सामाजिक संघर्ष में वे सभी क्रियाकलाप सम्मिलित होते हैं, जिसमें मनुष्य किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक–दूसरे से लड़ते हैं अथवा विवाद करते हैं।"

ए.डब्ल्यू. ग्रीन के अनुसार–"दूसरों या दूसरों की इच्छा के विरोध, प्रतिकार या बलपूर्वक रोकने के विचारपूर्वक प्रयत्न को संघर्ष कहते हैं।"

संघर्ष की विशेषताएँ–(1) संघर्ष किसी–न–किसी मात्रा में सभी समाजों में पाया जाता है। जहाँ भी सामाजिक संबंध होते हैं, वहाँ संघर्ष भी प्रकट होते हैं। चाहे वह व्यक्तियों के बीच हो या समूहों के बीच। इस प्रकार संघर्ष एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है।

(2) संघर्ष की प्रक्रिया हिंसात्मक या अहिंसात्मक दोनों तरह की हो सकती है।

(3) संघर्ष की प्रक्रिया के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों तरह के परिणाम हो सकते हैं। संघर्ष समाज में एकता को भी जन्म देता है और समाज में विरोध भी उत्पन्न करता है।

(4) मानव संबंधों में संघर्ष स्वाभाविक रूप से चलने वाली प्रक्रिया हैं।

(5) संघर्ष एक चेतन प्रक्रिया है न की अचेतन, क्योंकि विरोध करने का विचार परिणामस्वरूप पैदा होता है।

(6) संघर्ष में उद्वेग इतना तीव्र हो जाता है कि विरोधी एक–दूसरे के प्रति बहुत सतर्क हो जाते हैं।

(7) संघर्ष सार्वभौमिक प्रक्रिया है अर्थात् किसी–न–किसी मात्रा में दुनिया के सभी समाजों में पायी जाती है। जहाँ कहीं भी कोई सामाजिक संबंध है, वहाँ संघर्ष प्रकट होगा। चाहे वह व्यक्ति से व्यक्ति के बीच हो अथवा किसी समूह के विरुद्ध समूह के रूप में हो।

(8) संघर्ष में विरोधियों को हानि पहुँचाकर भी अपने उद्देश्य को प्राप्त किया जाता है।

(9) संघर्ष में अधिक शक्ति और परिश्रम की आवश्यकता होती है जो व्यक्ति में सदैव नहीं पाई जाती है।

संघर्ष के प्रकार–मैकाइवर और **पेज** ने संघर्ष के दो प्रकार बताएँ हैं जो इस प्रकार हैं–

(1) प्रत्यक्ष संघर्ष–जब दो या दो से अधिक व्यक्ति अथवा समूह एक दूसरे के विरुद्ध आमने–सामने होकर संघर्ष करते हैं तब प्रत्यक्ष संघर्ष कहलाता है। प्रत्येक संघर्ष के तरीके, वाद–विवाद, वैचारिक मतभेद, मारपीट आदि रूप में प्रकट होते हैं।

(2) अप्रत्यक्ष संघर्ष–अप्रत्यक्ष संघर्ष, संघर्ष का वह रूप है जिसमें व्यक्ति और समूह दूसरे व्यक्ति और समूह के स्वार्थ और हितों में बाधा पहुँचाकर स्वयं के हितों की पूर्ति करने का पूर्ण प्रयास करते है।

किंग्सले डेविस ने भी संघर्ष के दो प्रकार बताएँ हैं–

(1) आंशिक संघर्ष–वह ऐसी स्थिति है जिसमें व्यक्तियों या समूहों के बीच लक्ष्य तो निर्धारित होते है, लेकिन उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के साधनों को लेकर विवाद की स्थिति होती है। यह स्थिति आंशिक संघर्ष की होती है।

(2) पूर्ण संघर्ष–पूर्ण संघर्ष वह है, जिसमें न तो किसी प्रकार का समझौता होता है और न ही किसी अन्य तरीके से संघर्ष को टालने का प्रयास किया जाता है, बल्कि यह संघर्ष का वह रूप है जिसमें शारीरिक शक्ति के माध्यम से प्रत्यक्ष रूप से अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है।

संघर्ष के अन्य प्रकार–

(1) वैयक्तिक संघर्ष–वैयक्तिक संघर्ष उसे कहते हैं, जब संघर्षशील व्यक्तियों में व्यक्तिगत रूप से घृणा होती है तथा वे अपने स्वयं के हितों के लिए अन्य को शारीरिक हानि पहुँचाने तक भी तैयार हो जाते हैं। परस्पर विरोधी लक्ष्यों को लेकर घृणा, द्वेष, क्रोध, शत्रुता आदि के कारण इस प्रकार का संघर्ष हो सकता है।

वैयक्तिक संघर्ष आंतरिक व बाह्य दोनों प्रकार के हो सकते हैं। जब व्यक्ति का संघर्ष स्वयं से होता है तो वह आंतरिक संघर्ष का रूप है व जब व्यक्ति का संघर्ष किसी अन्य व्यक्ति या समूह से होता है तो वह बाह्य संघर्ष का रूप है। **उदाहरण के लिए,** किसी कार्य को करने या न करने का मानसिक द्वन्द्व आंतरिक संघर्ष है व जमींन, जायदाद आदि के लिए होने वाला संघर्ष बाह्य संघर्ष है।

व्यक्ति के भीतर होने वाले संघर्ष (आंतरिक संघर्ष) के मुख्य रूप से तीन कारक हैं जो इसे जन्म देते हैं–कुण्ठा, स्वार्थपरकता व हितों का टकराव। जब व्यक्ति स्वयं लक्ष्य निर्धारित करता है व किसी अवरोध से यदि वह लक्ष्य बाधित हो जाता है तो व्यक्ति की वह असफलता, कुण्ठा का रूप ले

लेती है और जिसके परिणाम से व्यक्ति की कुछ प्रतिक्रियाएँ होती है जो उसके आंतरिक संघर्ष को प्रदर्शित करती हैं।

व्यक्ति में आंतरिक संघर्ष उत्पन्न होने के जो कारण हैं, उनमें सबसे महत्वपूर्ण कारण व्यक्ति की स्वार्थपरकता है। अपने स्वार्थों की पूर्ति वह उचित–अनुचित, वैध–अवैध सभी तरीकों से करना चाहता है। फलतः व्यक्तिगत क्या उत्पन्न हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति की कुछ आंतरिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं जो आंतरिक संघर्ष को दर्शाती हैं। व्यक्ति कभी स्वयं के हितों के कारण भी दुविधा में पड़ जाता है। व्यक्ति के पास स्वयं के हित के अनेक विकल्प होते हैं और उनमें से जब उसे यह चयन करना होता है कि क्या उसके लिये अच्छा होगा व क्या गलत, कौन–सा विकल्प हितकर होगा व कौन–सा अहितकर, कौन–सा सुगम होगा व कौन–सा जटिल, तो यह असमंजस व ऊहापोह (विचार–द्वन्द्व) की स्थिति संघर्ष पैदा करती है।

जब व्यक्ति का संघर्ष अन्य व्यक्तियों व समूहों से होता है तो वह बाह्य संघर्ष होता है। यह भी दो प्रकार का होता है–वास्तविक व अवास्तविक। जब संघर्ष किसी न्यायपूर्ण या न्यायोचित उद्देश्यों को लेकर होते हैं तथा सामाजिक व कानूनी स्वीकृति को लेकर होते हैं तो वह वास्तविक संघर्ष कहलाते हैं। हितों का टकराव सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, व्यक्ति का अहम् व स्तर आदि कारक होते हैं जो इसे प्रभावित करते हैं। जब संघर्ष अन्यायपूर्ण व अनुचित उद्देश्यों को लेकर होते हैं तो वे अवास्तविक संघर्ष कहलाते हैं। इनमें 'जैसे को तैसे' की प्रवृत्ति रहती है। ये संघर्ष कानूनी प्रक्रियाओं के द्वारा भी होते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि वैयक्तिक संघर्ष शीघ्र ही उत्पन्न हो जाते हैं। इनकी प्रकृति में निरन्तरता नहीं रहती, कभी संघर्ष चलता है तो कभी बंद हो जाता है व फिर चल सकता है। जब तक संघर्ष की परिणति सहयोग में न हो जाए यह चलता ही रहता है। ये संघर्ष अत्यधिक कटु नहीं होते हैं, क्योंकि सामाजिक नियम उन्हें किसी–न–किसी रूप में नियंत्रित रखते हैं। इसमें शारीरिक हिंसा तुलनात्मक रूप में कम होती है।

(2) प्रजातीय संघर्ष–जब आनुवंशिक शारीरिक भेद–भाव के कारण व्यक्तियों का वर्गीकरण किया जाता है तो उसे **प्रजाति** कहते हैं। वैयक्तिक संघर्ष के अतिरिक्त सामूहिक संघर्ष भी हो सकता है। प्रजातीय संघर्ष भी इसमें से एक है। प्रजातीय संघर्ष का आधार प्रजातीय श्रेष्ठता व हीनता जैसी वैज्ञानिक अवधारणा है। श्रेष्ठता व हीनता का मुख्य आधार संस्तरण है व उच्चता व निम्नता की भावना होती है। संस्तरण के कारण उच्च स्तर के व्यक्ति को अधिकार प्राप्त हो जाते हैं व उन अधिकारों का प्रयोग जब संस्तरण के निचले स्तर के व्यक्तियों पर किया जाता है या प्रदर्शित किए जाते हैं तो यह प्रजातीय संघर्ष है। भौगोलिक परिस्थितियों की भिन्नता, जीन संरचना, विशिष्ट शारीरिक लक्षण, सांस्कृतिक भिन्नता आदि ऐसे तत्व हैं तो प्रजाति की उच्चता व निम्नता निर्धारण में सहायक होते हैं।

इन तत्वों के परिणामस्वरूप निर्धारित होने वाली प्रजाति की श्रेष्ठता व हीनता में व्यक्ति स्वयं जिम्मेदार नहीं होता है पर उस आधार पर व्यक्ति को ही श्रेष्ठ व हीन ठहरा दिया जाता है।

उदाहरण के लिये, अमेरिका में नीग्रो व श्वेत प्रजाति के बीच श्वेत प्रजाति व जापानी प्रजातियों के बीच और अफ्रीका में श्वेत व श्याम प्रजातियों के बीच अक्सर जो संघर्ष होता है वह प्रजातीय संघर्ष के अनुपम उदाहरण हैं।

वर्तमान प्रगतिशील युग में प्रजातीय भेदभाव राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में कानून के रूप में व व्यवहार में जातीय भेदभाव के रूप में विद्यमान है। प्रजातीय संघर्ष कहीं सरकारी नीतियों से पुष्ट है तो कहीं प्रच्छन्न रूप में, जिससे विभिन्न वर्गों के बीच विषमता पायी जाती है।

राजनैतिक क्षेत्र में विश्व के किसी भी देश में प्रजातीय भेदभाव को मान्यता नहीं, परन्तु राष्ट्रों में वहाँ की नीतियों व दशाओं के कारण सभी लोगों को मत देने, सरकारी सेवा में प्रवेश पाने एवं सार्वजनिक पदों के लिये चुनाव लड़ने का अधिकार नहीं है।

आर्थिक क्षेत्र में प्रजातीय भेदभाव के परिणाम से कुछ विशेष प्रजाति के लोग कम वेतन पर मजदूर के रूप में सदैव उपलब्ध रहते हैं। प्रजातीय भेदभाव सार्वजनिक स्थल, स्वास्थ्य व चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं, सामाजिक सुरक्षा व पारस्परिक सम्बन्धों में भी देखा जा सकता है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में जातीय भेदभाव जीवन स्तर की विभिन्नता से जन्म लेता है। वर्तमान समय में हर प्रजाति अपने को श्रेष्ठ व सुरक्षित बनाए रखना चाहती है। इसलिए इस आधार के संघर्ष होते रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले संघर्षों का एक प्रमुख कारण यह भी है।

भेदभाव की यह भावना उस समाज में अधिक पायी जाती है जहाँ सांस्कृतिक, सामाजिक व आर्थिक जीवन में बहुत अधिक विरोधाभास होता है। नस्ल, रंग व वंश की दृष्टि से जिन राष्ट्रों में अलगाव की भावना है एवं जहाँ संस्कृति, रीति–रिवाज व परम्पराओं के कारण भिन्नताएँ हैं वहाँ की स्थितियाँ वास्तव में सोचनीय है। जातीय पृथक्करण की नीतियाँ विश्व के लिए एक बड़ा कलंक है।

(3) वर्ग संघर्ष–वर्ग संघर्ष का इतिहास समाज के निर्माण से ही प्रारम्भ हो गया था। **कार्ल मार्क्स** ने लिखा था कि "आज तक अस्तित्व में रहे समाज का इतिहास, वर्ग–संघर्ष का इतिहास है।" समूचे समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष में ढूँढा जा सकता है। प्राचीन काल में जब मुखिया सर्वेसर्वा था तब से वर्ग प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ।

प्राचीनकाल में मालिक व दास, मध्ययुग में सामन्त सेवक या कामदार, आधुनिक युग में मजदूर व पूँजीपति आदि वर्ग रहे हैं। विभिन्न समूहों की सामाजिक व आर्थिक स्थिति में परस्पर भिन्नताएँ पायी जाती हैं, फलतः उनके जीवन प्रतिमान एक–दूसरे से मेल नहीं खाते व ये समूह कालान्तर में विभिन्न वर्गों का रूप ले लेते हैं। प्रत्येक वर्ग सामाजिक व आर्थिक उपयोगिता की दृष्टि से स्वयं को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानता है। इस प्रकार की स्थिति उनके बीच विवादों व संघर्ष को जन्म देती है।

उदाहरण के लिए, वर्तमान में मजदूरों व मिल मालिकों का संघर्ष देखने को मिलता है। मजदूर अधिक–से–अधिक वेतन व सुविधाएँ लेना चाहते हैं, जबकि पूँजीपति उनका अधिक–से–अधिक शोषण करना चाहते हैं। परिणामतः उनमें संघर्ष होता है। इस संघर्ष में मजदूर मिल–मालिकों को उनकी माँग न मानने पर तोड़फोड़ की धमकी देते हैं व अनेक बार ऐसा कर भी देते हैं। कुछ वर्ग के लोग आजकल अधिकारियों, मंत्रियों आदि का अपनी माँगों के समर्थन में घेराव करते हैं तथा हड़ताल व नारेबाजी करते हैं। ये सभी वर्ग संघर्ष के ही लक्षण हैं।

कार्ल मार्क्स ने कहा कि "समाज सदैव दो आर्थिक वर्गों में बँटा रहेगा–शोषक व शोषित। ये वर्ग सदैव एक–दूसरे के साथ संघर्षरत रहेंगे जब तक कि वर्ग विहीन समाज की स्थापना न हो जाए।" मनोवैज्ञानिक रूप से इस संघर्ष को कभी समाप्त नहीं किया जा सकता है, क्योंकि व्यक्ति विशेष में श्रेष्ठता व हीनता की भावना स्वभावतः होती ही है। चूँकि वर्ग विहीन समाज का अस्तित्व वर्ग स्वार्थों के कारण व्यावहारिक रूप में कठिन है अतः वर्ग संघर्ष एक सार्वभौमिक घटना है।

ऐसे संघर्षों का अंत प्रत्येक बार या तो समग्र समाज के क्रांतिकारी पुनर्निर्माण में होता है या संघर्षरत वर्गों की बर्बादी में निहित होता है।

(4) जातीय संघर्ष–जातीय संकीर्णता सामाजिक संघर्षों का एक प्रमुख कारण बनी है। यह समस्या अर्द्धविकसित व विकासशील देशों में अधिक पायी जाती है। हम कुछ जातीय पूर्वाग्रहों को पालते हैं, क्योंकि इनसे हमारी सुरक्षा, प्रतिष्ठा व मान्यता जैसी कतिपय गहन आवश्यकताओं की संतुष्टि होती है। सामाजिक व्यवस्था में जाति विशेष की श्रेष्ठता व हीनता को मानने की प्रवृत्ति जातीय संघर्ष का कारण बनती है। ऐसे संघर्ष भी संस्तरण की मानसिकता से जुड़े रहते हैं।

आज कट्टरपंथी व उदारवादी लोगों के बीच जो संघर्ष होता है वह जातीय संघर्ष का ही एक भाग है। एक जाति का शासन के साथ, कट्टरपंथी का जातीय समीकरणों के साथ, किसी जाति विशेष का जाति विशेष के साथ, उदारवादी व कट्टरपंथी आदि के बीच होने वाले संघर्ष जातीय संघर्ष के विभिन्न स्वरूप हैं।

भारत में जातीय तनाव अधिक देखने को मिलते हैं। जैसे–मणिपुर में नागा व हुकी जाति का विवाद, बिहार में लाला व ब्राह्मण आदि का विवाद आदि।

ये संघर्ष परम्परागत रूप से लम्बे समय से एक सामाजिक बुराई के रूप में स्थापित होते रहे हैं। यद्यपि कानूनी रूप से विभिन्न जातियों के बीच ऊँच–नीच की भावना को अस्वीकार किया गया है, फिर भी ऊँच–नीच की भावना के कारण विभिन्न जातियों में बैर–भाव रहता है व जातीय संघर्ष चलते रहते हैं। इन जातीय विवादों के कारण आज भारतीय राजनीति का मुख्य आधार ही जातिवाद बन गया है जिससे जनता सदैव आपसी संघर्षों में उलझी रहती है। एक पूर्ण विकसित समाज में ऐसे संघर्षों के खत्म होने की संभावना रहती है अन्यथा ये संघर्ष निरन्तर चलते रहते हैं।

(5) राजनैतिक संघर्ष–राजनैतिक संघर्ष के दो रूप हैं–राष्ट्रीय संघर्ष एवं अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष। जातिवाद, साम्प्रदायिक तनाव, राजनैतिक तनाव, उग्रवाद, पृथक्करण, विभाजन आदि राष्ट्रीय संघर्षों के प्रमुख कारण बनते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष की अभिव्यक्ति के भी अनेक रूप हैं–जैसे घृणा तथा आक्रामकता की अभिवृत्ति, जिसके फलस्वरूप समाचार पत्रों, रेडियो व दूरदर्शन पर भड़कीले समाचार प्रसारित कर मनोवैज्ञानिक युद्ध किया जाता है। स्वजातिवाद की पृष्ठभूमि भी अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का एक प्रमुख कारण है।

अडोर्नो ने यह दर्शाया है कि जिन व्यक्तियों में यह सोचने की अतिरंजित प्रवृत्ति है कि उनका अपना समूह अथवा जाति, अन्य जातियों से अत्यन्त श्रेष्ठ है, उनका सामान्य दृष्टिकोण रुढ़िवादी होता है तथा वे शक्ति की प्रशंसा व पराजितों से घृणा करते हैं जिससे वे दूसरों को अपने समान स्थान देने को तैयार नहीं होते। फलतः विदेशियों व अल्पसंख्यकों को हीन दृष्टि से देखा जाता है तथा उनमें असुरक्षा की भावना उत्पन्न होती है। इससे सैनिक संगठनों को बल मिलता है। राष्ट्रवादी अभिवृत्तियों के साथ–साथ अन्य देशों के प्रति प्रबल नकारात्मक भावना हो और प्रबल अंतर्राष्ट्रीय भावना का अभाव हो तो उस स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न हो ही जाता है और वह स्थिति शांति तथा एकता की बजाय युद्ध की प्रेरक होती है।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त वैचारिक भिन्नताएँ, विस्तारवादी नीतियाँ, व्यापारिक एवं सीमा विवाद, अस्त्र–शस्त्र आदि भी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के प्रमुख कारण बनते हैं।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष–यह भी राजनैतिक संघर्ष का ही एक विस्तृत रूप है। राजनैतिक संघर्ष का क्षेत्र जब एक राष्ट्र की सीमा पार करके अन्य राष्ट्रों तक फैल जाता है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष कहते हैं। दूसरे शब्दों में, जब राष्ट्रीय सीमाओं के पार संघर्ष होता है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष कहलाता है। इसका सबसे स्पष्ट रूप युद्ध है जो कि भारत और चीन के बीच, भारत–पाकिस्तान के बीच व अन्य राष्ट्रों के बीच होते हैं।

उपरोक्त समस्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संघर्ष अनेक स्वरूपों या प्रकारों में दृष्टिगोचर होता है। वैयक्तिक संघर्ष से प्रारम्भ होकर संघर्ष प्रजातीय व वर्ग संघर्ष की सीढ़ियाँ चढ़ते–चढ़ते जातीय संघर्ष परिवर्तित होता है व अंततः संघर्ष के विभिन्न रूप राजनैतिक स्तर के राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष में परिवर्तित हो जाता है। भारत के संदर्भ में संघर्ष के इन स्वरूपों की विवेचना की जा सकती है। धर्म के आधार पर भारत का विभाजन हुआ व पाकिस्तान के रूप में एक नए राष्ट्र की स्थापना हुई। विभाजन के बाद धर्म को लेकर जो दंगे हुए वे धार्मिक आधार पर निर्मित थे व स्वतंत्रता के बाद भी कहीं–कहीं समाज विरोधी तत्वों के द्वारा धार्मिक भावनाओं के आधार पर दंगे फसाद किए गए। धर्म निरपेक्ष राष्ट्र में ऐसी घटनाएँ राष्ट्र विरोधी मानी जाती हैं।

प्रश्न 22. बदमाशी पर टिप्पणी लिखिए। **(भोपाल 2022)**

उत्तर–बदमाशी–बदमाशी को विशेष रूप से जूनियर छात्रों, साथी छात्रों या श्रमिकों या किसी अन्य के साथ दुर्व्यव्हार या डराने के लिए बल या जबरदस्ती के उपयोग के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। दूसरों को धमकाने का व्यवहार आदतन हो सकता है और इसमें सामाजिक या शारीरिक शक्ति का असंतुलन शामिल हो सकता है। बदमाशी मौखिक उत्पीड़न या धमकी, शारीरिक हमला या जबरदस्ती के रूप में हो सकती है और विशेष पीड़ितों की बार–बार निर्देशित की जा सकती है। शायद वर्ग, जाति, धर्म, लिंग, कामुकता, उपस्थिति, व्यवहार या क्षमता के आधार पर। बदमाशी का खतरा आम तौर पर बच्चों और किशोरों, विशेष रूप से हाई स्कूल जाने वाले किशोरों के बीच देखा गया है।

बदमाशी में धमकियाँ देना, अफवाह फैलाना, किसी पर शारीरिक या मौखिक रूप से हमला करना और किसी को उद्देश्य से समूह से बाहर करना जैसी गतिविधियाँ शामिल हैं। कभी–कभी बदमाशी केवल मनोरंजन के लिए की जाती है जबकि कई बार बदमाशी का उद्देश्य केवल लक्ष्य व्यक्ति का मजाक उड़ाने से ज्यादा कुछ होता है। स्कूल और कार्यस्थल में धमकाना भी सहकर्मी के दुरूपयोग के रूप में जाना जाता है। लेकिन स्कूल में बदमाशी कार्यालय या कार्यस्थल की तुलना में अधिक प्रभावी है। एक बदमाशी संस्कृति किसी भी संदर्भ में विकसित हो सकती है। इसमें स्कूल, परिवार, कार्यस्थल, टीम, घर और पड़ोस शामिल है।

बदमाशी का खतरा पिछले कुछ वर्षों में दुनिया भर में बढ़ रहा है। हर दिन दुनिया भर में हजारों किशोरों अपने सहपाठियों या वरिष्ठों द्वारा स्कूल जाने के डर से स्कूल जाने से डरते हैं। बदमाशी एक बड़ी समस्या है जो दुनिया भर में लाखों छात्रों को प्रभावित कर रही है और इसने सभी को चिंतित कर दिया है। बदमाशी तब होती है जब एक व्यक्ति को लक्ष्य के रूप में संदर्भित किया जाता है और फिर से एक व्यक्ति या समूह द्वारा अधिक शक्ति के साथ उठाया जाता है, या तो शारीरिक ताकत या सामाजिक प्रतिष्ठा के मामले में या अपमानित, धमकी दी जाती है या मौखिक या शारीरिक रूप से अपमानित किया जाता है। स्कूल में बदमाशी के दो मुख्य कारणों में व्यक्ति की उपस्थिति और सामाजिक स्थिति को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। शायद इस वजह से कि वो कैसे दिखते हैं, वे कैसे कार्य करते हैं। कभी–कभी कक्षा में प्रदर्शन पर एक व्यक्ति को धमकाने के लिए ईर्ष्या होती है और इसके लिए हमेशा कमजोर व्यक्तियों को लक्षित करते हैं।

प्रश्न 23. प्रतिस्पर्धा से क्या आशय है ? प्रतिस्पर्धा के प्रकार एवं परिणाम लिखिए।

उत्तर–प्रतिस्पर्धा से आशय–प्रतिस्पर्धा एक तरह का प्रयास है जो सीमित तथा समान उद्देश्यों के लिए होती है। यह अवैयक्तिक और निरन्तर प्रयास है। यह प्रयास अचेतन एवं चेतन स्तर पर हो सकती है। प्रतिस्पर्धा तब तक चलती है जब तक व्यक्ति के उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं हो जाती है या जब तक व्यक्ति को पूर्ण असफलता का अनुभव नहीं हो जाता है।

यह एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है अर्थात् प्रत्येक प्रकार के समूहों और समाज में पायी जाती है। चाहे विद्यार्थी हो, श्रमिक हो, या फिर नेता या अभिनेता।

आधुनिक समाज में जीवन के अनेकों क्षेत्रों में प्रतिस्पर्धा देखने को मिलती है, क्योंकि प्रतिस्पर्धा कार्यक्षमता को भी बढ़ावा देती है।

"स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का कार्य प्रत्येक व्यक्ति के लिए सामाजिक दुनिया में उसका स्थान निश्चित करना है। प्रतिस्पर्धा एक प्रगतिशील शक्ति है, जो चीजों को पूर्ण करता है न कि नष्ट।"

प्रतिस्पर्धा के अनेक निर्धारक तत्व हैं, इनमें से कुछ प्रमुख निर्धारक इस प्रकार हैं–

(1) समूह संरचना, (2) संस्कृति, (3) मूल्य व्यवस्था,

(4) व्यक्ति की सामाजिक स्थिति और कार्य।

प्रतिस्पर्धा के प्रकार–मुख्यतः प्रतिस्पर्धा दो प्रकार की होती हैं–(i) वैयक्तिक प्रतिस्पर्धा एवं (ii) अवैयक्तिक प्रतिस्पर्धा।

(i) वैयक्तिक प्रतिस्पर्धा–यह वह प्रतिस्पर्धा है जो दो परिचित व्यक्तियों या समूहों में पायी जाती है। उदाहरण के लिए, दो खिलाड़ियों या दो विद्यार्थियों के बीच पायी जाने वाली प्रतिस्पर्धा वैयक्तिक प्रतिस्पर्धा है।

(ii) अवैयक्तिक प्रतिस्पर्धा–यह वह प्रतिस्पर्धा है जो दो अपरिचित व्यक्तियों या समूहों के बीच पायी जाती है। उदाहरण के लिए, किसी भी परीक्षा में बैठने वाले सैकड़ों या हजारों परीक्षार्थी अपरिचित होते हुए भी एक–दूसरे के प्रति प्रतिस्पर्धा रखते हैं।

यह दोनों प्रकार प्रतिस्पर्धा अधिकांशतः चेतन स्तर पर ही होती है। कभी–कभी प्रतिस्पर्धा का स्तर अचेतन भी हो सकता है।

प्रतिस्पर्धा के परिणाम– प्रतिस्पर्धा के परिणाम अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी हो सकते हैं। प्रतिस्पर्धा के कुछ प्रमुख परिणाम निम्नलिखित हैं–

(1) विघटनात्मक परिणाम–प्रतिस्पर्धा चाहे व्यक्तिगत स्तर पर हो या चाहे सामूहिक स्तर पर हो प्रतिस्पर्धा करने वाले व्यक्तियों के बीच प्रतिस्पर्धा गला काटने वाली होती है। ऐसी प्रतिस्पर्धा के परिणाम विघटनात्मक होते हैं, क्योंकि इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा करने वाले व्यक्ति एक–दूसरे को नुकसान पहुँचाना चाहते हैं। नुकसान पहुँचाने में कभी–कभी वह हिंसात्मक उपाय भी अपनाते हैं।

(2) संगठनात्मक परिणाम– शिक्षक, विद्यार्थी, खिलाड़ी, व्यापारी आदि जब व्यक्तिगत उन्नति के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं। यह प्रतिस्पर्धा चाहे व्यक्तिगत स्तर पर हो या चाहे सामूहिक स्तर पर, इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा के परिणाम संगठनात्मक होंगे।

(3) व्यक्तित्व से संबंधित परिणाम–कूले के अनुसार–"जब प्रतिस्पर्धा सुव्यवस्थित ढंग से चलती है, तो प्रतिस्पर्धा करने वाले व्यक्तियों में विस्तृत सामाजिक अनुभूति का विकास होता है।" इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा से सामान्य और समाज के अनुकूल व्यक्तित्व का विकास होता है। सुव्यवस्थित प्रतिस्पर्धा व्यक्ति को संगठनात्मक कार्यों को करने के लिए प्रेरित करती है। स्वस्थ प्रतिस्पर्धा व्यक्ति को प्रगतिशील बनाती है। अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा से असामान्य व्यक्तित्व का विकास होता है।

प्रश्न 24. आक्रामकता से आप क्या समझते हैं ? बच्चों में आक्रामकता के क्या कारण हैं ? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर–आक्रामकता–प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहार में आक्रामकता कुछ–न–कुछ मात्रा में पायी जाती है। आक्रामकता एक प्रकार का वह व्यवहार है, जिसका उद्देश्य दूसरों को नुकसान या चोट पहुँचाना होता है। आक्रामकता शब्द लैटिन भाषा के **'ऐग्रेसियो'** (Aggressio) शब्द से बना है, जिसका अर्थ हमला या आक्रामकता होता है। आक्रामकता की अभिव्यक्ति में जब, हथियारों का विशेष रूप से खतरनाक हथियारों का उपयोग किया जाता है तो आक्रामक व्यवहार हिंसा और विध्वंस का रूप धारण कर लेता है।

वार्चेल और कूपर के अनुसार– "आक्रामकता वह व्यवहार है जिसका उद्देश्य विशिष्ट लक्ष्य को हानि पहुँचाना है।"

आक्रामकता की यद्यपि कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं है फिर भी कहा जा सकता है कि आक्रामकता एक व्यवहार है न कि संवेग, आवश्यकता या प्रेरणा। आक्रामकता के अभिव्यक्ति में संवेग, आवश्यकता और प्रेरणा की उपस्थिति हो भी सकती है और नहीं भी। आक्रामकता की

परिभाषा में दूसरी विशेषता यह है कि आक्रामक व्यवहार करने वाला व्यक्ति लक्ष्य व्यक्ति को कष्ट या चोट पहुँचाना चाहता है।

आक्रामकता व्यवहार के मुख्यतः दो विशिष्ट प्रकार प्रचलित हैं, जो निम्न हैं–

(1) शारीरिक आक्रामक व्यवहार–यह वह आक्रामक व्यवहार है, जिससे व्यक्ति शारीरिक बल का उपयोग करके दूसरे को नुकसान पहुँचाना चाहता है।

(2) मौखिक आक्रामकता–इस प्रकार की आक्रामकता में व्यक्ति मौखिक रूप से (भाषाई रूप से) लक्ष्य को नुकसान पहुँचाते हैं।

आक्रामकता का व्यवहार इन दो प्रकार के अतिरिक्त दो अन्य विशिष्ट प्रकार के भी हो सकते हैं–

(1) प्रत्यक्ष आक्रामक व्यवहार, (2) अप्रत्यक्ष आक्रामक व्यवहार।

पहला प्रकार, जिसमें लक्ष्य पर प्रत्यक्ष रूप से आक्रामक व्यवहार किया जाता है। जबकि अप्रत्यक्ष आक्रामक व्यवहार में लक्ष्य को अप्रत्यक्ष रूप से नुकसान पहुँचाते हैं।

बच्चों में आक्रामकता के कारण–प्रश्न क्रमांक 25 का उत्तर देखिए।

प्रश्न 25. बालक के आक्रामक व्यवहार के क्या कारण होते हैं ? तथा समाधान हेतु सुझाव दीजिए।

उत्तर– बालक के आक्रामक व्यवहार के निम्न कारण होते हैं–

1. बच्चों को महत्व न मिलना– जब किसी बच्चे को समाज में या परिवार में महत्व नहीं दिया जाता अर्थात् उसकी बातों को अनसुना कर दिया जाए या उसकी ओर पर्याप्त ध्यान न दिया जाए तो वह आक्रामक व्यवहार करने लगता है ताकि सबका ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो।

2. अध्ययन में कमजोर होना– जब बालक अध्ययन में कमजोर होता है तो हर कोई व्यक्ति चाहे वह परिवार का हो या समाज का उसका मजाक उड़ाता है, जिससे उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है और वह आक्रामक स्वभाव का हो जाता है।

3. बच्चे के साथ शिक्षक या अभिभावक का अन्यायपूर्ण व्यवहार करना– जब बालक के साथ शिक्षक या अभिभावक का व्यवहार अन्यायपूर्ण या पक्षपात पूर्ण होता है तो उसका स्वभाव आक्रामक हो जाता है।

4. दूषित वातावरण– बालक जिस वातावरण में निवास करता है उसका प्रभाव बालक पर पड़ता है अगर दूषित वातावरण है अर्थात् गाली–गलौज पूर्ण वातावरण है लड़ाई–झगड़े होते रहते हैं, तो उसका प्रत्यक्ष प्रभाव बालक पर पड़ता है और बालक भी आक्रामक हो जाता है।

5. बुरी संगति– बालक अगर बुरी संगति में हो तो उसका प्रत्यक्ष रूप से उस पर प्रभाव पड़ता है और वह भी उसी प्रकार का हो जाता है।

6. अनुशासन की कमी– शाला में अनुशासन की कमी होने पर बालक अनुशासनहीन होने के कारण आक्रामक प्रवृत्ति का हो जाता है।

7. दूषित पाठ्यक्रम– पाठ्यक्रम का उचित होना भी बालक के उचित विकास के लिए आवश्यक है। यदि पाठ्यक्रम में दूषित बातें भर दी जाए तो बालक वह सब पढ़कर उसी प्रकार की दूषित मानसिकता वाला हो जाएगा।

8. आर्थिक असमानता– आर्थिक असमानता भी बालक को आक्रामक बनाती है। जब वह देखता है कि उसके मित्र के पास सब सुविधा के साधन उपलब्ध हैं और उसके पास नहीं तो वह कुंठाग्रस्त हो जाता है।

9. शारीरिक रचना– शारीरिक रचना से तात्पर्य है बालक का स्वस्थ शरीर वाला होना अथवा न होना। अगर बालक का शरीर स्वस्थ नहीं रहता तो वह चिड़चिड़ा हो जाता है और आक्रामक हो जाता है।

10. मानसिक स्तर– सामान्यतः जिस बालक का मानसिक रूप से बुद्धि का स्तर नीचे होता है उसमें मानसिक विनम्रता, भावात्मक संबंध आदि नहीं पाए जाते। जिससे बालक आक्रामक हो जाता है।

आक्रामक व्यवहार के समाधान हेतु सुझाव–

1. अभिभावकों को शिक्षित करना– अभिभावकों को शिक्षा की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए ताकि वह बालकों की भावनाओं को समझे व उन्हें सुधारने का प्रयास करे।

2. अच्छी संगति– बालकों को उनकी बुरी संगति से दूर कर अच्छी संगति प्रदान करना चाहिए ताकि उनमें किसी प्रकार की बुरी आदत न रह जाए।

3. स्वच्छ सामाजिक वातावरण तैयार करना– ऐसा वातावरण तैयार करना चाहिए, जो स्वच्छ हो अर्थात् सभ्यतापूर्वक व्यवहार समाज के व्यक्तियों द्वारा किया जाए ताकि बच्चों का व्यवहार भी सभ्य हो।

4. विद्यालयीन वातावरण में सुधार लाना– विद्यालय में अनुशासन की भावना को जगाना चाहिए ताकि विद्यालय में पढ़ने वाला हर बालक अनुशासित हो।

5. सामाजिक बुराइयों का निष्कासन– समाज में तरह–तरह की बुराइयाँ फैली होती हैं। बुराइयों का समय रहते समाधान कर देना चाहिए ताकि बालक पर उन बुराइयों का प्रभाव न हो।

6. आर्थिक विषमताओं का समाधान– आज समाज में आर्थिक विषमता फैली हुई है। उन आर्थिक विषमताओं का समाधान उचित उपाय अपनाकर करना चाहिए ताकि बालकों पर उन विषमताओं का दुष्प्रभाव न हो।

7. भ्रष्टाचार तथा नशाखोरी को रोकना– भ्रष्टाचार समाज में एक बुरा प्रभाव डाल रहा है वही स्थिति नशाखोरी की भी है। अतएव भ्रष्टाचार व नशाखोरी को समाज से हटाना होगा।

8. सुधार गृहों का निर्माण– ऐसे अपराधी बालकों में सुधार लाने हेतु सुधार गृहों का निर्माण करना चाहिए ताकि बालक अपनी इस आपराधिक प्रवृत्ति का त्याग कर सकें।

9. सुझाव एवं परामर्श– ऐसे बालकों को सुधारने हेतु उन्हें समय–समय पर सुझाव व परामर्श देना चाहिए ताकि बालकों में सुधार हो सके।

10. उपयुक्त कौशल का निर्माण– ऐसे बालकों में उपयुक्त कौशलों का निर्माण करवाना सिखाना चाहिए ताकि बालक का ध्यान व्यर्थ की बातों में न हो और उनमें सुधार आए।

प्रश्न 26. आक्रामकता को दूर करने में शिक्षक की भूमिका की व्याख्या कीजिए।

(इंदौर मार्च 2023)

***अथवा*, आक्रामकता क्या है ? बालकों में आक्रामकता को रोकने के लिए क्या कदम उठाये जाने चाहिए।** **(ग्वालियर 2022)**

उत्तर–आक्रामकता शत्रुतापूर्ण और विरोधी व्यवहार है। अक्सर नुकसान पहुँचाने के इरादे से, हालाँकि इसे कुछ लोगों के लिए रचनात्मक और व्यावहारिक आउटलेट में प्रसारित किया जा सकता है। यह या तो प्रतिक्रियात्मक रूप से या बिना उकसावे के हो सकता है। मनुष्यों में आक्रामकता के भिन्न–भिन्न कारण हो सकते हैं। अवरुद्ध लक्ष्यों के कारण हताशा से लेकर अपमानित महसूस करने तक। मानवीय आक्रामकता को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष आक्रामकता में वर्गीकृत किया जा सकता है।

(1) वेरोन एवं **वन** के अनुसार–"आक्रामकता एक ऐसा व्यवहार है जिसका लक्ष्य दूसरों को क्षति पहुँचाना होता है तथा जिससे बचने के लिए वह (दूसरा व्यक्ति) प्रेरित होता है।"

(2) मेयर्स के अनुसार–"आक्रामकता एक ऐसा शारीरिक या शाब्दिक व्यवहार होता है जिनका उद्देश्य दूसरों को चोट पहुँचाना होता है।"

आक्रामकता को दूर करने में शिक्षक की भूमिका–

(1) प्रतिकार–लक्षित व्यक्ति (Target person) के प्रति आक्रामकता दिखलाने पर यदि लक्षित व्यक्ति से प्रत्याशित प्रतिकार (expected retaliation) प्रभावशाली (Effective) एवं तीव्र होता है तो इससे आक्रामकता की मात्रा में कमी आ जाती है।

(2) दण्ड (Punishment)–दण्ड से भी आक्रामकता को कम किया जाता हैं हालाँकि इसे उतना अधिक प्रभावकारी प्रविधि नहीं माना गया है। **मैकोवी** तथा **लेविन** ने अपने अध्ययन के आधार पर यह बतलाया है जिन बच्चों को घर पर अत्यधिक शारीरिक दण्ड दिया जाता है। उन बच्चों में घर के बाहर के लोगों में आक्रामकता दिखाने की प्रवृत्ति अधिक होती है।

(3) सामाजिक सीखना उपागम– सामाजिक सीखना उपागम या सिद्धांत के अनुसार जिस तरह आक्रामक मॉडल को देखकर व्यक्ति आक्रामक व्यवहार को सीख लेता है, उसी तरह से शिक्षक अनाक्रामक मॉडल (Unaggressive) को देखकर आक्रामकता की मात्रा को कम किया जाता है।

(4) परानुभूति (Empathy) –आक्रामकता तथा हिंसक व्यवहार के होने के फलस्वरूप यदि शिक्षक अच्छी तरह से आक्रमणकर्ता को दिशा दिखला दे तो उसे रोका जा सकता है तथा आक्रमणकर्ता की आक्रमणशीलता में कमी आ जाती है।

(5) क्षमायाचना (Apology) — शिक्षक विद्यार्थियों को यह सीख दें कि यदि विद्यार्थियों से कभी कोई गलती हो जाए तो वह क्षमायाचना करे और दोबारा यह गलती ना करे। यह ज्ञान प्रदान कर वह आक्रमणशीलता को कम कर सकता है।

(6) माफी देना (forgiveness) — माफी देना एक ऐसी प्रविधि है जिससे व्यक्ति उस व्यक्ति या व्यक्तियों को दंडित करने के विचार को त्याग देता है जो उन्हें चोट पहुँचाया है और उसके बदले में उसके प्रति सहयोग की भावना रखते हुए व्यवहार करता है जिससे शिक्षक आक्रामकता को कम कर सकते हैं।

(7) भावनाओं पर संयम रखना – शिक्षक को यह बताना चाहिए कि विद्यार्थी अपनी भावनाओं पर संयम कैसे रखे, शिक्षक को यह गुण विकसित करना चाहिए, जिससे आक्रामकता में कमी आए।

(8) आक्रामकता के कारणों को जानना – शिक्षक को आक्रामकता के कारणों को जानकर उनको दूर करने का उपाय करना चाहिए, जिससे इसमें कमी आए।

प्रश्न 27. निम्न पर टिप्पणी लिखिए–

1. विपरीत लिंग से मित्रता का बच्चों पर प्रभाव **(ग्वालियर 2021; छतरपुर 22)**

2. प्रतियोगिता, सहयोग द्वंद्व एवं प्रतिस्पर्धा **(छिंदवाड़ा 2021, 22)**

3. आक्रामकता एवं बाल प्रताड़ना। **(भोपाल 2022; ग्वालियर 22)**

उत्तर–1. विपरीत लिंग से मित्रता का बच्चों पर प्रभाव–बालकों के मित्र समूहों का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि, प्रारम्भिक कक्षाओं में बच्चे समान लिंग के साथ ज्यादातर मित्र बनाते हैं। वे समान लिंग के बच्चों के साथ बैठना, खेलना पसंद करते हैं। बच्चे विपरीत लिंग के साथ प्रतिस्पर्धा एवं नापसंदगी भी प्रदर्शित करते हैं। जैसे–जैसे बच्चे बड़े होते हैं उनकी दूसरे लिंग के प्रति स्वीकार्यता बढ़ती जाती है। किशोरावस्था में विपरीत लिंगी संबंधों का लक्षण पाया जाता है, जो कि इस स्तर पर संवेगात्मक विकास के कारण होता है।

कक्षा में प्राय: यह भी देखा जाता है कि, बच्चे प्रारम्भिक कक्षाओं में विपरीत लिंग के प्रति मित्रता करते हैं। जब ऐसी मित्रता को हतोत्साहित किया जाता है तो इसका बच्चों के सामाजिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। समाज के कठोर सामाजिक मानदंड लिंगों के स्वस्थ मेलजोल को रोकते हैं जो कि समाज को दो वर्गों में बाँटने का कार्य करता है।

2. प्रतियोगिता, सहयोग, द्वंद्व एवं प्रतिस्पर्धा—(i) प्रतियोगिता—प्रतियोगिता से तात्पर्य एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया से है जिसमें एक ही कार्य या समान कार्य को करने पर एक व्यक्ति की उपलब्धि को दूसरे अन्य व्यक्ति की उपलब्धि के आधार पर पुरस्कृत किया जाता है। बच्चे एक–दूसरे से प्रतियोगिता करते हैं पर कभी–कभी यह प्रतियोगिता प्रतिस्पर्धा में बदल जाती है और बच्चों में यह चिन्ता, निराशा या तनाव और एक–दूसरे को नापसंद करने की हद तक बढ़ जाता है। अत: अध्यापक को यह ध्यान देना आवश्यक है कि, वह बच्चों को स्वस्थ प्रतियोगिता की ओर प्रेरित करें। वह प्रतियोगिता को प्रतिस्पर्धा में न परिवर्तित होने दें क्योंकि प्रतिस्पर्धा द्वन्द्व का आधार होती है। फलस्वरूप पूरी कक्षा वातावरण में तनाव और अशांति का कारण बनती है।

(ii) सहयोग—सहयोग से तात्पर्य ऐसी सामाजिक क्रिया सें है जिसमें समूह के सदस्यों के साथ–साथ काम करके निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचने की सामूहिक उपलब्धि के रूप में मूल्यांकन और पुरस्कृत किया जाता है। अध्ययनों के अनुसार ज्ञात होता है कि, सहयोग से सकारात्मक पारस्परिक निर्भरता का गुण विकसित होता है। बच्चों में समस्या समाधान की दक्षता बढ़ती है।

अध्यापक को ध्यान देना आवश्यक है कि, वह बच्चों के द्वारा सहयोगात्मक कार्य करने को बढ़ावा दें। इससे परस्पर सम्मान और सराहना के मूल्य विकसित करें एवं प्रत्येक सदस्य की क्षमताओं को मूल्य देकर एक–दूसरे की क्षमताओं पर आश्रित होने, सीखने का गुण विकसित करें।

(iii) द्वंद्व—जब सामूहिक कार्य में परस्पर सहयोग एवं परस्पर निर्भरता का अभाव होता है तो समूह के सदस्यों के मध्य द्वंद्व उत्पन्न हो जाता है। द्वंद्व शारीरिक, मौखिक या अप्रत्यक्ष हो सकता है जिससे बच्चों की कक्षा का वातावरण अशांत हो जाता है।

(iv) प्रतिस्पर्धा—जब बच्चों को सामूहिक उत्तरदायित्व दिया जाता है तो उनके सहयोग की प्रकृति से निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचने की उपलब्धि होती है। एक–दूसरे पर निर्भरता सहयोग को बढ़ाता है परन्तु जब सामूहिक कार्य में या व्यक्तिगत कार्यों में नकारात्मक परस्पर निर्भरता होती है तो वहाँ प्रतिस्पर्धा प्रदर्शित होती है। प्रतिस्पर्धा में बच्चों में समस्या समाधान की प्रवृत्ति कम एवं स्वयं के कार्यों के प्रदर्शन की भावना अधिक पायी जाती है।

शिक्षक का दायित्व है कि, वे बच्चों में कक्षा के दौरान स्वस्थ प्रतियोगिता एवं सहयोग की भावना को बढ़ावा दे और द्वंद्व एवं प्रतिस्पर्धा जैसी स्थितियों में सावधानीपूर्वक समझे और बच्चों के कार्यों को मूल्य प्रदान करके ऐसी स्थितियों को दूर करने का प्रयास करे।

3. आक्रामकता एवं बाल प्रताड़ना—जब बच्चों में सामूहिक उत्तरदायित्व के दौरान प्रतिस्पर्धा की भावना आ जाती है तो कई बच्चें आक्रामक लक्षण प्रदर्शित करने लगते हैं। आक्रामकता से तात्पर्य है—क्रोध करना, अपेक्षित व्यवहार के विपरीत व्यवहार का प्रदर्शन करना।

जैसे बच्चों का स्कूल जाने में प्रतिरोध करना, शिक्षा का महत्व न समझना, संगी–साथियों के साथ झगड़ना, धक्का मारना, पैर से मारना आदि। आक्रामकता दो प्रकार की होती है—व्यक्तिगत व सामूहिक। सामूहिक आक्रामकता ज्यादा खतरनाक है।

आक्रामकता के कई कारण होते हैं—बच्चे को महत्व न मिलना, पठन–पाठन में कमजोर होना, बच्चे के साथ अभिभावक या शिक्षक का अन्यायपूर्ण व्यवहार करना, पक्षपात करना आदि।

शिक्षकों को प्रशासक, अभिभावक या समुदाय से मिलकर कार्य करते रहने पर आक्रामकता से बचा जा सकता है। प्राय: ऐसी स्थितियाँ कम ही दिखाई देती हैं।

बाल प्रताड़ना बहुत–सी कक्षाओं की सामान्य समस्या है। कई बच्चे अपने से छोटे या कमजोर बच्चों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं उन्हें चिढ़ाते या डराते हैं। धन की अनैतिक माँग, दोपहर का खाना छीनना, मजाक उड़ाना आदि बाल प्रताड़ना के ही रूप हैं। बड़ी कक्षाओं में बाल प्रताड़ना का विद्वेष स्वरूप रैगिंग, पिटाई या यौन उत्पीड़न के रूप में सामने आता है।

बाल प्रताड़ना निम्न प्रकार से भी हो सकती हैं–

(i) मौखिक–लोगों के नाम बताना, बुरी बातें कहना, निरन्तर चिढ़ाना।

(ii) शारीरिक–धक्का देना, मुक्का मारना, चोट करना या लात मारना।

(iii) अशाब्दिक या सांवेगिक–गतिविधियों से बाहर करना, धमकाने वाली भाव–भंगिमाएँ बनाना।

(iv) साइबर–मोबाइल या ई–मेल द्वारा डराने–धमकी भरे संदेश भेजना।

डराना धमकाना या बाल प्रताड़ना करने वाले बच्चे स्वयं वातावरण में समायोजित नहीं हो पाते हैं, वे तनावपूर्ण स्थिति से गुजरते हैं जो उसके छोटे व कमजोर बच्चों के प्रति विद्वेष से प्रदर्शित होती है। स्वयं की पहचान बनाने की इच्छा पूर्ण न होने पर भी बच्चे बाल प्रताड़ना में संलग्न होते हैं। लगातार असफलता या अध्यापक की प्रताड़ना के कारण भी बच्चे अन्य बच्चों के साथ वही व्यवहार दोहराते हैं। कभी–कभी बाल प्रताड़ना मानसिक सदमें या आघात में बदल जाता है जो कि बच्चे के विद्यालय छोड़ने या खुद को हानि पहुँचाने के रूप में भी सामने आ सकता है।

आक्रामकता एवं बाल प्रताड़ना दोनों ही स्थितियों में शिक्षक को बच्चे की मदद करनी चाहिए। डरने वाले व डराने वाले (प्रताड़ित एवं प्रताड़ित करने वाले) दोनों में एक आत्म प्रत्यय का विकास करना आवश्यक है। समस्या का कोई एक समाधान नहीं है। शिक्षक को माता–पिता एवं अन्य शिक्षक साथियों से मदद लेनी चाहिए।

प्रश्न 28. दबंगता से क्या आशय है ? दबंग व्यवहार के कारणों की व्याख्या कीजिए।

उत्तर–दबंगता–बालकों में आयु बढ़ने के साथ–साथ कई गुणों और दुर्गुणों का विकास भी होता है। दबंगता भी एक ऐसा ही दुर्गुण है जो बढ़ती आयु के साथ कई बार बालकों में देखा जाता है। जिसमें एक बालक अपने से कमजोर पड़ने वाले बालकों पर धौंस जमाता है अर्थात् प्रभुत्व जमाने की कोशिश करता है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें शरारत करने का व्यवहार शामिल होता है। इसमें आक्रामकता की भावना भी होती है। ऐसे बालक उन बालकों की तलाश में होते हैं जो उनसे डरकर दब जाए एवं वे उन पर हावी हो जाए। जैसे–किसी का बाल खींचना, चिढ़ाना, किसी का खेल बिगाड़ देना आदि। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से ज्ञात होता है कि ऐसे व्यवहार करने वाले ज्यादातर असंतुलित समायोजन के होते हैं।

किसी बालक में यह व्यवहार लंबे समय तक बना रहे तो समाज में उन्हें तिरस्कार झेलना पड़ता है और एक असामाजिक व्यक्तित्व बनकर रह जाते हैं।

दबंग व्यवहार के कारण–दबंग व्यवहार के निम्नलिखित कारण हैं–

(1) जब अभिभावक अपने बालकों को प्रत्येक छोटी–छोटी बातों के लिए रोक–टोक करते हैं या मारते–पीटते हैं तो उन बालकों में यह व्यवहार देखने को मिलता है कि वो भी अपने से कमजोर बच्चों को परेशान करके संतुष्टि का अनुभव करते हैं।

(2) माता–पिता के आपसी संबंध अगर स्वस्थ न हो, तो ये बालकों के व्यवहार को भी प्रभावित करते हैं।

(3) कई बार ऐसा देखा गया है कि बालक अपनी किसी प्रकार की अक्षमता को छुपाने के लिए भी दबंगता का प्रदर्शन करते हैं जिससे सब उनसे डरे एवं उनकी अक्षमता सबसे छुपी रहे।

(4) कभी–कभी परिवार का अधिक दुलार–प्यार और ऐशो–आराम की जिन्दगी भी बालकों में एक अभिमान की भावना ला देती है, जिससे बालक अपने से कमजोर बालकों पर अपना रौब दिखाने लगता है और उन्हें कई तरीकों से परेशान करने लगता है।

(5) बालकों में दबंगता वाले व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए परिवार एवं विद्यालय का सामुहिक प्रयास होना अनिवार्य है। बालक की हर प्रकार की शिक्षा घर से प्रारंभ होती है, अतः

सर्वप्रथम माता–पिता को बालकों में नैतिकता का विकास करना चाहिए उनमें सहयोग, त्याग, प्रेम, करूणा आदि का भाव विकसित करवाने का प्रयास करना चाहिए।

जब बालक विद्यालय में होता है तो सभी जिम्मेदारी शिक्षक की हो जाती है। ऐसी स्थिति में शिक्षक ऐसे बालकों की पहचान करें जिनमें इस प्रकार का व्यवहार पाया जाता है तथा उनमें समायोजन, सहयोग और सद्भाव का महत्व समझना चाहिए। ये कुछ ऐसे प्रयास है जिससे बालक के दबंगता वाले व्यवहार को दूर किया जा सकता है।

प्रश्न 29. मानसिक स्वास्थ्य से क्या अभिप्राय है ? मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारक कौन–कौन से हैं ? इसकी व्याख्या कीजिए।

उत्तर–मानसिक स्वास्थ्य से अभिप्राय संवेगात्मक स्थिरताएँ है। मानसिक रूप से अस्वस्थ व्यक्ति संवेगात्मक रूप से अस्थिर होता है। दूसरे शब्दों में, मानसिक स्वास्थ्य का अर्थ, मानव का अपने व्यवहार में संतुलन से है। यह संतुलन प्रत्येक अवस्था में बना रहना चाहिए।

इस दृष्टि से निम्न गुणों वाला व्यक्ति मानसिक रूप से स्वस्थ माना जाता है–

(1) चिंता तथा संघर्ष से रहित व्यक्ति,

(2) पूर्णतः समायोजित,

(3) आत्मविश्वासी,

(4) आत्मनियंत्रित,

(5) संवेगात्मक रूप से स्थिर, सार्थक जीवन एवं उच्च नैतिकता से पूर्ण व्यक्ति मानसिक रूप से स्वस्थ समझा जाता है। उपरोक्त गुणों वाला व्यक्ति प्रत्येक परिस्थिति में समायोजन कर लेता है। उसमें मानसिक तनाव, हताशा आदि को सहन करने की अदम्य शक्ति होती है।

कुल्हन के अनुसार–"वह समायोजन अच्छा है जो विफलताओं और मानसिक तनाव द्वारा उत्पन्न संघर्षो को कम करें एवं विफलता उत्पन्न करने वाली परिस्थिति में परिवर्तन कर सकें।"

मानसिक स्वास्थ्य एवं शिक्षा–वर्तमान समय में शिक्षा का केन्द्र बालक बन गया है, उसकी मानसिक स्थिति रुचि व अन्य योग्यताओं को आधार मानकर ही पाठ्यक्रम का निर्माण किया जाता है और वर्तमान शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य बालक का समविकास करना है। यदि बालक मानसिक दृष्टि से स्वस्थ नहीं होंगे तो उनकी रुचि पढ़ाई में नहीं हो सकती जिनके कारण कक्षा में, पढ़ाई में उनका ध्यान केन्द्रित नहीं हो सकता है और शिक्षण का लाभ नहीं उठा सकेंगे।

प्रत्येक अध्यापक को मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान का ज्ञान होना आवश्यक है जिससे वह अपने और छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखने में योगदान दे सके और छात्र मानसिक रोगों से या समायोजन दोषों से पीड़ित हो, उनकी सहायता कर सके। यह बात सर्वविदित है कि मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान एवं शिक्षा को भिन्न नहीं किया जा सकता।

मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारक–मानसिक स्वास्थ्य पर किसी एक कारण का प्रभाव नहीं पड़ता बल्कि कई कारणों का प्रभाव पड़ता है। जो निम्न हैं–

(1) घरेलू प्रभाव–बालक के मानसिक स्वास्थ्य पर घर का प्रभाव सबसे ज्यादा पड़ता है। घर का वातावरण, पोषण, परिवार वालों की परवरिश इन सबका प्रभाव बालक के मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ता है। माता–पिता का आपसी संबंध उनका बालकों के साथ व्यवहार, परिवार की आर्थिक स्थिति, घर का अनुशासन ये सभी बालक के मानसिक स्वास्थ्य पर समान रूप से प्रभाव डालते हैं।

(2) विद्यालय का प्रभाव–मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव डालने वाले तत्वों में विद्यालय तथा उनसे संबंधित ये कारण भी उत्तरदायी है। जो इस प्रकार है–

(i) विद्यालय का वातावरण–विद्यालय के वातावरण का बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य पर भारी प्रभाव पड़ता है। यदि विद्यालय में छात्र सुरक्षा अनुभव नहीं करते हैं तो उनके मस्तिष्क में निरंतर

चिंता व भय बना रहता है। जिस विद्यालय में जाति–पाति का प्रश्न पाया जाता है वहाँ पर विभिन्न प्रकार के झगड़े पाये जाते हैं जो बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालते हैं।

(ii) अध्यापक का व्यवहार–अध्यापक का व्यक्तित्व बच्चों के व्यक्तित्व को निरंतर प्रभावित करता रहता है। यदि अध्यापक का व्यवहार पक्षपातपूर्ण है या वह सामान्य रूप से बच्चों के प्रति सहानुभूति नहीं रखता है या बच्चों को अत्यधिक शारीरिक दण्ड देता है या छोटी–छोटी गलतियों पर बुरा–भला कहता है, ऐसे में बच्चे भयभीत रहते हैं। यह निरंतर भय, मानसिक स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव डालते हैं।

(iii) अभिव्यक्ति के अवसर न देना–जिन विद्यालयों में छात्रों को विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता नहीं दी जाती है वहाँ पर छात्र भय के कारण अपने विचार व्यक्त करने की इच्छा का दमन करते हैं, जो उनके मानसिक स्वास्थ्य पर गलत प्रभाव डालता है।

प्रश्न 30. बाल–अपराध के कारण क्या हैं ? इसकी रोकथाम के उपाय भी समझाइये।

(छिदवाड़ा 2022)

उत्तर–बाल–अपराध एक निश्चित आयु से कम उम्र के बच्चों के ऐसे व्यवहार को कहा जाता है जिसे समाज स्वीकार नहीं करता तथा जो समाज कल्याण के लिए हानिकारक हो सकते हैं। बाल अपराध उन सामाजिक और अनैतिक व्यवहारों में बच्चों की भागीदारी को संदर्भित करता है जो वयस्कों द्वारा दंडनीय है।

गिलीन एवं गिलीन के अनुसार–"समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से एक अपराधी वह होता है जिसके कार्य को समूह द्वारा गिरा हुआ समझा जाता है तथा जो हानिकर होने के नाते निषिद्ध है।"

गुड के अनुसार–"कोई भी बालक, जिसका व्यवहार सामान्य सामाजिक व्यवहार से इतना भिन्न हो जाये कि उसे समाज विरोधी कहा जा सके, बाल अपराधी है।"

बाल अपराध के कारण–बाल अपराध के निम्न कारण हैं–

(1) परिवार–परिवार एक आधारभूत सामाजिक संस्था है जो सामाजिक नियंत्रण के लिए अत्यंत शक्तिशाली साधन भी है। परिवार की सामान्य परिस्थितियाँ यदि अपराध के विरुद्ध सुरक्षा कवच का कार्य करते हैं तो इसके विपरीत परिवार की असामान्य परिस्थितियाँ बालक के निर्माण में बाधक बनती हैं।

(2) विद्यालय–विद्यालय की शिक्षा का साहचर्य तथा प्रशिक्षण बालक के व्यक्तित्व पर जीवनपर्यन्त असर डालते हैं। बालक को अपराधी बनाने में विद्यालय का भी बड़ा योगदान है। विद्यालय में रुचिकर पाठ्यवस्तु न होने से बालक विद्यालय जाने से कतराता है और इधर–ऊधर घूमता है, चोरी, लड़ाई, झगड़ा आदि कार्यों में लिप्त हो जाता है।

(3) गलत संगति–गलत संगति बालक को अपराध की ओर ले जाती है। बालक गलत लोगों से संगति कर उनके प्रभाव में आकर अपराध की ओर अग्रसर हो जाते हैं।

(4) स्वस्थ मनोरंजन का अभाव–मनोरंजन के साधनों का अभाव या दूषित होना बाल अपराध को बढ़ावा देता है।

रोकथाम के उपाय–बाल अपराध को रोकने के निम्न उपाय हैं–

(1) परिवार में बालक की उचित देखभाल हो, बच्चे का सामाजीकरण सही तरीके से हो।

(2) परिवार में माता–पिता शिक्षित हो।

(3) बालक को शारीरिक और मानसिक विकास का उचित अवसर मिले।

(4) बच्चों को स्कूल में आपसी सहयोग की भावना विकसित करने पर जोर देना चाहिए।

(5) स्कूलों में ऐसा माहौल होना चाहिए जिससे बच्चे एक–दूसरे के गुणों को आत्मसात कर सकें।

(6) शिक्षकों को बच्चों में उन लक्षणों को पहचानने में सक्षम होना चाहिए जो उन्हें बाल अपराधी बनाते हैं।

(7) विद्यालय का वातावरण इतना रुचिकर एवं स्वस्थ बनाना चाहिए कि बच्चे विद्यालय से अनुपस्थित न रहें।

(8) स्वस्थ मनोरंजन साधनों में वृद्धि करनी चाहिए।

(9) बाल अपराधियों की गतिविधियों को उनके समान बच्चों को सामान्य और समायोजित व्यवहार में परिवर्तित करने का प्रयास करना चाहिए।

प्रश्न 31. बालकों की समाजीकरण प्रक्रिया को सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक भिन्नता किस प्रकार प्रभावित करती है ? स्पष्ट कीजिए। **(इंदौर मार्च 2023)**

उत्तर—बालकों की समाजीकरण की प्रक्रिया को सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक भिन्नता प्रभावित करती है। इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि बालकों की मित्रता जो कि समाजीकरण का आधार है, बच्चों के समूह में साधारण पसंद का विषय लगती है परन्तु इसमें सामाजिक मानदण्डों एवं स्तरीकरण की जटिल प्रक्रिया होती है। सामाजिक विकास का अर्थ है अन्य बच्चे से परस्पर क्रिया करते हुए अन्य से सामाजिक संबंधों का विकास करना है।

बच्चे का सामाजिक विकास उसके सामाजिक संदर्भ पर निर्भर होता है। जिसमें उसके माता-पिता, छोटे एवं समवर्गी बच्चे, पड़ोसी, अध्यापक, रिश्तेदार आदि सम्मिलित होते हैं। बच्चे के सामाजिक विकास में व्यक्ति का अंतःव्यक्तिगत संबंध उसकी अर्जित कुशलता, मूल्य एवं तरीके शामिल हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति समाज में समायोजन करता है।

बच्चों का समूह उदाहरणस्वरूप, विद्यालय में मध्यावकाश के समय या खेल के मैदान में आसानी से देखे जा सकते हैं। बच्चों के समूहों में कई समानताओं के साथ–साथ विषमतायें भी होती है परन्तु वे प्रकटरूप में नहीं होती।

यदि बच्चों के समूह का सामाजिक प्रबंधन करें तो निम्न समानतायें देखने को मिलती हैं-

वर्ग एवं जाति—आर्थिक वर्ग एक और क्षेत्र है, जो मित्रता समूह का निर्धारक है। यदि सामान्य तौर पर, बच्चों के मित्रता वर्ग का विश्लेषण करें तो समान आर्थिक वर्ग के मित्रों से ज्यादा निकटता मिलती है। बच्चों के परिवार की आय में समानता, अभिभावकों के व्यवसाय में समानता, अभिभावकों के शैक्षिक स्तरों में समानता पायी जाती है। यदि विभिन्न आर्थिक वर्ग के साथ मित्रता होती है तो उनकी मित्रता बड़ों के हस्तक्षेप या समय के साथ कम होती जाती है।

बच्चों के कपड़े, उनके समान, घर में बोली जाने वाली भाषा, परिवार की आर्थिक स्थिति को प्रदर्शित करते हैं। ये कारक परोक्ष रूप से बच्चों के सामाजिक विकास को प्रभावित करते हैं। आर्थिक वर्ग केवल विद्यार्थियों में ही नहीं वरन् अध्यापकों के साथ संबंध निर्माण को प्रभावित करता है।

सामाजिक वर्ग जाति से प्रभावित होते हैं। उन व्यवसायों को कम सामाजिक और आर्थिक मूल्य दिया गया जो जाति विशेष के हैं। इसने उत्पीड़ित जातियों की सामाजिक, आर्थिक गतिशीलता को अवरोधित किया और यह हमारे सभी सामाजिक संबंधों में स्पष्ट होता है। जाति आधारित भेद-भाव, खुले तौर पर नहीं होता परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से सभी जीवन क्षेत्रों में परिलक्षित होता है। यह मध्यान्ह भोजन, बैठक व्यवस्था, अध्यापक, अभिभावक सम्मेलन आदि अवसरों पर दिखाई देता है। जाति बच्चों के समाजीकरण का एक मजबूत पक्ष है। सभी अपनी जाति से जुड़ाव और विशिष्ट जाति के प्रति एक सोच रखते हैं जो हमारे अनुभवों में गहराई तक जुड़ी है।

विद्यालय की कल्पना एक ऐसे स्थान के रूप में की जानी चाहिए जहाँ ऐसे स्तरीकरण को तोड़ा जाये, एक ऐसी विद्यालय संस्कृति हो जो समतावादी विचारधारा को सुनिश्चित करे, जहाँ पाठ्यक्रम का अंतरण बच्चों में आदर्श समाज के लिए हो।

प्रश्न 32. सामाजिक व्यवहार के कोई पाँच प्रतिमानों का वर्णन कीजिए।

उत्तर–बच्चों द्वारा किए जाने वाले सामाजिक व्यवहार को विभिन्न रूपों में देखा जा सकता है। बच्चों की विभिन्न क्रियाएँ ही उनके व्यवहार को प्रदर्शित करती हैं। सामाजिक व्यवहार के प्रतिमानों को निम्नलिखित रूप से वर्णन किया जा सकता है–

(1) सन्तुलित व्यवहार (Balance Behaviour)–बच्चों द्वारा किये जाने वाला सन्तुलित व्यवहार सामाजिक व्यवहार की श्रेणी में आता है, क्योंकि सन्तुलन अवस्था का होना समाज के लिए अनिवार्य है, जिस समाज में असन्तुलन की स्थिति पायी जाती है। उस समाज को कल्याणकारी समाज नहीं माना जा सकता तथा सन्तुलन से परिपूर्ण समाज में समाज कल्याण की भावना निहित होती है। इस प्रकार सन्तुलित व्यवहार सामाजिक व्यवहार का श्रेष्ठ स्वरूप है।

(2) समाज की स्वीकृति (Permission of Society)–बच्चों द्वारा किया जाने वाला व्यवहार यदि समाज द्वारा स्वीकृत किया जाता है तो उसको सामाजिक व्यवहार माना जाता है। यदि एक बालक अपने देश की रक्षा के लिये बाल्यकाल से ही तत्पर रहता है तथा देश के विरूद्ध षड्यन्त्र करने वालों को हानि पहुँचाता है, तो उसका यह व्यवहार भी सामाजिक व्यवहार के अन्तर्गत आयेगा। अतः समाज की स्वीकृति युक्त व्यवहार करना सामाजिक व्यवहार का उत्कृष्ट रूप है।

(3) सामाजिक कल्याण सम्बन्धी व्यवहार (Social welfare related behaviour)–जिस व्यवहार में समाज कल्याण की भावना निहित होती है, उस व्यवहार को सामाजिक व्यवहार की श्रेणी में रखा जाता है। एक बालक अपने माता–पिता को सड़क निर्माण के कार्य में प्रतिदिन श्रमदान करते देखता है। इससे प्रेरित होकर स्वयं बालक भी समाज कल्याण हेतु विभिन्न कार्यों में सहयोग करने लगता है। इससे यह स्पष्ट होता है, कि सामाजिक कल्याण सम्बन्धी व्यवहार भी सामाजिक व्यवहार का उत्तम स्वरूप है।

(4) संस्कृति सम्बन्धी व्यवहार (Culture related behaviour)–बच्चों द्वारा संस्कृति के अनुरूप किये जाने वाले व्यवहार को सामाजिक व्यवहार माना जाता है। भारतीय संस्कृति में अतिथियों की सेवा करना पुनीत कर्त्तव्य माना जाता है। बालक द्वारा इस व्यवहार का अनुकरण करते हुए अपने घर–परिवार में आये अतिथियों की सेवा की जाती है, तो उसका यह व्यवहार सामाजिक व्यवहार की श्रेणी में आयेगा। संस्कृति के अनुरूप व्यवहार को सामाजिक व्यवहार का विकसित स्वरूप माना जाता है।

(5) सामाजिक मूल्यों के अनुरूप व्यवहार (Relevant behaviour of social values)–सामाजिक मूल्यों के अनुरूप बच्चों द्वारा किया गया व्यवहार सामाजिक व्यवहार की श्रेणी में आता है। सामाजिक मूल्यों के उत्थान हेतु ही समाज एवं विद्यालय द्वारा संयुक्त रूप से प्रयास किया जाता है। इन प्रयत्नों के परिणाम बालक के व्यवहार के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इसलिए सामाजिक मूल्यों के अनुरूप व्यवहार सामाजिक व्यवहार का श्रेष्ठ स्वरूप है।

प्रश्न 33. संस्कृति पर एक टिप्पणी लिखिए।

उत्तर–संस्कृति किसी समाज में गहराई तक व्याप्त गुणों का समग्र नाम है, जो उस समाज के सोचने, विचारने के कार्य से बना है। अंग्रेजी में संस्कृति के लिए 'कल्चर' शब्द प्रयोग किया जाता है जो लैटिन भाषा के 'फल्ट' या 'फल्टस' से लिया गया है, जिसका अर्थ है जोतना, विकसित करना या परिष्कृत करना और पूजा करना। संक्षेप में, किसी वस्तु को यहाँ तक संस्कारित और परिष्कृत करना कि इसका अंतिम उत्पाद हमारी प्रशंसा और सम्मान प्राप्त कर सके। यह ठीक उसी तरह है जैसे संस्कृत भाषा का शब्द 'संस्कृति'।

संस्कृति का शब्दार्थ है– उत्तम या सुधरी हुई स्थिति। मनुष्य स्वभावतः प्रगतिशील प्राणी है। यह बुद्धि के प्रयोग से अपने चारों ओर की प्राकृतिक परिस्थिति को निरन्तर सुधारता और उन्नत

करता रहता है। ऐसी प्रत्येक जीवन पद्धति, रीति–रिवाज, रहन–सहन, आचार–विचार नवीन अनुसन्धान और आविष्कार, जिससे मनुष्य पशुओं और जंगलियों के दर्जे से ऊँचा उठता है तथा सभ्य बनता है। सभ्यता संस्कृति का अंग है। सभ्यता से मनुष्य के भौतिक क्षेत्र की प्रगति सूचित होती है। मनुष्य केवल भौतिक परिस्थितियों में सुधार करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता। भौतिक उन्नति से शरीर की भूख मिट सकती है, किन्तु इसके बावजूद मन और आत्मा तो अतृप्त ही बने रहते हैं। इन्हें सन्तुष्ट करने के लिए मनुष्य अपना जो विकास और उन्नति करता है, उसे संस्कृति कहते हैं।

प्रश्न 34. सामाजीकरण की प्रक्रिया में आर्थिक भिन्नता के प्रभाव को स्पष्ट कीजिए।

(उज्जैन 2022; छतरपुर 22)

उत्तर–मानव एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य का सामाजिक बनना एक लम्बी प्रक्रिया है। बालक जन्म लेते ही समाज का सदस्य बन जाता है और अपनी लाई हुई जन्मजात शक्तियों को सामाजिक वातावरण में विकसित करके सामाजिक बनने का प्रयास करता है। बालक जब जन्म लेता है, उसमें सामाजिकता का कोई लक्षण नहीं दिखाई देता है परन्तु धीरे–धीरे वह सामाजिक वातावरण से प्रभावित होने लगता है और उसका सामाजीकरण होने लगता है। अतः हम कह सकते हैं कि वह प्रक्रिया जिसमें जैविक प्राणी में सामाजिक गुण आ जाते हैं और वह प्राणी एक सामाजिक प्राणी कहलाने लगता है सामाजीकरण कहलाता है।

(1) सोरोकिन के अनुसार–"सामाजीकरण सांस्कृतिक तथा वैचारिक कारकों के अन्तरीकरण की प्रक्रिया है।"

(2) वाटसन (Watson) के अनुसार–"सामाजीकरण एक सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है।"

सामाजीकरण एवं आर्थिक भिन्नताएँ–समाज में व्यक्तियों के आर्थिक स्तरों में भी भिन्नता पाई जाती है। उच्च तथा उन्नत आर्थिक स्थिति वाले परिवारों से संबंधित होने वाले बालक आत्म–गौरव और प्रतिष्ठा के साथ जीवन व्यतीत करते हुए उच्च स्तर के लोगों के सम्पर्क में आते हैं। उच्च आर्थिक स्तर के बालक आर्थिक स्तरीय सामाजिक गुणों को ग्रहण कर लेते हैं। इन बालकों को स्वतः ही सामाजिक प्रतिष्ठा भी उपलब्ध हो जाती है। परन्तु वे बालक जिनके परिवारों की आर्थिक स्थितियाँ हीन होती हैं, वे समाज में आवश्यक प्रतिष्ठा का उपभोग नहीं करते हैं। उनमें आत्महीनता का भाव आने से उनके सामाजीकरण की गति बहुत मन्द हो जाती है। यद्यपि कुछ हीन आर्थिक स्तर के बालक भी गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेते हैं, परंतु ऐसे उदाहरण बहुत अधिक नहीं है। समाज में जाति के समान ही वर्ग भेद भी पाया जाता है। जिस प्रकार समाज में उच्च जाति के लोगों की सामाजिक प्रतिष्ठा अधिक होती है, उसी प्रकार समाज में सुविधा भोगी आर्थिक रूप से उच्च वर्गों की भी सामाजिक स्थिति अच्छी मानी जाती है। उन्हें विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ भी प्राप्त होती हैं तथा वे विभिन्न लोगों के सम्पर्क में आते हैं। अच्छे विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करते हैं। विभिन्न समारोहों में जाते हैं तथा उनके सहपाठी भी उन्हीं के वर्ग के होते हैं। अधिगम की सुविधाओं तथा अन्तःक्रिया के विभिन्न सुअवसर प्राप्त होने के कारण उनकी सामाजीकरण की गति तेज होती है। अतः आर्थिक स्तर की भिन्नता के कारण बालक का सामाजीकरण भी भिन्न–भिन्न गतियों से होता है।

आर्थिक विकास को प्रभावित करने वाले कारक– आर्थिक विकास की प्रक्रिया एक बहुत ही जटिल परिघटना है और आर्थिक विकास को प्रभावित करने वाले कारक निम्न हैं–

(1) प्राकृतिक संसाधन–प्राकृतिक संसाधनों में भूमि, मिट्टी की गुणवत्ता, वन संपत्ति, खनिज व तेल संसाधन और अच्छी जलवायु आदि सम्मिलित हैं। प्राकृतिक संसाधनों की कमी आर्थिक तंगी का कारण बनती है।

(2) पूँजी निर्माण—पूँजी निर्माण की प्रक्रिया यह संकेत देती है कि, समुदाय अपनी समस्त वर्तमान उपभोग की वस्तुओं पर खर्च नहीं करती, किन्तु इसका एक भाग बचा लेता है और इसका प्रयोग पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन करने अथवा उन्हें प्राप्त करने में करता है, जो राष्ट्र की उत्पादन क्षमता में बहुत अधिक वृद्धि लाता है।

(3) तकनीकी उन्नति—आर्थिक संवृद्धि को प्रभावित करने के लिए तकनीकी उन्नति बहुत महत्वपूर्ण है। तकनीकी उन्नति, पुरानी विधियों में सुधार तथा उत्पादन की नई और बेहतर विधियों के अनुसंधान का संकेत देती है। कभी–कभी तकनीकी उन्नति का परिणाम उत्पादकता में वृद्धि होता है।

(4) उद्यमशीलता—उद्यमशीलता निवेश के लिए नए अवसरों का पता लगाने की योग्यता की ओर संकेत है। इससे जोखिम उठाने तथा नई और बढ़ती हुई व्यावसायिक इकाइयों में निवेश करने की इच्छा में वृद्धि होती है। बहुत से देश उद्यमशीलता की कमी के कारण आर्थिक रूप से कमजोर हैं इसलिए अल्पविकसित देशों में शिक्षा, नए अनुसंधान तथा वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास को प्रोत्साहन देकर, आधार बनाकर उद्यमशीलता को बढ़ावा देना अनिवार्य है।

(5) मानव संसाधन विकास—आर्थिक वृद्धि के स्तर के निर्धारण के लिए अच्छी गुणवत्ता वाली जनसंख्या का होना बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसलिए मानव पूँजी में, शैक्षिक, चिकित्सा संबंधी और ऐसी अन्य सामाजिक योजनाओं के रूप में निवेश बहुत अधिक वांछनीय है। मानव संसाधन विकास लोगों के ज्ञान, कौशल तथा उनकी उत्पादकता बढ़ाने की क्षमता में वृद्धि लाता है।

(6) जनसंख्या वृद्धि—जनसंख्या वृद्धि आर्थिक उन्नति में रुकावट लाती है। जनसंख्या में वृद्धि केवल एक अल्प जनसंख्या वाले देश में वांछनीय है, किन्तु भारत जैसे अधिक जनसंख्या वाले देश में यह वांछनीय नहीं है।

(7) सामाजिक लागतें—आर्थिक संवृद्धि का एक अन्य निर्धारक सामाजिक लागतों का प्रावधान है। जैसे–स्कूल, कॉलेज, तकनीकी संस्थाएँ, चिकित्सा महाविद्यालय, अस्पताल, सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाएँ हैं। ऐसी सुविधाएँ कार्यशील जनसंख्या को स्वस्थ, कुशल तथा उत्तरदायी बनाती हैं। ऐसे लोग अपने देश को आर्थिक रूप से आगे बढ़ा सकते हैं।

सामाजीकरण की विशेषताएँ–

(1) सामाजीकरण सीखने की प्रक्रिया है।
(2) सामाजीकरण एक निरंतर प्रक्रिया है।
(3) सामाजीकरण की प्रक्रिया सापेक्षिक होती है।
(4) सामाजीकरण में सांस्कृतिक तत्वों को आत्मसात किया जाता है।
(5) सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा संस्कृति का हस्तांतरण होता है।

प्रश्न 35. सामाजीकरण में सामाजिक अंतर पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर—बालक का सामाजीकरण इस बात पर निर्भर करता है कि वह सामाजिकता के आधार पर मान्य किस जाति से सम्बन्ध रखता है। हिन्दुओं में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालक सामाजिक मान्यता के आधार पर शूद्र वर्ग के बालकों से श्रेष्ठ माने जाते हैं। इस प्रकार उच्च वर्ग के बालकों में आत्मगौरव की भावना उत्पन्न होती है, तो निम्न वर्ण के बालकों में आत्महीनता का भाव जाग्रत होता है। इस भावना के परिणामस्वरूप शूद्र वर्ग के बालक दब्बू, आत्महीन और दयनीय बनकर जीवन व्यतीत करते हैं और उच्च वर्ग के बालक दबंग बनकर रहते हैं। कुछ जातियाँ बहुसंख्य होती है और कुछ अल्पसंख्यक। बहुसंख्यक जाति के बालक अपने बाहुल्य के कारण अपने को श्रेष्ठतर मानने का प्रयास करते हैं और अल्पसंख्यकों को अपने से हीन समझते हैं। परिणामस्वरूप इस सामाजिक भावना का प्रभाव अल्पसंख्यक पर भी पड़ता है और वे अपने का हीन समझने लगते हैं। कुछ जातियाँ अल्पसंख्यक होते हुए भी अपनी प्रतिष्ठा और मर्यादा को बनाये रखने के लिए आक्रामक बनकर

संघर्ष करने का भी प्रयास करती है और भारत में अल्पसंख्यक और अमेरिका के नीग्रो साम्प्रदायिक संघर्षों को छोड़ते देखे जाते हैं।

इस प्रकार बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक और उच्च वर्ग तथा निम्न वर्ग, उच्च जातियाँ तथा निम्न जातियाँ उच्च सामाजिक स्तर तथा निम्न सामाजिक स्तर के लोगों में सामाजिक असमानता पायी जाती है और इन भावों से प्रेरित होकर सामाजीकरण में असन्तुलन आ जाता है। समाज में व्याप्त कई भिन्नताएँ बालक के सामाजीकरण को प्रभावित करती है। समाज में बहुत सी संस्थाएँ तथा संगठन और अनुभव प्रदान करने वाले स्रोत भी होते हैं वे भी बच्चे के सामाजीकरण पर प्रभाव डालते हैं। पास–पड़ोंस का भी बालक के सामाजीकरण पर प्रभाव पड़ता है। जिन बालकों के साथ बालक खेलता है उनका व्यवहार तथा व्यक्तित्व बालक के सामाजीकरण को प्रभावित करता है। यही कारण है कि अच्छे पड़ोस की ओर ध्यान दिया जाता है।

समाज में कई प्रकार की धार्मिक संस्थाएँ है यह भी बच्चे के सामाजीकरण पर प्रभाव डालती है। गुरुद्वारे, चर्च, मन्दिर, मस्जिद आदि धार्मिक स्थल तथा उनमें चलने वाली धार्मिक तथा सामाजिक गतिविधियाँ बालक के दिल और दिमाग पर प्रारम्भ से ही बड़े ही शान्त रूप से गम्भीर तथा स्थायी प्रभाव छोड़ने की क्षमता रखते हैं और इस प्रकार उसके व्यवहार तथा व्यक्तित्व के निर्धारण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसके अतिरिक्त बालक के सामाजिक परिवेश में कई अन्य तरह की संस्थाएँ, समूह संगठन तथा साधन निहित होते हैं जो बालक के सामाजीकरण को प्रभावित करते हैं। कई प्रकार की सामाजिक संस्थाएँ, क्लब, मनोरंजन तथा संप्रेषण के साधन, साहित्य तथा उनमें चलने वाली धार्मिक तथा सामाजिक गतिविधियाँ बालक के दिल और दिमाग पर प्रारम्भ से ही शान्त रूप से गम्भीर तथा स्थायी प्रभाव डालती है।

प्रश्न 36. "सामाजीकरण का समावेशन में अनुप्रयोग हो सकता है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर–सभी के लिए शिक्षा के सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में शिक्षण व्यवस्था में विश्व स्तर पर भी समावेशन एक प्रमुख चुनौती है। समावेशी शिक्षा एक उपागम है जो सभी बच्चों, युवाओं और प्रौढ़ों की अधिगम आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास करती है।

समावेशन–प्रत्येक बच्चे के अधिकतम संभव सीमा तक कक्षा तथा विद्यालय में जहाँ वह जाता है, शिक्षण हेतु वचनबद्धता है। इसमें बच्चे के पास सहायक सेवाओं को ले जाना है तथा बच्चे को कक्षा में होने का लाभ मिले इसका प्रयास करना है।

समावेशन अशक्तता के क्षेत्र में हुए सामाजिक न्याय के आंदोलनों के परिणामस्वरूप विकसित हुआ जो इस बात पर बल देता है कि विद्यालयों को ऐसे वातावरण का विकास करना चाहिए जिसमें विशेष आवश्यकताओं वाले बच्चे, समुदाय के महत्वपूर्ण अंग के रूप में देखे जाये तथा उन्हें सक्षम व सकारात्मक योगदान करने के योग्य के रूप में स्वीकार किया जाये।

समावेशन का प्रारंभ अलगाव को रोकना है। यह वास्तविकता से जुड़ा है। हमारा समाज विविधतापूर्ण है। क्योंकि हम अलग–अलग पृष्ठभूमि से आते हैं, खान–पान अलग–अलग है। अलग–अलग प्रकार के परिवार है।

समावेशन का उद्देश्य लोगों की विभिन्न जीवन–शैलियों के बीच आदरभाव को बढ़ावा देना है। प्रत्येक संस्थान अपनी दार्शनिकता, पाठ्यचर्या और उसकी संरचना, उसमें आने वाले विभिन्न व्यक्तियों की जरूरतों के अनुसार होगी। इसमें मध्यम वर्ग के परिवेश में एक लड़की के रूप में बड़ा होना भी शामिल होगा।

समावेशी, शिक्षा संबंधी बाधाओं में माता–पिता का प्रतिरोध एक महत्वपूर्ण कारक है। विशिष्ट आवश्यकता वाले बच्चों के समावेशन में अन्य कारक जैसे–कक्षा का बड़ा आकार, अधिक पाठ्यक्रम व विषय–वस्तु, जागरूकता का अभाव, कठोर पाठ्यक्रम, समय–सारिणी है। सामान्य शिक्षकों में अशक्त व्यक्तियों के लिए बने प्रावधानों व नीतियाँ संबंधी अवरोध भी है, जिससे बच्चों के शिक्षण संबंधी नकारात्मक अभिवृत्ति परिलक्षित होती है।

विशिष्ट आवश्यकता वाले बच्चों के समावेशन के लिए आवश्यक है लचीला पाठ्यक्रम, कक्षा संगठन में बदलाव एवं सहायक सेवायें हैं रचनात्मक गतिविधियाँ जैसे–सहयोगात्मक अधिगम, समस्या समाधान, रोल प्ले, कक्षा परिचर्चा, माता–पिता का प्रशिक्षण, सकारात्मक साथी सहयोग व जुड़ाव शामिल है।

समावेशन में सामाजीकरण का अनुप्रयोग–(1) सामाजिक व शैक्षिक उद्देश्यों को साथ–साथ लाना, जिसमें न सिर्फ आयु व भिन्न मानसिक समावेशनाओं वाले बच्चे बल्कि विभिन्न सामाजिक, आर्थिक व विभिन्न अनुभव वाले बच्चों के साथ–साथ उनके परिवारों को भी बच्चों की शिक्षा में शामिल करना है।

(2) शिक्षकों को इस प्रकार से प्रशिक्षित करना कि वे विकासात्मक संदर्भ में व्यापक योग्यताओं और व्यवहारों को समझ सके। सामान्य बच्चों को विशेष आवश्यकता वाले बच्चों के प्रति संवेदनशील बनाना।

(3) विशेष आवश्यकता वाले बच्चों की आवश्यकता को समझना न कि दया या विशेष सुरक्षा देना।

(4) विशेष आवश्यकता वाले बच्चों से अंतः क्रिया उनके प्रति सहिष्णुता बिना किसी प्रतिस्पर्धा के सह–अस्तित्व के मूल्य को बढ़ाती है।

अतः कहा जा सकता है कि समावेशन का मूल सिद्धांत है कि सभी बच्चे साथ में सीखें, चाहे उनमे जाति, रंग, धर्म या अशक्तता की मात्रा या कठिनाइयाँ कैसी भी हों।

प्रश्न 37. सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विभिन्नताओं का समावेशन हेतु निहितार्थ का वर्णन कीजिए।

उत्तर–समावेशन से अभिप्राय समाज अथवा व्यक्ति के विभिन्न घटकों को एक साथ मिलाकर एक इकाई के रूप में निर्माण करना तथा उनके उद्देश्यों को पूर्ण करना। व्यक्ति के विभिन्न पहलुओं का एकीकरण उन्हें एक इकाई के रूप में पिरोना तथा उनके भावी उद्देश्यों को चरितार्थ करना ही समावेशन है। सामान्य अर्थ में समावेशन का अर्थ समाज के विभिन्न वर्गों को एक सूत्र में बाँधकर उनमें एकरूपता को स्थापित करना है। उनके विकास हेतु एक समान कल्याणकारी योजनाएँ, अवसर एवं शिक्षा को उपलब्ध करना ही समावेशन का पर्याय है। इसमें समाज के व्यक्तियों को एकीकरण के माध्यम से सामाजिक, मानसिक एवं सैद्धांतिक रूप में एक ही मंच पर लाया जाता है तथा एक समान उनके विकास हेतु प्रयत्न किया जाता है। उपरोक्त तथ्यों के अवलोकन से कहा जा सकता है कि समाज के विभिन्न वर्गों, पक्षों एवं पहलुओं को एक इकाई के रूप में संगठित कर उनका समान रूप से विकास हेतु किया गया प्रयास ही समावेशन है।

शिक्षा का सामाजिक समावेशन हेतु निहितार्थ–प्रत्येक समाज में शिक्षा, समाजीकरण, सामाजिक–आर्थिक विकास तथा सामाजिक नियंत्रण का सबसे बड़ा साधन है। शिक्षा चाहे जैसी हो अर्थात् इसका रूप चाहे औपचारिक हो, अनौपचारिक हो या निरौपचारिक। इसके द्वारा उन लक्ष्यों

को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है जिसे सामाजिक अन्तः क्रिया हेतु मूल्यवान समझा जाता है। इस तरह से हम यहाँ उन तत्वों का वर्णन करेंगे जो सामाजिक समावेशन हेतु शिक्षा की भूमिका के निहितार्थ को बताते हैं–

1. समाज के व्यक्तियों का बौद्धिक विकास–शिक्षा का एक प्रमुख कार्य व्यक्ति के अनुभवों तथा तार्किक योग्यता को बढ़ाकर उसका बौद्धिक विकास करना है। यही कारण है कि जिस समाज में जितनी अधिक शिक्षा होगी वहाँ पर समाज में व्याप्त रूढ़ियाँ, कुरीतियाँ, अंधविश्वास आदि का प्रभाव कम होता है, जो समाज शिक्षित होता है उसमें सामाजिक जागरूकता भी अन्य समाज की अपेक्षा पायी जाती है। इसलिए शिक्षा को जनतंत्र में बड़ी आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया जाता है।

2. सामाजिक नियंत्रण की व्यवस्था–प्रत्येक समाज का यह लक्ष्य होता है कि वह विभिन्न साधनों के द्वारा व्यक्ति तथा समाज में रहने वाले समूहों पर नियंत्रण करे। नियंत्रण में नकारात्मक साधन जहाँ दबाव, उत्पीड़न तथा दण्ड को महत्व देते हैं। वही शिक्षा व्यक्ति को विवेक देती है, जिससे वह परिस्थितियों के अनुसार व्यवहार करना सीख सकें तथा विपरीत परिस्थितियों को भी अनुकूल बना सकें। शिक्षा व्यक्ति के अंदर संतुलित विचारों को विकसित कर उसे अपने व्यवहारों पर नियंत्रण करना सिखाती है।

3. आर्थिक विकास में योगदान–शिक्षा एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी क्षमता तथा कार्य–कुशलता में वृद्धि करता है जिससे आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त वातावरण बनने लगता है। शिक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान से नए–नए आविष्कार होते हैं तथा व्यक्ति के व्यवहारों को प्रोत्साहन मिलता है जो उपयोगी होते देखा भी गया है कि शिक्षित समाज में आर्थिक विकास की प्रक्रिया तेजी से होती है।

4. नैतिक गुणों का विकास–शिक्षा का एक प्रमुख कार्य व्यक्ति में नैतिक गुणों जैसे– अनुशासन, बंधुत्व, सहयोग, प्रेम, पारस्परिक समायोजन तथा कर्त्तव्य की भावना का विकास करना है क्योंकि ये वे गुण हैं जो व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करके उसे आत्म–नियंत्रण की शक्ति देती है व इससे समाज का संगठन भी सुदृढ़ होने लगता है।

5. व्यक्ति का समाजीकरण–**'वोटामोर'** ने लिखा है कि शिक्षा बच्चे के प्रारंभिक समाजीकरण का सबसे महत्वपूर्ण साधन है। शिक्षा व्यवस्था नैतिक विचारों को स्पष्ट करके बच्चे का बौद्धिक विकास करती है जिसके कारण वह समाजीकरण का उपयोगी सदस्य बनता है। शिक्षा विवेक को विकसित करती है तथा स्पष्ट करती है कि उचित क्या है। तथा अनुचित क्या है। शिक्षा के द्वारा दी जाने वाली सांस्कृतिक सीख ही व्यक्ति के समाजीकरण का आधार है। शिक्षा ही व्यक्ति को अपने मूल्यों, नियमों, कानूनों द्वारा आवश्यकतानुसार से परिचित कराकर पारस्परिक सहयोग को प्रोत्साहन देती है।

6. संतुलित स्तरीकरण एवं वैज्ञानिक प्रगति का आधार–शिक्षा एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा समाज के प्रत्येक व्यक्ति की भूमिका का निर्धारण व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर होने लगता है। बिना शिक्षा के समाजीकरण स्तरीकरण का रूप परम्पराओं तथा धार्मिक विश्वासों पर होता है जिसमें अनेक प्रकार की असमानताओं को प्रोत्साहन मिलता है। विज्ञान के वर्तमान युग में शिक्षा के बिना विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। उच्च शिक्षा में वृद्धि होने से सभी क्षेत्रों में शोधकार्य को प्रोत्साहन मिला है जिसके फलस्वरूप उपयोगी आविष्कार होते हैं तथा सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है।

नवबोध

प्रकाशन की अन्य उत्कृष्ट पुस्तकें...

बी. एड. सरल अध्ययन

प्रथम सेमेस्टर

- पाठ्यक्रम विकास एवं विद्यालय
- बाल्यावस्था एवं विकास
- भारत में शिक्षा–स्थिति, समस्या एवं मुद्दे
- पाठ्यक्रम में भाषा (भाग-1)

द्वितीय सेमेस्टर

- पाठ्यक्रम में भाषा (भाग-2)
- अधिगम एवं शिक्षण
- सामाजिक विज्ञान शिक्षण
- गणित शिक्षण
- जीव विज्ञान शिक्षण
- रसायन शिक्षण
- वाणिज्य शिक्षण
- अर्थशास्त्र शिक्षण
- भौतिक विज्ञान
- Pedagogy of English Language
- हिन्दी शिक्षण
- इतिहास शिक्षण
- नागरिक शास्त्र शिक्षण
- भूगोल शिक्षण

तृतीय सेमेस्टर

- विद्यालय विषयों का शिक्षणशास्त्र, भाग-2

चतुर्थ सेमेस्टर

- शैक्षिक तकनीकी तथा सूचना एवं संप्रेषण तकनीकी
- लिंग, विद्यालय और समाज
- पर्यावरण शिक्षण
- समावेशी विद्यालय का सृजन
- स्वास्थ्य और शारीरिक शिक्षा
- विद्यालयों में निर्देशन एवं परामर्श
- क्रियात्मक अनुसंधान
- मूल्य शिक्षण
- स्वयं को समझना
- ICT को समझना
- भविष्यात्मक शिक्षण

नवबोध प्रकाशन

7, समता कॉलोनी, रायपुर (छ.ग.)

फोन : 0771-2533603, 4200905

ई-मेल : prakashan@navbodh.com

Customer Helpline : 7471145005 | fb.com/navbodh | www.navbodhprakashan.com